अर्थः—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्द स्वामी) रजःस्थान—भूमितलको छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करते थे, उससे मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वे प्रभु अन्तरमें, वैसे ही बाह्यमें, रजसे (अपनी) अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अन्तरंगमें वे रागादिक मलसे अस्पृष्ट थे और बाह्यमें धूलसे अस्पृष्ट थे।)

❀ ❀ ❀

जइ पउमणंदिणाहो सीमन्धरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

[दर्शनसार]

अर्थः—(महाविदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकर देव) श्री सीमंधर स्वामीसे प्राप्त किये हुए दिव्यज्ञानके द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्गको कैसे जानते?

❀ ❀ ❀

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानके विषयमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिये मैं आपको अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

प्रकाशकीय

आज ग्रन्थाधिराज श्री समयसार-प्रवचनको पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थाधिराज मोक्षमार्गकी प्रथम सीढ़ी है, इसके द्वारा तत्त्वलाभ करके अनेक भव्यात्मा मोक्ष-मार्गको प्राप्त कर चुके हैं, और आगामी प्राप्त करेंगे। अनेक आत्माओंको मोक्षमार्गमें लगानेके मूल कारणभूत इस ग्रन्थराजकी विस्तृत व्याख्याका प्रकाशन करनेका सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है यह मेरे बड़े सौभाग्यकी बात है।

इस ग्रन्थराजके विषयमें कुछ भी कहना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है। इस समयसारके स्मरण मात्रसे ही मुमुक्षु जीवोंके हृदयरूपी वीणाके तार आनन्दसे झनझनाने लगते हैं। इसका विस्तृत परिचय प्रस्तावनामें दिया हुआ है, इसलिये यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्वादशांगका निचोड़-स्वरूप मोक्षमार्गका प्रयोजनभूत तत्त्व इस समयसारमें कूट-कूटकर भरा गया है, एवं यह ग्रन्थराज भगवानकी साक्षात् दिव्यध्वनिसे सीधा संबन्धित होनेके कारण अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवका हमारे ऊपर महान उपकार है कि जिन्होंने महाविदेह क्षेत्र पधारकर १००८ श्री सीमन्धर भगवानके पादमूलमें आठ दिवस तक रहकर भगवानकी दिव्यध्वनिरूप अमृतका पेट भरकर साक्षात् पान किया, और भरतक्षेत्र पधारकर हम भव्य जीवोंके लिये उस अमृतको श्री समयसार, श्री प्रवचनसार श्री पञ्चास्ति-काय, श्री नियमसार, श्री अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थोंके रूपसे परोसा, जिसका पान कर अनेक जीव मोक्षमार्गमें लग रहे हैं एवम् भविष्यमें भी लगेंगे।

इस आवृत्तिका निवेदन

श्री समयसारजी शास्त्र पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामीके द्वारा दिये गये इन प्रवचनोंसे अनेक मुमुक्षुओंको इस अध्यात्म-शास्त्रका सूक्ष्म रहस्य सरलतापूर्वक समझनेमें तथा आत्महितकी साधनामें बहुत सहायता मिली है, अतः जैन समाजकी विशेष मांग होने पर यह आवृत्ति प्रसिद्ध करनेमें आई है।

वीर सं. २५०३
वैशाख शुक्ला-२

साहित्य प्रकाशन समिति
श्री दि. जैन स्वाध्यायमंदिर, ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

श्री वीतरागाय नमः

प्रस्तावना

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमोगणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

भरतक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें आजसे २४७४ वर्ष पूर्व जगत-पूज्य परम-भट्टारक भगवान श्री महावीर स्वामी मोक्षमार्गका प्रकाश करनेके लिये अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थोंका स्वरूप प्रगट कर रहे थे। उनके निर्वाणके उपरांत कालदोषसे क्रमशः अपार ज्ञानसिंधुका अधिकांश भाग तो विच्छेद हो गया, और अल्प तथापि वीजभूत ज्ञानका प्रवाह आचार्योंकी परंपरा द्वारा उत्तरोत्तर प्रवाहित होता रहा, जिसमेंसे आकाश-स्तम्भकी भाँति कितने ही आचार्योंने शास्त्र गूँथे। उन्हीं आचार्योंमेंसे एक भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे, जिन्होंने सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामीसे प्रवर्तित ज्ञानको गुरु-परंपरासे प्राप्त करके, उसमेंसे पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्रोंकी रचना की और संसार-नाशक श्रुतज्ञानको चिरजीवी बनाया।

सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसारके कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवतके प्रारम्भमें हो गये हैं, दिगम्बर जैन परम्परामें उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है। सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतमस्वामीके पश्चात् भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवका ही स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपनेको कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्पराका कहनेमें गौरव मानते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवके

शास्त्र साक्षात् गणधरदेवके वचनोंके बराबर ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। इनके पश्चात् होने वाले ग्रन्थकार आचार्य अपने कथनको सिद्ध करनेके लिये कुन्दकुन्दाचार्यदेवके शास्त्रोंका प्रमाण देते हैं, इसलिये यह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। वास्तवमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्य-देवने अपने परमागमोंमें तीर्थंकर देवोंके द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धान्तोंको सुरक्षित रखा है, और मोक्षमार्गको स्थापित किया है। विक्रम संवत् ९९० में विद्यमान श्री देवसेनाचार्य अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थमें कहते हैं कि—"विदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमन्धर स्वामीके समवसरणमें जाकर श्री पद्मनन्दिनाथने (कुन्दकुन्दाचार्यदेवने) स्वतः प्राप्त किये हुए ज्ञानके द्वारा बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्गको कैसे जानते?" एक दूसरा उल्लेख देखिये,, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यदेवको कलिकालसर्वज्ञ कहा गया है। 'पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंसे विभूषित, चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करनेकी जिनके ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेहमें जाकर सीमन्धर भगवानकी वन्दना की थी और उनके पाससे मिले हुए श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होंने भारतवर्षके भव्य जीवोंको प्रतिबोध दिया है ऐसे श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारकके उत्तराधिकारी रूप कलिकालसर्वज्ञ (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव) के रचे हुए इस षट्-प्राभृत ग्रन्थमें...सूरीश्वर श्री श्रुतसागरकी रची हुई मोक्षप्राभृतकी टीका समाप्त हुई।' इस प्रकार षट्प्राभृतकी श्री श्रुतसागरसूरि कृत टीकाके अन्तमें लिखा है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी महत्ताको दर्शाने वाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्यमें मिलते हैं, अनेक शिलालेख भी इसका प्रमाण देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सनातन जैन संप्रदायमें कलिकालसर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवका अपूर्व स्थान है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके रचे हुए अनेक शास्त्र हैं, जिनमेंसे कुछ इस समय भी विद्यमान हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेवके मुखसे प्रवाहित श्रुतामृतकी सरितामेंसे भरे हुए वे अमृतभाजन वर्तमानमें भी

अनेक आत्मार्थियोंको आत्मजीवन देते हैं। उनके समस्त शास्त्रोंमें श्रीसमयसार महा अलौकिक शास्त्र है। जगतके जीवों पर परम करुणा करके आचार्य भगवानने इस शास्त्रकी रचना की है, इसमें मोक्षमार्गका यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा ही कहा गया है। अनन्तकालसे परिभ्रमण करने वाले जीवोंको जो कुछ समझना शेष रह गया है वह इस परमागममें समझाया है। परम कृपालु आचार्य भगवान श्री समयसार शास्त्रके प्रारंभमें कहते हैं:—'काम-भोग-बन्धकी कथा सभीने सुनी है, परिचय एवं अनुभवन किया है, किन्तु मात्र परसे भिन्न एकत्वकी प्राप्ति ही दुर्लभ है। उस एकत्वकी—परसे भिन्न आत्माकी बात इस शास्त्रमें मैं निजविभव-से (आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभवसे) कहूँगा।' इस प्रतिज्ञा-के अनुसार समयसारमें आचार्यदेवने आत्माका एकत्व, परद्रव्यसे और परभावोंसे भिन्नत्वको समझाया है। आत्मस्वरूपकी यथार्थ प्रतीति कराना ही समयसारका मुख्य उद्देश्य है। उस उद्देश्यको पूर्ण करनेके लिये आचार्य भगवानने उसमें अनेक विषयोंका निरूपण किया है। आत्माका शुद्ध स्वभाव, जीव और पुद्गलकी निमित्त-नैमित्तिकता होने पर भी दोनोंका बिल्कुल स्वतंत्र परिणमन, नवतत्त्वों-का भूतार्थस्वरूप, ज्ञानीके राग-द्वेषका अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व, अज्ञानीके राग-द्वेषका कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सांख्यदर्शनकी ऐकान्तिकता, गुणस्थान-आरोहणमें भावकी और द्रव्यकी निमित्त-नैमित्तिकता, विकाररूप परिणमित होनेमें अज्ञानियोंका अपना ही दोष, मिथ्यात्व आदिकी जड़ता उसीप्रकार चेतनता, पुण्य-पाप दोनोंकी बन्धनस्वरूपता, मोक्षमार्ग-में चरणानुयोगका स्थान आदि अनेक विषयोंका प्ररूपण श्री समयसारजी-में किया गया है। इन सबका हेतु जीवोंको यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाना है। श्री समयसारजीकी महत्ताको देखकर उल्लसित होकर श्री जयसेन आचार्य कहते हैं कि 'जयवन्त हों वे पद्मनन्दि आचार्य अर्थात् कुन्दकुन्दा-चार्य जिन्होंने महान तत्त्वोंसे परिपूर्ण प्राभृतरूपी पर्वतको बुद्धिरूपी मस्तक पर उठाकर भव्य जीवोंको समर्पित किया है। वास्तवमें इस कालमें

श्री समयसार शास्त्र मुमुक्षु भव्यजीवोंका परम आधार है। ऐसे दुषमकालमें भी ऐसा अद्भुत, अनन्यशरणभूत शास्त्र तीर्थंकरदेवके मुखारविंदसे प्रगट हुआ अमृत विद्यमान है, यह अपना महान् सद्भाग्य है। निश्चय-व्यवहारकी संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्गकी ऐसी संकलनबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी भी ग्रंथमें नहीं है। यदि पूज्य श्री कानजीस्वामीके शब्दोंमें कहा जाय तो 'यह समयसार शास्त्र आगमोंका भी आगम है; लाखों शास्त्रोंका सार इसमें विद्यमान है, जैनशासनका यह स्तम्भ है, साधकोंके लिये कामधेनु कल्पवृक्ष है, चौदह पूर्वका रहस्य इसमें भरा हुआ है। इसकी प्रत्येक गाथा छठवें-सातवें गुणस्थानमें झूलते हुए महामुनिके आत्म-अनुभवसे प्रगट हुई है।"

श्री समयसारमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी प्राकृत गाथाओं पर आत्मख्याति नामक संस्कृत टीकाके लेखक (लगभग विक्रम संवत् की १० वीं शताब्दीमें हो गये) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव हैं। जिसप्रकार श्री समयसारके मूल-कर्ता अलौकिक पुरुष हैं, वैसे ही इसके टीकाकार भी महा समर्थ आचार्य हैं। आत्मख्यातिके समान टीका आज तक किसी भी जैनग्रन्थकी नहीं लिखी गई। उन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसारकी टीका भी लिखी है एवं तत्त्वसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे हैं। उनकी एकमात्र आत्मख्याति टीकाका स्वाध्याय करने वालेको ही उनकी अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखरविद्वत्ता, वस्तु-स्वरूपको न्यायसे सिद्ध करनेकी उनकी असाधारण शक्तिका भलीभांति अनुभव हो जाता है। संक्षेपमें ही गंभीर-गूढ़ रहस्योंको भर देने वाली उनकी अनोखी शक्ति विद्वानोंको आश्चर्यचकित कर देती है। उनकी यह दैवी टीका श्रुतकेवलीके वचनोंके समान है। जैसे मूल शास्त्रकर्ता-ने समयसारजी शास्त्रको समस्त निज-वैभवसे रचा है, वैसे ही टीकाकारने भी अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पूर्ण निज-वैभवसे टीकाकी रचना की है; टीकाके पढ़ने वालेको सहज ही ऐसा अनुभव हुए विना नहीं रहता। शासनमान्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस कलिकालमें

जगद्गुरु तीर्थंकरदेव जैसा काम किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने मानों जैसे वे भगवान कुन्दकुन्दके हृदयमें ही प्रवेश कर गये हों इसप्रकार उसके गम्भीर आशयको यथार्थरूपसे व्यक्त करके उनके गणधर जैसा काम किया है। आत्मख्यातिमें विद्यमान काव्य (कलश) अध्यात्मरस और आत्मानुभवकी तरङ्गोंसे परिपूर्ण हैं। श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ मुनिओं पर उन कलशांने गहरा प्रभाव जमाया है और आज भी वे तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मरससे परिपूर्ण कलश अध्यात्मरसिकोंकी हृदतंत्रीको झंकृत कर देते हैं। अध्यात्म कविके रूपमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवका स्थान जैन साहित्यमें अद्वितीय है।

श्री समयसारमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवने ४१५ गाथाओंकी रचना प्राकृतमें की है। उस पर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने आत्मख्याति नामक तथा श्री जयसेनाचार्यदेवने तात्पर्यवृत्ति नामकी संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। उन आचार्य भगवंतों द्वारा किये गये अनन्त उपकारके स्मरणमें उन्हें अत्यन्त भक्तिभावसे वन्दन करते हैं।

कुछ वर्ष पहले पंडित जयचन्द्रजीने मूल गाथाओंका और आत्मख्यातिका हिन्दीमें अनुवाद किया और स्वतः भी उसके कुछ भावार्थ लिखा। यह शास्त्र 'समयप्राभृत' के नामसे विक्रम संवत् १९६४ में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् पंडित मनोहरलालजीने उसको प्रचलित हिंदीभाषामें परिवर्तित किया और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा 'समयसार' के नामसे विक्रम संवत् १९७५ में प्रकाशित किया गया। इसप्रकार पण्डित जयचन्द्रजी, पण्डित मनोहरलालजीका और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डलका मुमुक्षु समाज पर उपकार है।

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित हिन्दी समयसारका अध्यात्मयोगी श्री कानजीस्वामी पर परम उपकार हुआ। विक्रम संवत् १९७८ में उन महात्माके करकमलोंमें यह परमपावन चिंतामणि आते ही उन कुशल जौहरीने इसे परम लिया। सर्वरीतिसे स्पष्ट देखने पर उनके हृदयमें परम उल्लास जागृत हुआ, आत्मभगवानने विस्मृत

श्री समयसार शास्त्र मुमुक्षु भव्यजीवोंका परम आधार है। ऐसे दुषमकालमें भी ऐसा अद्भुत, अनन्यशरणभूत शास्त्र तीर्थंकरदेवके मुखारविंदसे प्रगट हुआ अमृत विद्यमान है, यह अपना महान् सद्भाग्य है। निश्चय–व्यवहारकी संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्गकी ऐसी संकलनाबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी भी ग्रंथमें नहीं है। यदि पूज्य श्री कानजीस्वामीके शब्दोंमें कहा जाय तो 'यह समयसार शास्त्र आगमोंका भी आगम है; लाखों शास्त्रोंका सार इसमें विद्यमान है, जैनशासनका यह स्तम्भ है, साधकोंके लिये कामधेनु कल्पवृक्ष है, चौदह पूर्वका रहस्य इसमें भरा हुआ है। इसकी प्रत्येक गाथा छठवें-सातवें गुणस्थानमें झूलते हुए महामुनिके आत्म-अनुभवसे प्रगट हुई है।"

श्री समयसारमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी प्राकृत गाथाओं पर आत्मख्याति नामक संस्कृत टीकाके लेखक (लगभग विक्रम संवत् की १० वीं शताब्दीमें हो गये) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव हैं। जिसप्रकार श्री समयसारके मूल-कर्ता अलौकिक पुरुष हैं, वैसे ही इसके टीकाकार भी महा समर्थ आचार्य हैं। आत्मख्यातिके समान टीका आज तक किसी भी जैनग्रन्थकी नहीं लिखी गई। उन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसारकी टीका भी लिखी है एवं तत्त्वसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे हैं। उनकी एकमात्र आत्मख्याति टीकाका स्वाध्याय करने वालेको ही उनकी अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखरविद्वत्ता, वस्तु-स्वरूपको न्यायसे सिद्ध करनेकी उनकी असाधारण शक्तिका भलीभाँति अनुभव हो जाता है। संक्षेपमें ही गंभीर-गूढ़ रहस्योंको भर देने वाली उनकी अनोखी शक्ति विद्वानोंको आश्चर्यचकित कर देती है। उनकी यह दैवी टीका श्रुतकेवलीके वचनोंके समान है। जैसे मूल शास्त्रकर्ता-ने समयसारजी शास्त्रको समस्त निज-वैभवसे रचा है, वैसे ही टीकाकारने भी अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पूर्ण निज-वैभवसे टीकाकी रचना की है; टीकाके पढ़ने वालेको सहज ही ऐसा अनुभव हुए विना नहीं रहता। शासनमान्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस कलिकालमें

जगद्गुरु तीर्थंकरदेव जैसा काम किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने मानों जैसे वे भगवान कुन्दकुन्दके हृदयमें ही प्रवेश कर गये हों इस-प्रकार उसके गम्भीर आशयको यथार्थरूपसे व्यक्त करके उनके गणधर जैसा काम किया है। आत्मख्यातिमें विद्यमान काव्य (कलश) अध्यात्म-रस और आत्मानुभवकी तरङ्गोंसे परिपूर्ण हैं। श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ मुनिओं पर उन कलशोंने गहरा प्रभाव जमाया है और आज भी वे तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मरससे परिपूर्ण कलश अध्यात्मरसिकोंकी हृदतंत्रीको झंकृत कर देते हैं। अध्यात्म कविके रूपमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवका स्थान जैन साहित्यमें अद्वितीय है।

श्री समयसारमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवने ४१५ गाथाओंकी रचना प्राकृतमें की है। उस पर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने आत्मख्याति नामक तथा श्री जयसेनाचार्यदेवने तात्पर्यवृत्ति नामकी संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। उन आचार्य भगवंतों द्वारा किये गये अनन्त उपकारके स्मरणमें उन्हें अत्यन्त भक्तिभावसे वन्दन करते हैं।

कुछ वर्ष पहले पंडित जयचन्द्रजीने मूल गाथाओंका और आत्मख्यातिका हिन्दीमें अनुवाद किया और स्वतः भी उसके कुछ भावार्थ लिखा। यह शास्त्र 'समयप्राभृत' के नामसे विक्रम संवत् १९६४ में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् पंडित मनोहरलालजीने उसको प्रचलित हिंदीभाषामें परिवर्तित किया और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा 'समयसार' के नामसे विक्रम संवत् १९७५ में प्रकाशित किया गया। इसप्रकार पण्डित जयचन्द्रजी, पण्डित मनोहरलालजीका और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डलका मुमुक्षु समाज पर उपकार है।

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित हिन्दी समयसारका अध्यात्मयोगी श्री कानजीस्वामी पर परम उपकार हुआ। विक्रम संवत् १९७८ में उन महात्माके करकमलोंमें यह परमपावन चिंतामणि आते ही उन कुशल जौहरीने इसे परख लिया। सर्वरीतिसे स्पष्ट देखने पर उनके हृदयमें परम उल्लास जागृत हुआ, आत्मभगवानने विस्मृत

हुई अनन्त गुणगम्भीर निजशक्तिको संभाला और अनादिकालसे परके प्रति उत्साहपूर्वक दौड़ती हुई वृत्ति शिथिल हो गई; तथा परसम्बन्धसे छूटकर स्वरूपमें लीन हो गई। इसप्रकार ग्रन्थाधिराज समयसारकी असीम कृपासे बाल-ब्रह्मचारी श्री कानजीस्वामीने चैतन्यमूर्ति भगवान समयसारके दर्शन किये।

जैसे-जैसे वे समयसारमें गहराई तक उतरते गये वैसे ही वैसे उन्होंने देखा कि केवलज्ञानी पितासे उत्तराधिकारमें आई हुई अद्भुत निधियोंको उनके सुपुत्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने रुचिपूर्वक संग्रह करके रखा है। कई वर्ष तक श्री समयसारजीका गंभीरतापूर्वक गहरा मनन करनेके पश्चात् "किसी भी प्रकार जगतके जीव सर्वज्ञ पिताकी इस अमूल्य सम्पत्तिको समझ लें तथा अनादिकालीन दीनताका नाश कर दें!" ऐसी करुणाबुद्धि करके उन्होंने समयसारजी पर अपूर्व प्रवचनोंका प्रारम्भ किया और यथाशक्ति आत्मलाभ लिया। आज तक पूज्य श्री कानजीस्वामीने सात वार श्री समयसारजी पर प्रवचन पूर्ण किये हैं और इस समय भी सोनगढ़में आठवीं वार वह अमृतवर्षा हो रही है। संवत् १९९९-२००० की सालमें जिस समय उनकी राजकोटमें ९ महीनेकी स्थिति थी उस समय श्री समयसारके कितने ही अधिकारों पर उनके (छठवीं वार) प्रवचन हुए थे। इस समय श्री जैन स्वाध्याय-मन्दिर ट्रस्टको ऐसा लगा कि 'यह अमूल्य मुक्ताफल खिरे जाते हैं, यदि इन्हें झेल लिया जाये तो यह अनेक मुमुक्षुओंकी दरिद्रता दूर करके उन्हें स्वरूपलक्ष्मीकी प्राप्ति करा दें।' ऐसा विचार करके ट्रस्टने उन प्रवचनोंको पुस्तकाकार प्रकाशित करानेके हेतुसे उनको नोट कर लेने (लिख लेने) का प्रबन्ध किया था। उन्हीं लेखोंसे श्री समयसार प्रवचन गुजराती भाषामें पांच भागोंमें पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और उन्हींका हिन्दी अनुवाद करके श्री समयसार-प्रवचन प्रथम भाग (हिन्दी) को हमें मुमुक्षुओंके हाथमें देते हुए हर्ष हो रहा है।

इस अनुवादमें कोई न्यायविरुद्ध भाव न आ जाये इस बातका पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

जैसे श्री समयसार शास्त्रके मूल-कर्त्ता और टीकाकार अत्यन्त आत्मस्थित आचार्य भगवान थे वैसे ही उनके प्रवचनकार भी स्वरूपानुभवी, वीतरागके परम भक्त अनेक शास्त्रोंके पारगामी एवं आश्चर्यकारी प्रभावना-उदयके धारी युगप्रधान महापुरुष हैं। उनका यह समयसार-प्रवचन पढ़ते ही पाठकोंको उनके आत्म-अनुभव, गाढ़, अध्यात्म-प्रेम स्वरूपोन्मुख परिणति, वीतराग भक्तिके रंगमें रंगा हुआ उनका चित्त अगाध श्रुतज्ञान और परम कल्याणकारी वचनयोगका अनुभव हुए बिना नहीं रहता। उसका संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र दिया गया है, इसलिये उनके गुणोंके विषयमें यहाँ विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। उनके अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभावनाका उदय होनेके कारण गत चौदह वर्षोंमें समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, षट्खण्डागम पद्मनन्दिपंचविंशतिका तत्वार्थसार, इष्टोपदेश, पंचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अनुभवप्रकाश, आत्मसिद्धि शास्त्र, आत्मानुशासन इत्यादि शास्त्रों पर आगम रहस्य प्रकाशक स्वानुभव-मुद्रित अपूर्व प्रवचन करके सौराष्ट्रमें आत्मविद्याका अतिप्रबल आन्दोलन किया है। मात्र सौराष्ट्रमें ही नहीं, किन्तु धीरे-धीरे उनका पवित्र उपदेश पुस्तकों और 'आत्मधर्म' नामक मासिकपत्रके द्वारा प्रकाशित होनेके कारण समस्त भारतवर्षमें अध्यात्मविद्याका आन्दोलन वेगपूर्वक विस्तृत हो रहा है। इसप्रकार स्वभावसे सुगम तथापि गुरुगमकी लुप्तप्रायताके कारण और अनादि अज्ञानको लेकर अतिशय दुर्गम हो गये जिनागमके गम्भीर आशयको यथार्थरूपसे स्पष्ट प्रगट करके उन्होंने वीतराग-विज्ञानकी बुझती हुई ज्योतिको प्रज्वलित किया है। परम पवित्र जिनागम तो अपार निधानोंसे परिपूर्ण है; किन्तु उन्हें देखने की दृष्टि गुरुदेवके समागम और उनके करुणापूर्वक दिये हुए प्रवचन-अंजनके बिना हम अल्पबुद्धिओंको वह कैसे प्राप्त होता? पंचमकालमें चतुर्थकालकी झलक दिखाने वाले शासनप्रभावक गुरुदेव श्री कानजी

स्वामीने आगमके रहस्योंको खोलकर हमारे जैसे हजारों जीवों पर जो अपार करुणा की है उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता।

जिसप्रकार गुरुदेवका प्रत्यक्ष समागम अनेक जीवोंका अपार उपकार कर रहा है, उसीप्रकार उनके यह पवित्र प्रवचन भी वर्तमान और भविष्यकालके हजारों जीवोंको यथार्थ मोक्षमार्ग बतलानेके लिये उपकारी सिद्ध होंगे। इस दुषमकालमें जीव प्रायः बन्धमार्गको ही मोक्षमार्ग मानकर प्रवर्तन कर रहे हैं। जिस स्वावलम्बी पुरुषार्थके बिना–निश्चयनयके आश्रयके बिना मोक्षमार्गका प्रारम्भ भी नहीं होता उस पुरुपार्थकी जीवोंको गन्ध भी नहीं आई है, किन्तु मात्र परावलम्बी भावोंको–व्यवहाराभासके आश्रयको ही मोक्षमार्ग मानकर उसका सेवन कर रहे हैं। स्वावलम्बी पुरुपार्थका उपदेश देने वाले ज्ञानी पुरुषोंकी दुर्लभता है एवं समयसार परमागमका अभ्यास भी अति न्यून है। कदाचित् कोई-कोई जीव उसका अभ्यास करते भी हैं किन्तु गुरुगमके बिना उनके मात्र अक्षरज्ञान ही होता है। श्री समयसारके पुरुपार्थमूलक गहन सत्य मिथ्यात्वमूढ़ हीनवीर्य जीवोंको अनादि अपरिचित होनेके कारण, ज्ञानी पुरुपोंके प्रत्यक्ष समागमके बिना अथवा उनके द्वारा किये गये विस्तृत विवेचनोंके बिना समझना अत्यंत कठिन है। श्री समयसारजीकी प्राथमिक भूमिकाकी बातोंको ही सत्वहीन जीव उच्चभूमिकाकी कल्पित कर लेते हैं, चतुर्थ गुणस्थानके भावोंको तेरहवें गुणस्थानका मान लेते हैं तथा निरालम्बी (स्वावलम्बी) पुरुपार्थ तो कथनमात्रकी ही वस्तु है, इसप्रकार उसकी अपेक्षा करके सालम्बी (परावलम्बी) भावोंके प्रति जो आग्रह है उसे नहीं छोड़ते। ऐसी करुणाजनक परिस्थितिमें जब कि सम्यक्-उपदेष्टाओंकी अधिकांश न्यूनताके कारण मोक्षमार्गका प्रायः लोप हो गया है तब युगप्रधान सत्पुरुप श्री कानजीस्वामीने श्री समयसारजीके विस्तृत विवेचनात्मक प्रवचनोंके द्वारा जिनागमोंका मर्म खोलकर मोक्षमार्गको अनावृत करके वीतराग दर्शनका पुनरुद्धार किया है, मोक्षके महामन्त्र समान

समयसारजीकी प्रत्येक गाथाको पूर्णतया शोधकर इन संक्षिप्त सूत्रोंके विराट अर्थको प्रवचनरूपसे प्रगट किया है। सभीने जिनका अनुभव किया हो ऐसे घरेलू प्रसंगोंके अनेक उदाहरणों द्वारा, अतिशय प्रभावक तथापि सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा कुन्दकुन्द भगवानके परमभक्त श्री कानजीस्वामीने समयसारजीके अत्यन्त अर्थ-गम्भीर सूक्ष्म सिद्धान्तोंको अतिशय स्पष्ट और सरल बनाया है। जीवके कैसे भाव रहें तब जीव-पुद्गलका स्वतन्त्र परिणमन, तथा कैसे भाव रहें तब नव तत्त्वोंका भूतार्थ स्वरूप समझमें आया कहलाता है। कैसे-कैसे भाव रहें तब निरावलम्बी पुरुषार्थका आदर, सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, वीर्यादिककी प्राप्ति हुई कहलाती है —आदि विषयोंका मनुष्यके जीवनमें आने वाले सैकड़ों प्रसंगोंके प्रमाण देकर ऐसा स्पष्टीकरण किया है कि मुमुक्षुओंको उन-उन विषयोंका स्पष्ट सूक्ष्म ज्ञान होकर अपूर्व गम्भीर अर्थ दृष्टिगोचर हो और वे बन्धमार्गमें मोक्षमार्गकी कल्पनाको छोड़कर यथार्थ मोक्षमार्गको समझकर सम्यक्-पुरुषार्थमें लीन हो जायें। इसप्रकार श्री समयसारजीके मोक्ष-दायक भावोंको अतिशय मधुर, नित्य-नवीन, वैविध्यपूर्ण शैली द्वारा प्रभावक भाषामें अत्यन्त स्पष्टसे समझाकर जगतका अपार उपकार किया है। समयसारमें भरे हुए अनमोल तत्त्व-रत्नोंका मूल्य ज्ञानिओंके हृदयमें छुपा रहा था उसे उन्होंने जगतको बतलाया है।

किसी परम मंगलयोगमें दिव्यध्वनिके नवनीतस्वरूप श्री समयसार परमागमकी रचना हुई। इस रचनाके पश्चात् एकहजार वर्षमें जगतके महाभाग्योदयसे श्री समयसारजीके गहन तत्त्वोंको विकसित करने वाली भगवती आत्मख्यातिकी रचना हुई और उनके उपरांत एक हजार वर्ष पश्चात् जगतमें पुनः महापुण्योदयसे मन्दबुद्धियोंको भी समयसारके मोक्षदायक तत्त्व ग्रहण करने वाले परम कल्याणकारी समयसार-प्रवचन हुए। जीवोंकी बुद्धि क्रमशः मन्द होती जा रही है

तथापि पंचमकालके अन्त तक स्वानुभूतिका मार्ग अविच्छिन्न रहना है, इसीलिये स्वानुभूतिके उत्कृष्ट निमित्तभूत श्री समयसारजीके गम्भीर आशय विशेष-विशेष स्पष्ट होनेके लिये परमपवित्र योग बनते रहते हैं। अन्तर्बाह्य परमपवित्र योगोंमें प्रगट हुए जगतके तीन महादीपक श्री समयसार, श्री आत्मख्याति और श्री समयसार-प्रवचन सदा जयवन्त रहें! और स्वानुभूतिके पंथको प्रकाशित करें।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूतिके पन्थको अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु साथ ही मुमुक्षु जीवोंके हृदयमें स्वानुभवकी रुचि और पुरुषार्थ जाग्रत करके अंशतः सत्पुरुषके प्रत्यक्ष उपदेश जैसा ही चमत्कारिक कार्य करते हैं। प्रवचनोंकी वाणी इतनी सहज, भावार्द्र, सजीव है कि चैतन्यमूर्ति पूज्य श्री कानजीस्वामीके चैतन्यभाव ही मूर्तिमान होकर वाणी-प्रवाहरूप वह रहे हों। ऐसी अत्यन्त भाववाहिनी अन्तर-वेदनको उग्ररूपसे व्यक्त करती, शुद्धात्माके प्रति अपार प्रेमसे उभराती, हृदयस्पर्शी वाणी सुपात्र पाठकके हृदयको हर्षित कर देती है और उसकी विपरीत रुचिको क्षीण करके शुद्धात्म-रुचि जागृत करती है। प्रवचनोंके प्रत्येक पृष्ठमें शुद्धात्म महिमाका अत्यन्त भक्तिमय वातावरण गुंजित हो रहा है, और प्रत्येक शब्दमेंसे मधुर अनुभव-रस झर रहा है। इस शुद्धात्म भक्तिरससे और अनुभवरससे मुमुक्षुका हृदय भीग जाता है और वह शुद्धात्माकी लयमें मग्न हो जाता है, शुद्धात्माके अतिरिक्त समस्त भाव उसे तुच्छ भासित होते हैं और पुरुषार्थ उभरने लगता है। ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकाकार वाणीमें क्वचित् ही देखनेमें आती है।

इसप्रकार दिव्य तत्त्वज्ञानके गहन रहस्य अमृतझरती वाणी द्वारा समझाकर और साथ ही शुद्धात्म रुचिको जाग्रत करके पुरुषार्थका आह्वान, प्रत्यक्ष सत्समागमकी झांकी दिखलाने वाले यह प्रवचन जैन-साहित्यमें अनुपम हैं। जो मुमुक्षु प्रत्यक्ष सत्पुरुषसे विलग हैं एवं

जिन्हें उनकी निरन्तर संगति दुष्प्राप्य है ऐसे मुमुक्षुओंको यह प्रवचन अनन्य–आधारभूत हैं। निरावलम्बी पुरुषार्थको समझाना और उसके लिये प्रेरणा देना ही इस शास्त्रका प्रधान उद्देश्य होने पर भी उनका सर्वांग स्पष्टीकरण करते हुए समस्त शास्त्रोंके सर्व प्रयोजनभूत तत्त्वोंका स्पष्टीकरण भी इन प्रवचनोंमें आगया है, जैसे श्रुतामृतका परम आह्लाद-जनक महासागर इनमें हिलोरें ले रहा हो। यह प्रवचन-ग्रन्थ हजारों प्रश्नोंके सुलझानेके लिये महाकोष है। शुद्धात्माकी रुचि उत्पन्न करके, परके प्रति जो रुचि है उसे नष्ट करनेकी परम औषधि है। स्वानुभूतिका सुगम पथ हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके समस्त आत्मार्थिओंके लिये यह अत्यन्त उपकारी है। परम पूज्य कानजीस्वामीने इन अमृतसागरके समान प्रवचनोंकी भेंट देकर भारतवर्षके मुमुक्षुओंको उपकृत किया है।

स्वरूप-सुधाकी प्राप्तिके इच्छुक जीवोंको इन परम पवित्र प्रवचनोंका वारम्वार मनन करना योग्य है। संसार-विषवृक्षको नष्ट करनेके लिये यह अमोघ शस्त्र हैं। इस अल्पायुषी मनुष्य भवमें जीवका सर्व-प्रथम यदि कोई कर्तव्य हो तो वह शुद्धात्माका बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादिके करानेमें यह प्रवचन परम निमित्तभूत है। हे मुमुक्षुओ! अतिशय उल्लासपूर्वक इनका अभ्यास करके उग्र पुरुषार्थसे इसमें भरे हुए भावोंको भलीभाँति हृदयमें उतारकर, शुद्धात्मा-की रुचि, प्रतीति और अनुभव करके शाश्वत परमानन्दको प्राप्त करो!

अगहन वदी १२
वीर संवत २४७५

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख,
श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

अनुक्रमणिका

॥ नमः समयसाराय ॥

समयसार प्रवचन

प्रथम भाग

॥ मंगलाचरण ॥

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥

श्री पंच परमेष्ठिको नमस्कार !

प्रथम 'ॐ' शब्द है। जब आत्मा सर्वज्ञ वीतराग भगवान अरहंत परमात्मा होते हैं, तब पूर्वबद्ध तीर्थंकर नामकर्म प्रकृतिके पुण्यप्रारब्धके कारण दिव्यवाणीका योग होनेसे ओठ बन्द होने पर भी आत्माके सर्व प्रदेशोंसे ॐकार एकाक्षरी (अनक्षरी) दिव्यवाणी खिरती है। (इसे वचन-ईश्वरी अर्थात् वागेश्वरी कहा जाता है, वह शब्दब्रह्मरूप है) अरहन्त भगवान सर्वथा अकषाय शुद्ध भावसे परिणमित हैं, इसलिए उनका निमित्त होनेसे वाणी भी एकाक्षरी हो जाती है। और वह वाणी ॐकार रूपमें बिना ही इच्छाके खिरती है। इस प्रकारकी ॐकार दिव्यध्वनि-सरस्वतीके रूपमें तीर्थंकरकी वाणी सहज भावसे खिरती है।

+ॐकारमय ध्वनि—तीर्थंकर भगवानकी अखण्ड देशनाको सुननेवाला जीव अंतरंगसे अपूर्व भावसे उल्लसित होकर स्वाभाविक 'हाँ' कहे कि मैं पूर्ण कृतकृत्य अविनाशी शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसा—इतना ही हूँ। ऐसी सहज 'हाँ' कहनेवाला सुयोग्य जीव अविनाशी मंगल पर्यायको प्राप्त करता है। जो जीव निज स्वभावभावसे, नित्य मंगल पर्यायसे परिणमित हुआ है, वह भव्य जीव नैगमनयसे परमार्थका आश्रयवाला हो चुका है। पूर्णताके लक्ष्यसे पुरुषार्थ करके वह अल्प कालमें ही उस पूर्ण पवित्र परमात्मदशाको प्रगट कर लेता है, जो शक्ति रूपमें विद्यमान है।

यहाँ ॐकारसे शुद्ध स्वरूपको नमस्कार किया है। उत्कृष्ट आत्मस्वभाव पूर्ण वीतराग स्वभावमय शुद्ध सिद्धदशा जिसे प्रगट हो गई है, उसे पहचान कर नमस्कार करना सो व्यवहार भावस्तुति है। उससे हटकर स्वरूपमें लीन होना सो निश्चय भावस्तुति है। परमात्माको नमस्कार करनेवाला अपने भावसे अपने इष्ट स्वभावको नमस्कार करता है, वह उसीकी ओर झुक जाता है।

स्वाध्याय प्रारंभ करनेसे पूर्व भगवानकी दिव्यवाणीके नमस्कारके रूपमें मंगलाचरण किया है।

स्वाध्यायका अर्थ है—स्वके सन्मुख जाना; स्वभावके अभ्यासमें ही परिणमित होना। अधि—सन्मुख; आय—युक्त होना। स्वरूपमें युक्त होना सो स्वाध्याय है। जो पापको गाले और पवित्रताको प्राप्त करावे, सो मंगल है। पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ स्वभाव प्रगट है, ऐसे त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी अखण्ड देशनाको जो भव्य जीव अंतरंगसे उतार-कर, अरिहन्तके द्रव्य—गुण—पर्यायको निश्चयसे जानकर, 'मैं भी

+ अ = अरिहन्त, अ = अशरीरी, सिद्धपरमात्मा, आ = आचार्य, उ = उपाध्याय, म = मुनि अ + अ + आ + उ + म = ॐ (ओम्)

इस महामन्त्रमें पंचपरमेष्ठी पद, सर्व शास्त्रोंका सार, सर्वगुणसम्पन्न शुद्ध आत्मस्वरूपका भाव अन्तर्हित है।

ऐसा ही हूँ' इस प्रकार पूर्ण स्वाधीन स्वभावकी दृष्टिसे अभेदको लक्ष्य करता है, वह स्वयं अविनाशी मांगलिक होकर पुण्य-पाप उपाधिमय सर्व कर्मोंका नाश करता है।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥ २ ॥

भावार्थः—ओम्कार वाचक है, उसका वाच्य भाव ओम्कार शुद्ध आत्मा है। उस शुद्ध आत्मस्वरूपकी पहिचान और रुचि परमात्म पद-रूप पूर्ण पवित्र इष्टको देनेवाली है। योगी पुरुष उस शुद्धात्माका नित्य ध्यान करते हैं और उसके फलस्वरूप मोक्षको प्राप्त करते हैं। यदि किसी अंशमें दशा अपूर्ण हो तो स्वर्ग प्राप्त करके, फिर मनुष्य होकर, मोक्षको प्राप्त करते हैं। ऐसे 'ओम्' को वारम्वार नमस्कार हो!

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥

भावार्थः—अविरल संबंधरूप शब्दमेघ ऐसी एकाक्षरी 'ॐकार' दिव्यध्वनिरूपी दिव्यधारारूपी तीर्थंकर भगवानकी अखण्ड देशना, सद्बोध सरस्वती उस सम्यग्ज्ञानको कहनेवाली है। वह कैसी है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे मेघ-वर्षा पृथ्वीके मैलको धो डालती है, उसी प्रकार वीतराग भगवानकी दिव्यध्वनि रूपी सरस्वती अखण्ड ज्ञानधाराके द्वारा ग्रहण करके भव्य जीवोंने दोष-दुःखरूप मल-मैल-पापको धो डाला है; अशुद्ध परिणतिका नाश कर दिया है, जिसके तीर्थकी मुनीश्वरों द्वारा उपासना की गई है। ऐसी सरस्वती हमारे दोषोंको हरो।

दूसरे मंगलमें श्री गुरुदेवको नमस्कार किया है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३ ॥

भावार्थः—जिन्होंने अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें अन्ध बने हुओं की आखोंको ज्ञानाञ्जन रूपी शलाकासे खोल दिया है उन श्री गुरुदेवको नमस्कार करता हूं।

वे श्री गुरुदेव स्वरूपभ्रांति, राग-द्वेष और मोहका नाश करके शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथा सत्पुण्यके देनेवाले हैं। ज्ञानीका वचन सुयोग्य जीवको प्रतिबोध प्राप्त कराता है। उसकी निर्दोष वाणीको सावधान होकर श्रवण करो और मोहका नाश करके स्वरूपमें सावधान रहो तथा नित्य स्वाध्याय करो।

शुद्ध साध्यकी यथार्थ निश्चयरूप शुद्ध तत्त्वदृष्टिके द्वारा असंग, निर्मल, ज्ञायकस्वभावको जानकर उसमें स्थिर होना ही इस परमागमका सार है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत मंगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥

अर्थः—समयसार = शुद्ध आत्मा सर्व पदार्थोंमें साररूप है। सार = द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित है। ऐसे परमार्थस्वरूप शुद्ध आत्माको नमस्कार हो। शुद्ध स्वरूपको पहचानकर भावसे नमस्कार करके अंतःस्वरूपमें झुककर शुद्ध निर्मल स्वरूपका आदर करता हूं।

द्रव्यकर्म = रजकण, सूक्ष्म धूल, ज्ञानावरणादिक आठ कर्म। यह जड़ रूपी कर्मप्रकृति है।

भावकर्म = राग-द्वेष विकाररूप विभावादिक शक्तिका परिणमन; द्रव्यकर्मका निमित्त प्राप्त करके जीवमें विकार होता है, वह अशुद्ध उपादानसे आश्रित है, किन्तु स्वभावमें नहीं है।

भाव = अवस्था; परिणाम। रागरूप कार्य चिद्विकार है; यह भाव शुद्धरूप नहीं है—क्षणिक विकारी भाव है। कर्म = कार्य।

विभावरूप = शुभाशुभ कर्मभावके रूपमें अशुद्ध–विकारी अवस्था।

नोकर्म = शरीर, इन्द्रिय इत्यादि स्थूल पुद्गल पिण्ड।

भावाय = सत्‌रूप; अस्तिरूप, अविनाशी वस्तु। जो 'है' वह पर निमित्त रहित, परके आधारसे रहित त्रैकालिक, सहजस्वभावरूप, स्वाधीन पदार्थ है, परसे असंयोगी वस्तु है। उसे सत् अर्थात् त्रिकाली स्थिर रहने वाला शुद्ध पदार्थ कहा गया है। उसका आदि-अन्त नहीं है, वह स्वतंत्र शुद्ध है। जो 'है' उसे नामरूप संज्ञाके द्वारा गुण–गुणी अभेद स्वतंत्र पदार्थका लक्ष्य करके (वाचक शब्दसे उसके वाच्य—पदार्थको) ज्ञानने जाना है। त्रैकालिक अखण्ड ज्ञायकस्वरूप असंग निर्मल स्वभाव है। उसकी ज्ञानके द्वारा पहचान करके, परसे पृथक् सम्यग्ज्ञानके द्वारा समझकर उसे नमस्कार करता हूँ।

पदार्थ किसी अपेक्षासे भावरूप है और किसी अपेक्षासे अभावरूप है। वह इस प्रकार है कि आत्मा अपनेपनसे भावरूप है, स्वद्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्वकाल, स्वभावपनसे है; और परकी अपेक्षासे नहीं है; अतः उस अपेक्षासे अभावरूप है।

स्वाधीनपनसे भावरूप होना अर्थात् परिणमन करना। साधक भावमें आंशिक निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, वह भावरूप है और पूर्ण नहीं खुली है, उतने अंशमें अभावरूप है। नित्य द्रव्यस्वभावसे भावरूप है।

(द्रव्य = वस्तु) क्षणवर्ती पर्यायका व्यय होना सो अभावरूप है। (पर्याय = अवस्था) 'भावाय' शुद्ध सत्तास्वरूप शाश्वत वस्तु है। मैं सहज चिदानंद त्रिकाल ज्ञायक हूँ, ऐसे असली स्वभावको भूलकर मैं रागी–द्वेषी हूँ, क्षणिक कषाय वेगकी वृत्तियां ठीक हैं, पुण्यादिक देहादिमें सुखबुद्धिके द्वारा ठीक रहूँ, स्थिर रहूँ; ऐसी बहिरात्म दृष्टिवाले अपने स्वाधीन एकत्व-विभक्त भावका अस्वीकार करते हैं, इसलिए वे नास्तिक हैं। जब आस्तिक्य गुणवाला स्वाधीन भावसे अविनाशी सहज स्वभावकी 'हां' कहता है, पूर्ण कृतकृत्य स्वभावको अपने अनुभवसे निश्चयके

भावार्थः—जिन्होंने अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें अन्ध बने हुओं की आखोंको ज्ञानाञ्जन रूपी शलाकासे खोल दिया है उन श्री गुरुदेवको नमस्कार करता हूँ।

वे श्री गुरुदेव स्वरूपभ्रांति, राग-द्वेष और मोहका नाश करके शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथा सत्पुण्यके देनेवाले हैं। ज्ञानीका वचन सुयोग्य जीवको प्रतिबोध प्राप्त कराता है। उसकी निर्दोष वाणीको सावधान होकर श्रवण करो और मोहका नाश करके स्वरूपमें सावधान रहो तथा नित्य स्वाध्याय करो।

शुद्ध साध्यकी यथार्थ निश्चयरूप शुद्ध तत्त्वदृष्टिके द्वारा असंग, निर्मल, ज्ञायकस्वभावको जानकर उसमें स्थिर होना ही इस परमागमका सार है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत मंगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥

अर्थः—समयसार = शुद्ध आत्मा सर्व पदार्थोंमें साररूप है। सार = द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित है। ऐसे परमार्थस्वरूप शुद्ध आत्माको नमस्कार हो। शुद्ध स्वरूपको पहचानकर भावसे नमस्कार करके अंतःस्वरूपमें झुककर शुद्ध निर्मल स्वरूपका आदर करता हूँ।

द्रव्यकर्म = रजकण, सूक्ष्म धूल, ज्ञानावरणादिक आठ कर्म। यह जड़ रूपी कर्मप्रकृति है।

भावकर्म = राग-द्वेष विकाररूप विभावादिक शक्तिका परिणमन; द्रव्यकर्मका निमित्त प्राप्त करके जीवमें विकार होता है, वह अशुद्ध उपादानके आश्रित है, किन्तु स्वभावमें नहीं है।

भाव = अवस्था; परिणाम। रागरूप कार्य चिद्विकार है; यह भाव मूलरूप नहीं है-क्षणिक विकारी भाव है। कर्म = कार्य।

विभावरूप = शुभाशुभ कर्मभावके रूपमें अशुद्ध–विकारी अवस्था।

नोकर्म = शरीर, इन्द्रिय इत्यादि स्थूल पुद्गल पिण्ड।

भावाय = सत्रूप; अस्तिरूप, अविनाशी वस्तु। जो 'है' वह पर निमित्त रहित, परके आधारसे रहित त्रैकालिक, सहजस्वभावरूप, स्वाधीन पदार्थ है, परसे असंयोगी वस्तु है। उसे सत् अर्थात् त्रिकाली स्थिर रहने वाला शुद्ध पदार्थ कहा गया है। उसका आदि-अन्त नहीं है, वह स्वतंत्र शुद्ध है। जो 'है' उसे नामरूप संज्ञाके द्वारा गुण–गुणी अभेद स्वतंत्र पदार्थका लक्ष्य करके (वाचक शब्दसे उसके वाच्य—पदार्थको) ज्ञानने जाना है। त्रैकालिक अखण्ड ज्ञायकस्वरूप असंग निर्मल स्वभाव है। उसकी ज्ञानके द्वारा पहचान करके, परसे पृथक् सम्यग्ज्ञानके द्वारा समझकर उसे नमस्कार करता हूं।

पदार्थ किसी अपेक्षासे भावरूप है और किसी अपेक्षासे अभावरूप है। वह इस प्रकार है कि आत्मा अपनेपनसे भावरूप है, स्वद्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्वकाल, स्वभावपनसे है; और परकी अपेक्षासे नहीं है; अतः उस अपेक्षासे अभावरूप है।

स्वाधीनपनसे भावरूप होना अर्थात् परिणमन करना। साधक भावमें आंशिक निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, वह भावरूप है और पूर्ण नहीं खुली है, उतने अंशमें अभावरूप है। नित्य द्रव्यस्वभावसे भावरूप है।

(द्रव्य = वस्तु) क्षणवर्ती पर्यायका व्यय होना सो अभावरूप है। (पर्याय = अवस्था) 'भावाय' शुद्ध सत्तास्वरूप शाश्वत वस्तु है। मैं सहज चिदानंद त्रिकाल ज्ञायक हूं, ऐसे असली स्वभावको भूलकर मैं रागी–द्वेषी हूं, क्षणिक कषाय वेगकी वृत्तियां ठीक हैं, पुण्यादिक देहादिमें सुखबुद्धिके द्वारा ठीक रहूं, स्थिर रहूं: ऐसी बहिरात्म दृष्टिवाले अपने स्वाधीन एकत्व-विभक्त भावका अस्वीकार करते हैं, इसलिए वे नास्तिक हैं। जब आस्तिक्य गुणवाला स्वाधीन भावसे अविनाशी सहज स्वभावकी 'हां' कहता है, पूर्ण कृतकृत्य स्वभावको अपने अनुभवसे निश्चयके

भावार्थः—जिन्होंने अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें अन्ध बने हुओं की आंखोंको ज्ञानाञ्जन रूपी शलाकासे खोल दिया है उन श्री गुरुदेवको नमस्कार करता हूं।

वे श्री गुरुदेव स्वरूपभ्रांति, राग-द्वेष और मोहका नाश करके शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथा सम्यग्दर्शनके देनेवाले हैं। ज्ञानीका वचन सुयोग्य जीवको प्रतिबोध प्राप्त कराता है। उसकी निर्दोष वाणीको सावधान होकर श्रवण करो और मोहका नाश करके स्वरूपमें सावधान रहो तथा नित्य स्वाध्याय करो।

शुद्ध साध्यकी यथार्थ निश्चयरूप शुद्ध तत्त्वदृष्टिके द्वारा असंग, निर्मल, ज्ञायकस्वभावको जानकर उसमें स्थिर होना ही इस परमागमका सार है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत मंगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥

अर्थः—समयसार = शुद्ध आत्मा सर्व पदार्थोंमें साररूप है। सार = द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित है। ऐसे परमार्थस्वरूप शुद्ध आत्माको नमस्कार हो। शुद्ध स्वरूपको पहचानकर भावसे नमस्कार करके अंतःस्वरूपमें झुककर शुद्ध निर्मल स्वरूपका आदर करता हूं।

द्रव्यकर्म = रजकण, सूक्ष्म धूल, ज्ञानावरणादिक आठ कर्म। यह जड़ रूपी कर्मप्रकृति है।

भावकर्म = राग-द्वेष विकाररूप विभावादिक शक्तिका परिणमन; द्रव्यकर्मका निमित्त प्राप्त करके जीवमें विकार होता है, वह अशुद्ध उपादानके आश्रित है, किन्तु स्वभावमें नहीं है।

भाव = अवस्था; परिणाम। रागरूप कार्य चिद्विकार है; यह भाव ध्रुवरूप नहीं है-क्षणिक विकारी भाव है। कर्म = कार्य।

स्थितिके लिए आभ्यंतर ज्ञानक्रियामें सक्रिय है और परसे अक्रिय है।) पुण्यादि विकारी भावसे, राग (विकल्प)से अविकारी स्वभाव प्रगट नहीं होता।

निश्चयसे अर्थात् यथार्थ दृष्टिसे स्वयं निजको अपनेसे ही जानता है, उसमें किसी निमित्तका आधार नहीं है। अपनी सहज शक्तिसे ही स्वयं परिणमन करता है, जानता है और प्रगट प्रकाश करता है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। स्वाधीन सत्ताके भानमें स्वयं प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं। अज्ञानी भी निजको ही जानता है, किन्तु वह वैसा न मानकर विपरीत रूपसे मानता है। वास्तवमें तो आत्मा ही प्रत्यक्ष है। 'मैं हूँ' इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष जानते हैं। जिनका आत्मअभिप्राय पराश्रित है वे मानते हैं कि मेरा ज्ञान निमित्ताधीन है। मन, इन्द्रिय, पुस्तक, प्रकाश इत्यादि निमित्तका साथ हो तो ही उसके आधार पर मैं जानता हूँ, यों मानने वाले निजको ही नहीं मानते! और फिर कोई यह माने कि पहले भवका स्मरण हो तो जान सकूँ, वर्तमान सीधी बातको मैं नहीं जान सकता, तो भी वह झूठा है। वर्तमान पुरुषार्थके द्वारा त्रिकाल अखण्ड ज्ञानस्वरूपका लक्ष्य किया जा सकता है। अपने आधार पर वर्तमानमें ज्ञानकी निर्मलतासे स्पष्ट ज्ञात होता है। और कोई यह मानता है कि यदि पहलेका भाग्य हो तो धर्म हो, उसके लिये ज्ञानी कहते हैं कि तू अभी जाग और उन्हें देख। अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और अनन्त सहजस्वरूप धर्म तो आत्माके स्वभावमें ही है; किन्तु जब प्रतीति करता है तब वर्तमान पुरुषार्थसे त्रिकाल स्वभावको जाना जा सकता है। यदि पुरुषार्थके लिए पूर्व-भवका स्मरण तथा किसी निमित्तके आधार पर ज्ञान धर्म होता हो तो एक गुणके लिए दूसरे पर-गुणका आधार तथा अन्य पर-पदार्थका आधार चाहिए और उसके लिए तीसरा आधार चाहिए। इस परंपरासे पराश्रितपनका बहुत बड़ा दोष आता है। पराश्रित सत्ताको नित्य स्वभाव नहीं माना जा सकता, इसलिए गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। वे त्रिकाल एकरूप हैं। अवस्थामें शक्ति-व्यक्तिका भेद है, किन्तु

द्वारा स्वीकार करके इस प्रकार पर-भावका निषेध करता है कि द्रव्य-कर्म, भावकर्म, और नोकर्म मैं नहीं हूं, तथा असंयोगी अखण्ड ज्ञायक-स्वभावमें एकत्वभावसे स्थिर होता है अर्थात् स्वभावमें परिणमन करता है, नमता है या इस ओर ढलता है, तब नास्तिक मतरूप विपरीत दशाका ([illegible] पर्यायका) अभाव हो जाता है।

स्थितिके लिए आभ्यंतर ज्ञानक्रियामें सक्रिय है और परसे अक्रिय है।) पुण्यादि विकारी भावसे, राग (विकल्प)से अविकारी स्वभाव प्रगट नहीं होता।

निश्चयसे अर्थात् यथार्थ दृष्टिसे स्वयं निजको अपनेसे ही जानता है, उसमें किसी निमित्तका आधार नहीं है। अपनी सहज शक्तिसे ही स्वयं परिणमन करता है, जानता है और प्रगट प्रकाश करता है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। स्वाधीन सत्ताके भानमें स्वयं प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं। अज्ञानी भी निजको ही जानता है, किन्तु वह वैसा न मानकर विपरीत रूपसे मानता है। वास्तवमें तो आत्मा ही प्रत्यक्ष है। 'मैं हूँ' इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष जानते हैं। जिनका आत्मअभिप्राय पराश्रित है वे मानते हैं कि मेरा ज्ञान निमित्ताधीन है। मन, इन्द्रिय, पुस्तक, प्रकाश इत्यादि निमित्तका साथ हो तो ही उसके आधार पर मैं जानता हूँ, यों मानने वाले निजको ही नहीं मानते! और फिर कोई यह माने कि पहले भवका स्मरण हो तो जान सकूँ, वर्तमान सीधी बातको मैं नहीं जान सकता, तो भी वह झूठा है। वर्तमान पुरुषार्थके द्वारा त्रिकाल अखण्ड ज्ञानस्वरूपका लक्ष्य किया जा सकता है। अपने आधार पर वर्तमानमें ज्ञानकी निर्मलतासे स्पष्ट ज्ञात होता है। और कोई यह मानता है कि यदि पहलेका भाग्य हो तो धर्म हो, उसके लिये ज्ञानी कहते हैं कि तू अभी जाग और उन्हें देख। अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और अनन्त सत्तास्वरूप धर्म तो आत्माके स्वभावमें ही है; किन्तु जब प्रतीति करता है तब वर्तमान पुरुषार्थसे त्रिकाल स्वभावको जाना जा सकता है। यदि पुरुषार्थके लिए पूर्व-भवका स्मरण तथा किसी निमित्तके आधार पर ज्ञान-धर्म होता हो तो एक गुणके लिए दूसरे पर-गुणका आधार तथा अन्य पर-पदार्थका आधार चाहिए और उसके लिए तीसरा आधार चाहिए। इस परं-परासे पराश्रितपनका बहुत बड़ा दोष आता है। पराश्रित सत्ताको नित्य स्वभाव नहीं माना जा सकता, इसलिए गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। वे त्रिकाल एकरूप हैं। अवस्थामें शक्ति-व्यक्तिका भेद है, किन्तु

वस्तुमें–गुणमें खण्ड–भेद नहीं है। गुणीके आधारसे त्रिकाल गुण साथ ही रहते हैं। वस्तु त्रिकाल एकरूप ही है। उसे वर्तमान निर्मलतासे, पुरुषार्थसे, स्वानुभवसे प्रत्यक्षतया जाना जा सकता है। अपने आधारसे स्वयं निजको ही जानता है, इसलिये प्रत्यक्ष है।

सर्वभावान्तरच्छिदे–अपनेको तथा समस्त जीव–अजीव चराचर विश्वमें स्थित त्रैकालिक सर्व वस्तुओंको एक ही साथ जाननेकी स्वाधीन शक्ति प्रत्येक जीवमें है। ऐसा चैतन्यस्वरूप समयसार आत्मा है। उसे पहिचानकर नमस्कार करता हूँ। ऐसा इतना पूर्णस्वभाववान ही आत्मा है। उसकी हाँ कहनेवाला ज्ञायक स्वयं अकेला महिमावान है, बड़ा है, पूर्ण स्वभावमें त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है। अनन्त, अपारके ज्ञाता तथा अपार और अनन्तताको ध्यानमें लेनेवालेकी थैली (ज्ञान–समक्षशक्तिरूपी थैली) भावदृष्टिसे (गंभीरतामें) अमाप है; अनन्त गम्भीर भावयुक्त है। इस प्रकारका माप करनेवाला स्वयं ही शक्ति रूपमें पूर्ण परमात्मस्वरूप, सर्वज्ञ स्वभावको पहिचानकर नमस्कार करनेवाला स्वयं ही परमात्मा है। वह शुद्ध साध्यके लक्ष्यसे प्रगट परमात्मा हो जाता है। जिसका बहुमान है, रुचि है वह उस रूप हो जाता है।

पूर्ण स्वाधीन स्वरूपकी प्रतीतिके बिना परमात्माकी भक्ति नहीं हो सकती। परमात्माकी पहचानके बिना रागका–विकारका–संसा पक्षका बहुमान करेगा। स्वरूपकी प्रतीति वाला निःशंकतया पूर्णव (माध्यका) नमस्कार करता हुआ अखण्डतासे, अखण्ड सत्के बहुमान द्वारा पूर्णको प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक आत्मामें एक समयमें तीन काल और तीन लोकको जाननेकी शक्ति विद्यमान है। ऐसे आत्मा अनन्त हैं। प्रत्येक आत्मा परसे भिन्न अकेला पूर्ण सर्वज्ञ है। त्रैकालिक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमय अनन्त पदार्थको सर्वरीत्या जाननेकी शक्ति प्रत्येक जीवद्रव्यमें विद्यमान है। प्रत्येक समयमें तीनोंकाल और तीनोंलोक केवलज्ञानमें सहज दिखाई देते हैं। अनन्तके अखण्ड भावको भव्य जीव ग्रहण करके एक क्षण भरमें

अनन्तका विचार कर लेते हैं। अनन्त ज्ञानकी शक्ति और सर्वज्ञ स्वभावकी 'हाँ' कहनेवाले समस्त जीव शक्तितः सर्वज्ञ हैं। ना कहनेवाला नास्तिक भी शक्तितः सर्वज्ञ है। ना कहने वाला भी अपार अनन्तको ध्यानमें लेनेवाला तो है ही, इसलिए ना कहने पर भी उसमें हाँ गर्भित है। अतः प्रत्येक देहधारी आत्मा पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ ही है। निश्चयसे मैं पूर्ण अखण्ड आनन्दघन त्रिकाल हूँ, सर्वज्ञ हूँ, इस प्रकार स्वतः हाँ कहकर 'सर्वोत्कृष्ट अनुपम स्वभावको पहचानकर अपनी अपूर्व महिमाको प्राप्त करके अपनेको देखनेवाला अपूर्व महिमाको लेकर नम्रीभूत होता हुआ वह वैसा ही है। पूर्ण स्वभावको माना-जाना और उसमें नत होता हुआ, वह श्रद्धासे पूर्ण ही है। वह बीचमें पुरुषार्थके कालके अन्तरको भावसे पृथक् कर देता है। और पूर्ण परमात्माको देखता हुआ पूर्ण स्वभावकी महिमाको गाता है। वह संसारकी महिमाको नहीं देखता। बाह्य इन्द्रियोंके आधीन बाह्य दृष्टि करनेवाला, अपनेको भूलकर दूसरेके बड़प्पनको आँकता है। किन्तु पूर्ण शक्तिको बतानेवाली जो दिव्यदृष्टि है उस पर वह विश्वास नहीं ला सकता और वर्तमानको ही मानता है।

अधूरी दशा होने पर भी मेरेमें शक्तिकी अपेक्षासे तीन काल और तीन लोकको जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। यद्यपि वह सीधा दिखाई नहीं देता तथापि उसका यथार्थ निर्णय निजसे हो सकता है। जिसमें तीन काल और तीन लोक एक ही समयमें दिखाई देते हैं, ऐसे अपने त्रैकालिक ज्ञानको ही मैं जानता हूँ। इस प्रकार सर्वज्ञ स्वभावकी 'हाँ' कहनेवाला वर्तमान अपूर्ण ज्ञानसे सम्पूर्णका निर्णय निःसंदेह तत्त्वमेंसे लाता है।

मैं परको जानूँ तभी मैं बड़ा हूँ, यह बात नहीं है, किन्तु मेरी अपार सामर्थ्य अनन्तज्ञान ऐश्वर्यके रूपमें होनेसे मैं पूर्ण ज्ञानघन आत्मा हूँ। इस प्रकार पूर्ण साध्यका निश्चय करके उसीमें एकत्व-विभक्त, भिन्न एकाकार (परसे भिन्न, अपनेसे अभिन्न) परिणतिको

युक्त करके ' आत्मख्याति टीका 'के द्वारा प्रथम मंगलाचरण किया है।

पूर्ण उत्कृष्ट आत्मशक्तिको जानकर जो निश्चयसे नमता है वही अपनी शुद्ध परिणतिरूप होकर स्वाधीन स्वभावरूपसे नत हुआ है। वही परमात्माका भक्त है। प्रतीतिहीन जीव ही रागके प्रति नत होता है।

भूत, भविष्य और वर्तमान काल सम्बन्धी पर्याय सहित अनंत गुण युक्त समस्त जीव–अजीवादि पदार्थोंको एक समयमें एक ही साथ प्रगटरूपसे जाननेवाला शुद्ध आत्मा ही साररूप है। उसको मेरा नमस्कार हो। शुद्ध स्वभावमें तन्मय अस्तिरूप परिणमित हुआ और नत हुआ इसलिए असारभूत संसारके रूपमें नहीं हुआ। अब राग-द्वेषरूप संसारका आदर कभी नहीं करूँगा इस प्रकारकी सौगन्धविधि सहित भाववन्दना की है।

सर्वज्ञ वीतरागस्वरूप शुद्ध आत्मा इष्ट है, उपादेय है, उसीकी श्रद्धा, रुचि और प्रतीतिके द्वारा सर्वज्ञके न्यायसे जिसने त्रिकाल ज्ञायकस्वभावको स्वीकार किया वह सर्व पदार्थ, त्रिकालकी अवस्थाको प्रतीतिके द्वारा जाननेवाला हुआ। अब यदि वह उसी भावसे स्थिर रहे तो उसे राग-द्वेष, हर्ष–शोक उत्पन्न न हो। 'मैं जाननेवाला ही हूँ' इस भावसे अशान्ति और असमता नहीं होती। जैसी सुन्दर रूप वाली अवस्थाको लिये हुए आम (आम नामका पुद्गल पिण्ड) पहले विष्टाके खातमेंसे उत्पन्न होकर वर्तमान क्षणिक अवस्थामें सुन्दर दिखाई देता है। स्मरण रहे कि वह पुनः विष्टारूप परिणमित होनेवाला है। इस प्रकार त्रिकालकी अवस्थाको देखनेवालेको सुन्दर–असुन्दर दिखाई देनेवाले किसी भी पदार्थके प्रति राग–द्वेष या हर्ष–विषाद नहीं होता, और इस प्रकार किसीके प्रति मोह नहीं होता। नारकीके शरीरको छोड़कर बहुत बड़ी महारानीके पद पर उत्पन्न हुआ और पुनः नरकमें उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार पुद्गलकी विचित्रताको देखनेवालेको, त्रिकाल लगातार जाननेवालेको राग-द्वेष [illegible] भेदज्ञानमें अटकना नहीं होता। देहादिक अशुचि-

मय-दुःखमय क्षणिक अवस्था वाले पदार्थ वर्तमानमें कदाचित् पुण्य वाले, सुन्दररूप वाले दिखाई दें अथवा कुरूप या रोगरूप दिखाई दें तो भी उनमें मोह नहीं करता। क्योंकि त्रिकालके ज्ञानको जानने वाला यह वीतरागदृष्टि है और वह सर्वज्ञदृष्टि धर्मात्मा है।

प्रश्नः—यहां इष्टदेवका नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया? और शुद्ध आत्माको क्यों नमस्कार किया है?

उत्तरः—आत्मा अनेकान्त धर्मस्वरूप है। उसे पहचानने वाला अनेक अपेक्षित धर्मोंको जानकर (समझकर) उसे गुण-वाचक इत्यादि चाहे जिस नामसे सम्बोधित करता है।

जैनधर्म राग-द्वेष, अज्ञानको जीतने वाला आत्मस्वभाव है। इस प्रकार शुद्धस्वभावको मानने वाला धर्मात्मा जहां देखता है वहां गुणको ही देखता है, गुणको ही प्रधानता देता है व्यक्तिको नहीं। जैसे पंचपरमेष्ठीमें पहले णमो अरिहंताणं कहकर गुण-वाचक पदकी ही वन्दना की है। 'णमो महावीराणं' इस प्रकार एक नाम लेकर किसी व्यक्ति विशेषकी वन्दना नहीं की है। वह जो जैसा होता है, उस व्यक्तिको वैसा ही जानता है। व्यक्तिभेद करने पर राग होता है। इसलिए गुण-पूजा प्रधान है। धर्मात्मा किसी एक भगवानका नाम लेकर भी वन्दना करता है। किन्तु धर्मात्माका लक्ष्य तो गुणीके गुणों-के प्रति ही होता है। व्यक्ति विशेषके प्रति नहीं होता। इसलिए गुण-पूजा प्रधान है।

ब्रह्मा = अपने सहज आनन्द गुणको ब्रह्म (ज्ञानस्वरूप आत्मा) भोगता है अथवा ब्रह्मा = स्रष्टा, अपनी स्वाधीन सुखमय अवस्थाको उत्पन्न करनेवाला। प्रत्येक समय नयी नयी पर्यायको उत्पन्न करता है, इसलिए वह स्वस्वभाव परिणमनरूप सृष्टिका कर्ता जीव है। इस दृष्टिसे प्रत्येक जीव स्वयं स्वतंत्र ब्रह्मा है।

विष्णु = राग-द्वेष-मोहरूप विकारसे रहित अपने शुद्ध स्वभावको स्थिर रखने वाला अथवा विभावसे निजको बचाने वाला और निज-

देहादिकी क्रिया जड़ करता है, किन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं पर
कुछ कर सकता हूँ। यह कर्तृत्वका अज्ञान है। पर वस्तुकी क्रिया ती
काल और तीन लोकमें कोई आत्मा नहीं कर सकता।

[३] प्रत्येक पदार्थमें 'प्रमेयत्व' अर्थात् किसी भी ज्ञानका विषय होना विद्यमान है। उसमें बतानेकी योग्यता है। ज्ञेय अथवा प्रमेयका अर्थ है–ज्ञानमें किसी न किसी ज्ञानमें ज्ञात होने योग्यपना–अपनेको जनानेकी योग्यता। यह योग्यता जिसमें न हो वह वस्तु नहीं कही जा सकती।

प्रश्नः—क्या वह आंखोंसे दिखाई देता है।

उत्तरः—नहीं; वह ज्ञानके द्वारा ही दिखाई देता है—ज्ञात होता है। आंख तो अनन्त रजकणका पिण्ड है। उसे खबर ही नहीं कि मैं कौन हूँ। किन्तु उसे जानने वाला अलग रहकर जानता रहता है। ज्ञानके द्वारा ठंडा-गरम मालूम होता है। ज्ञान, ज्ञानमें जाननेकी क्रिया करता है। उस ज्ञानकी क्रियामें ज्ञान अर्थात् आत्मा स्वयं अपनेको जानता है। और ज्ञानका ऐसा स्वभाव है कि पर उसमें भिन्नरूपसे ज्ञात होता है। वह प्रत्येक आत्माका गुण है। स्वयं अपनेको ज्ञेय बनाने पर स-
धर्म समक्षमें आ जाते हैं।

इस देहमें रहनेवाला आत्मा देहसे भिन्न है। यदि यह न जाने तो अन्तरंगमें पृथक्त्वके ज्ञानका कार्य जो शान्ति है वह न हो, किन्तु अज्ञानका कार्य जो अशान्ति है, जिसे जीव अनादि कालसे कर रहा है वही बनी रहेगी। आत्माका त्रिकाल ज्ञानस्वभाव है, उसमें अनन्त पदार्थोंको युगपत् जाननेकी शक्ति विद्यमान है। किन्तु अनादिसे देह इन्द्रियोंमें दृष्टिपात करके अपनेको भूलकर रागके द्वारा परको जानता रहता है। दृष्टिपात करने वाला तो स्वयं है कि
मोल दूसरेको चुकाता है। अपने भीतर अनन्त गुणका मूलध
किस प्रकार विद्यमान है यह तो नहीं जानता किन्तु यह बराबर जानता

(६) 'अचेतनत्व'—आत्माके अतिरिक्त पांच द्रव्य अचेतन पदार्थ हैं। उसका गुण अचेतनत्व (जड़ता) है।

(७) 'मूर्तिकत्व'—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पुद्गलके गुण हैं। पुद्गलमें रूपित्व (मूर्तिकत्व) है। उसके अतिरिक्त पांच वस्तुएँ अर (अमूर्तिक) हैं।

(८) 'अमूर्तिकत्व'=स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित।

उन उन गुणोंमें समय-समय पर परिणमन होना सो पर्याय है, जो कि अनन्त हैं।

(९) प्रत्येक वस्तुमें एकत्व है। अपना अपना अनन्त स्वभाव अर्थात गुण वस्तुरूपमें एक है, इसलिए एकत्व है।

(१०) अनंतगुणके लक्षण, संख्यादि भेदसे देखा जाये तो प्रत्ये वस्तुमें अनेकत्व भी है।

(११) वस्तुमें त्रिकाल स्थिर रहनेकी अपेक्षासे नित्यत्व भी है।

(१२) प्रतिक्षण अवस्थाका बदलना और नई अवस्थाका उत्पन्न होना; इस प्रकारका अनित्यत्व भी है।

यह जाननेकी इसलिये आवश्यकता है कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, त्रिकालमें परसे भिन्नरूप है। यदि ऐसा न माना जाये तो राग-द्वेष और अज्ञानको दूर करके स्वभावको नहीं पहचाना जा सकता।

(१३) 'भेदत्व' प्रत्येक वस्तुमें है। वस्तु अनंतगुण स्वरूप-से अभिन्न है। तथापि गुण-गुणीके भेदसे नाम, संख्या, लक्षण, प्रयोजनसे भेद है। जैसे गुड़ नामका पदार्थ है, उसमें मिठास, गंध, वर्ण इत्यादि अनेक गुण हैं, उसी प्रकार आत्मा एक वस्तु है। उसमें ज्ञान, दर्शन, इत्यादि अनन्तगुण हैं। गुण-गुणीके नामसे जो भेद हुआ है सो संज्ञाभेद है। गुणोंकी संख्या अनन्त है और आत्मा है, यह संख्याभेद है।

मिल सकता। यह चेतनत्व अपने अनन्त धर्मोंमें व्यापक है, इसलिए उसे आत्माका तत्त्व कहा है।

कर्मोंके निमित्तकी क्षणिक उपाधि वाली स्थिति वर्तमान समय मात्र की है उसे जो अपना स्वरूप मानता है उस जीवको स्वतन्त्र स्वतत्त्वकी प्रतीति नहीं है। किन्तु परसे भिन्न जैसा है ठीक वैसा ही अपनेको जाने तथा रागादि रहित पूर्ण शुद्ध ज्ञान आनन्दमय जैसा है वैसा अपना स्वरूप जाने तो वह अपने स्वाधीन सुखगुणको प्रगट कर सकता है। इसलिए आत्माका अनन्त गुण ही आत्माका तत्त्व है। राग–द्वेष, मन, वाणी और देहकी प्रवृत्ति आत्माका तत्त्व नहीं है।

आत्मा सदा परसे भिन्न रहकर अपने अनन्त गुणोंसे अभिन्न होनेके कारण अपनेमें व्यापक है और इसलिए अनन्त गुणोंमें फैला हुआ है। उसे तत्त्व रूपमें–जैसा है वैसा ही इस सरस्वतीकी मूर्ति देखती है और दिखाती है और यदि इस प्रकार समझे तो इससे (इस सम्यग्ज्ञानकी मूर्तिसे–सरस्वतीसे) सर्व प्राणियोंका कल्याण होता है। इसलिए 'सदा प्रकाशरूप रहो' इस प्रकारका आशीर्वाद-रूप वचन मात्र परको नहीं किन्तु अपने परम कल्याण स्वरूपको लक्षमें रखकर कहा है।

समयसारजीमें अपूर्व सत्श्रुतकी स्थापना की है। यह समयसार शास्त्र परमागम है। यह परम विशुद्धताको प्रगट करनेवाला है। यह अजोड़ सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक (अद्वितीय जगत चक्षु) परमात्मदशाको प्राप्त करनेके लिए है। यह सम्यग्ज्ञानके द्वारा दी गई अपूर्व भेंट है। आचार्य महाराज कहते हैं कि 'इसकी टीकाके द्वारा मैं इसका स्पष्टी-करण करूँगा। इसकी टीका करनेका फल अपनी वर्तमान दशाकी निर्मलताके रूपमें चाहता हूँ। पूजा सत्कार आदि नहीं चाहता।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषिताया: ।

सर्वज्ञ भगवानने प्रत्यक्ष ज्ञानसे जैसा जाना है, वैसा आत्मस्वभाव कहा है। पूर्ण पवित्र स्वतंत्र स्वरूप जैसा है वैसा कहा है। वह परम हितोपदेशक सर्वज्ञ वीतराग है। उनके इच्छा नहीं है। सहज दिव्यध्वनि खिरती है। वह सर्वज्ञ कथित परमतत्त्व (आत्माका सच्चा स्वरूप) यहाँ कहा जा रहा है। यदि जीव उस यथार्थताको न जाने तो कदापि बन्धनसे मुक्ति अर्थात स्वतन्त्रता और उसका उपाय प्रगट नहीं हो सकता। उसे समझे बिना यह जीव अनन्तबार पुण्य, क्रिया-काण्ड इत्यादि कर चुका; किन्तु पराश्रय दृष्टिके कारण आत्मधर्म नहीं हुआ।

आत्मा परसे निराला, निर्मल, पूर्ण ज्ञानानन्दघन है। मन, वाणी और देहादिके सम्बन्धसे रहित त्रिकाल तत्त्व है। आचार्य महाराज इस समयसार शास्त्रकी टीका करते हुए कहते हैं कि 'इस टीकाके फलस्वरूप मेरी वर्तमान दशाकी परम विशुद्धि हो, यही भावना है।'

आचार्य महाराजने महान् गम्भीर अर्थवाली स्पष्ट भाषा लिखी है। जैसे एक तार (टेलीग्राम) की डेढ़ पंक्तिमें यह लिखा हो कि 'रुई की पाँच हजार गाँठें चारसौ पचासके भावमें खरीदो' इसे पढ़ने वाला उस डेढ़ पंक्तिमें समाविष्ट सारा भाव और तार देनेवाले व्यापारीका साहस इत्यादि सब (जो कि उस डेढ़ पंक्तिमें लिखा हुआ नहीं है) जान लेता है। बाजार भावसे अधिक भावमें खरीद करने वाला और खरीद कराने वाला दोनों कैसे हैं? कैसी हिम्मत वाले हैं? इसका परस्पर दोनोंको भरोसा है। किन्तु जो अपढ़ होता है, अज्ञान होता है, उसे इसकी खबर नहीं होती। लेकिन जो जाननेवाला, जो पढ़ा लिखा और विचक्षण दृष्टि रखकर पढ़ने वाला होता है, वह दोनों तरफकी दोनों पेढ़ीके सभी भावोंको जान लेता है। ४४० का तो भाव चल रहा है, तथापि ४५० के भावसे इतनी बड़ी खरीद करने को लिखा है, इसमें किंचित् मात्र भी शंका नहीं करती। यदि कोई अजान पढ़े तो वह उस बातको न माने। दुकान तो छोटीसी लेकर बैठा हो, और कुछ लेकर न बैठा हो, तथापि उसमें सारा वैभव

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

महा-महिमावंत भगवान अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि मेरा ज्ञान व्यापार निर्मल हो, मेरा पूर्ण वीतरागभाव प्रगट हो। दूसरी कोई आकांक्षा नहीं है। 'इस समयसार अर्थात् शुद्धात्माकी कथनी तथा टीकासे ही मेरी अनुभूतिरूप परिणतिकी परम विशुद्धि हो' ऐसी भावना भाई है।

शुद्ध आत्माको जाननेवाले ज्ञान अभ्यासकी दृढ़तासे रागादि कलुषित भावका अनुभव दूर होकर उत्कृष्ट निर्मल दशा प्रगट हो, ऐसी भावना करते हैं। ऐसा परमागम मेरे हाथ आया है और उसकी टीका करनेका महा सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिए उसके विश्वास-के बल पर टीकाकार स्पष्ट घोषित करते हैं कि 'इस टीकासे मेरी परिणति पूर्णतया निर्मल हो जायगी।'

जैसे पैसेकी प्रीतिवाला व्यक्ति धनवानके गुण गाता है वह वास्तवमें धनवानके नहीं किन्तु अपने ही गीत गाता है। क्योंकि उसे धनकी रुचि है। वह उस रुचिके ही गीत गाता है। इसी प्रकार जिसे अपने आत्माके अनन्त गुण रुचिकर प्रतीत हुए हैं वह निमित्तमें आरोपित करके अपने ही गुण गाता है। वाणी तो जड़ है, परमाणु है। किन्तु उसके पीछे जो अपना शुद्धभाव है वही हितकर है।

आचार्य महाराज अपनी परिणतिको सुधारनेकी भावना करते हैं। मेरी वर्तमानदशा मोहके द्वारा किंचित् मैली है किन्तु मेरा त्रिकाल स्वभाव द्रव्यदृष्टिसे मलिन नहीं है इसलिये पूर्ण शुद्ध चिदानन्द अपार सुन्दर है। उसकी प्रतीतिके बल पर 'वर्तमान अशुद्धताका अंश दूर हो जायगा' आचार्य महाराज इसका विश्वास दिलाते हैं। इस प्रकार जो कोई योग्य जीव समयसारके द्वारा समझेगा वह भी अपनी उत्कृष्ट दशा दूसरों प्रगट होगा।

सर्वज्ञ भगवानने प्रत्यक्ष ज्ञानसे जैसा जाना है, वैसा आत्मस्वभाव कहा है। पूर्ण पवित्र स्वतंत्र स्वरूप जैसा है वैसा कहा है। वह परम हितोपदेशक सर्वज्ञ वीतराग है। उनके इच्छा नहीं है। सहज दिव्यध्वनि खिरती है। वह सर्वज्ञ कथित परमतत्त्व (आत्माका सच्चा स्वरूप) यहाँ कहा जा रहा है। यदि जीव उस यथार्थताको न जाने तो कदापि बन्धनसे मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता और उसका उपाय प्रगट नहीं हो सकता। इसे समझे बिना यह जीव अनन्तबार पुण्य, क्रिया-काण्ड इत्यादि कर चुका; किन्तु पराश्रय दृष्टिके कारण आत्मधर्म नहीं हुआ।

आत्मा परसे निराला, निर्मल, पूर्ण ज्ञानानन्दघन है। मन, वाणी और देहादिके सम्बन्धसे रहित त्रिकाल तत्त्व है। आचार्य महाराज इस समयसार शास्त्रकी टीका करते हुए कहते हैं कि 'इस टीकाके फलस्वरूप मेरी वर्तमान दशाकी परम विशुद्धि हो, यही भावना है।'

आचार्य महाराजने महान् गम्भीर अर्थवाली स्पष्ट भाषा लिखी है। जैसे एक तार (टेलीग्राम) की डेढ़ पंक्तिमें यह लिखा हो कि 'रुईकी पांच हजार गांठें चारसौ पचासके भावमें खरीदो' इसे पढ़नेवाला उस डेढ़ पंक्तिमें समाविष्ट सारा भाव और तार देनेवाले व्यापारीका साहस इत्यादि सब (जो कि उस डेढ़ पंक्तिमें लिखा हुआ नहीं है) जान लेता है। बाजार भावसे अधिक भावमें खरीद करनेवाला और खरीद करानेवाला दोनों कैसे हैं? कैसी हिम्मत वाले हैं? इसका परस्पर दोनोंको भरोसा है। किन्तु जो अपढ़ होता है, अज्ञान होता है, उसे इसकी खबर नहीं होती। लेकिन जो जाननेवाला, जो पढ़ा लिखा और विचक्षण दृष्टि रखकर पढ़नेवाला होता है, वह दोनों तरफकी दोनों पेढ़ीके सभी भावोंको जान लेता है। ४४० का तो भाव चल रहा है, तथापि ४५० के भावसे इतनी बड़ी खरीद करनेको लिखा है, इसमें किंचित् मात्र भी शंका नहीं करता। यदि कोई अज्ञान पढ़े तो वह उस भावको न समझे। दुकान तो छोटीसी लेकर बैठा हो, और सब कुछ लेकर न बैठा हो, तथापि उसमें सारा वैभव

समाविष्ट है। इस प्रकार यदि पत्र लिखा हो तो देखा सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञके अनन्त आगमका रहस्य थोड़ी पंक्तियोंमें हो तो भी सम्यग्ज्ञानी उसे बराबर जान लेते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवानकी वाणीके द्वारा आगत शुद्धात्मतत्त्वका उपदेश, उसकी व्याख्या करते हुए शुद्ध आत्मा ऐसा है, इस प्रकार ही है, यों शुद्ध आत्माकी सच्ची श्रद्धाकी दृढ़ताके द्वारा मेरी स्वरूपरमणता अर्थात् एकाग्रता होगी, परम विशुद्धि होगी, इसके लिए मेरी टीका (उसकी व्याख्या) है। उसके द्वारा स्वयं (आचार्य) अपना परम आनन्द प्रगट करना चाहते हैं।

यथार्थ वक्ताकी पहचान करके श्रोताओंको भरोसा रखकर खूब श्रवण-मनन करना चाहिए। समझनेकी पात्रता पहले चाहिए। कोई किसीको कुछ नहीं दे सकता। किन्तु विनयसे उपचारदृष्टिसे दिया हुआ कहा जाता है। आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तुस्वरूप द्रव्यस्वभावसे देखने पर त्रिकाल शुद्ध ही है। किन्तु वर्तमानमें चलने वाली प्रत्येक अवस्था चारित्रमोहके द्वारा निरन्तर मलिन हो रही है। वर्तमान अवस्थामें पूर्ण आनन्द नहीं है। (पूर्णदशा कृतकृत्य होनेके बाद पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं रहती) कर्मके निमित्तमें युक्त होनेसे जितना परवस्तुकी ओर जुड़नेका लक्ष करता है उतनी वर्तमान अवस्था मलिन दिखाई देती है। वर्तमानमें चलनेवाली अवस्थामें क्षण क्षण करके अनन्त काल व्यतीत हो गया तथापि वह अशुद्धता अनन्तगुनी नहीं हुई है, जैसे पानी अनन्त काल तक गरम हुआ इसलिए त्रिकालके लिए गरम नहीं हो गया है, इसी प्रकार आत्मा द्रव्यस्वभावसे नित्य शुद्ध ही है। उसमें वर्तमान अवस्थामें क्रोध मान आदि वृत्तियां उठती हैं। आत्मा उतना नहीं है, इसलिए वह क्षणिक अशुद्धताका रक्षक नहीं है प्रत्युत नाशक ही है और अनन्त गुणका स्वभावतः ही रक्षक है। उसे भूलकर जीव यह मानता है कि 'मैं रागी, द्वेषी, ममतावाला हूँ, देहादि संयोगवाला हूँ' किन्तु इससे वैसा पूर्ण नहीं हो गया है। वर्तमान अवस्थामें अग्निके निमित्तसे पानी गरम हुआ

दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभावतः (उसका नित्य शीतलका भाव) उष्ण नहीं हुआ है। क्योंकि वह बहुत कालसे गरम है तथापि उसी समय उसमें शीतल होनेका स्वभाव है इसलिये उष्णताका नाश करके शीतल हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा स्वयं अपनी भूलसे अपनेको देहवान और उपाधिवान मानता है, फिर भी वह एक क्षणमें शुद्ध हो सकता है।

आत्माका स्वरूप किस प्रकार है, स्वभाव-विभाव क्या है, पुण्य—पापका भाव होता है वह क्या है, मेरा एकरूप स्वभाव क्या है? इत्यादि समझमें नहीं आता, इसलिए वह कठिन मालूम होता है। किंतु वह सब यहाँ पर बहुत सरल रीतिसे कहा जाता है। पानीका दृष्टांत सरल है। किन्तु आत्माका सिद्धान्त आत्मामें अनुभव रूपमें विठाना आवश्यक है। कच्चे चनेमें मिठास भरी होती है। यदि उसे भूना जाय तो उसके भीतर जो मिठास भरी हुई है वह प्रगट होती है। उसमें जो मिठास थी वह प्रगट दशामें आई है। यदि भाड़के कड़ाहे, करछी और रेतीसे स्वाद आता हो तो कंकड़ोंको भूनो, उनमेंसे भी मिठास आनी चाहिए। कच्चे चनेमें अम्लता विद्यमान है, इसलिये उसका स्वाद नहीं मिलता और वह उग सकता है। किन्तु यदि उसे भून डाला जाय तो वह उग नहीं सकता और उसमें स्वाद भी आता है। इसी प्रकार आत्मामें शक्तिरूपसे पूर्ण आनन्द भरा हुआ है। उसमें वर्तमान अवस्थामें निमित्ताधीन होकर अज्ञानके कारणसे अम्लता रूपी आकुलताका स्वाद आत्माको आता है। जैसे चनेके भूननेसे उसकी कषायिका नाश हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानाभ्यासके द्वारा स्वरूपकी दृढ़तासे अज्ञानका नाश हो जाता है। अपनी अप्रतीति ही वास्तवमें बन्धन है। 'मैं कर्मोंसे बद्ध हूँ, पर-वस्तु मुझे बाधा पहुँचाती है,' यह माननेसे 'मैं स्वयं स्वाधीन हूँ' इस प्रकार मानकर पुरुषार्थ करनेका अवकाश नहीं रहता।

आत्मा स्वयं ही अपने अबन्धक भावको भूलकर बन्धन भाव करता है और स्वयं ही निजको पहिचान कर सत्संग विचारके द्वारा

अशुद्धताको दूर करता है। जैसे वस्त्रका मूल स्वभाव मैला नहीं है, किन्तु पर-संयोगसे वर्तमान अवस्थामें मैल दिखाई देता है। यदि वस्त्रके उज्ज्वल स्वभावका ज्ञान हो जाय तो उस मैलके संयोगका अभाव हो सकता है। इसी प्रकार पहले शुद्ध आत्माका पूर्ण-पवित्र मुक्तस्वरूप जाने, तो अशुद्धता दूरकी जा सकती है। इसलिए यहाँ टीकामें मुख्यतया शुद्ध आत्माका कथन किया गया है। और यों तो इसमें अचिन्त्य आत्मस्वरूपका गुण-गान किया गया है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि-परके आश्रय, अवलम्बनसे रहित जैसा मेरा शुद्ध स्वरूप पूर्ण सिद्ध समान है, उसका दृढ़ निश्चय करके, और अब तुम्हारी पूर्ण शक्तिको देखकर तुम्हें पूर्णता निश्चय कराता हूँ, उसकी स्पष्ट महिमा गाता हूँ। संसारमें प्रशंसा करने वालेकी दृष्टि और उसकी कीमत कितनी है यह जाननेके बाद उसकी प्रशंसा की कीमत करनी चाहिए। कोई किसीकी प्रशंसा वास्तवमें नहीं करता, किन्तु जो जिसके अनुकूल बैठता है, वह उसीकी प्रशंसा करता है। इसी प्रकार निन्दा करनेवाला भी अपने बुरे भावको प्रगट करता है। उसमें हर्ष या विषाद कैसा? सब अपनी अपनी भावनाका फल पाते हैं। उसमें दूसरोंका क्या है?

जामें जितनी बुद्धि है उतनो देय बताय।
वाको बुरो न मानिये और कहाँसे लाय॥

अपनी भूलसे आत्मा स्वयं दुःखी होता है। आत्मा क्या है, इसकी खबर न होनेसे, अज्ञानी अज्ञान भावसे निन्दा करता है, उस व्यक्तिका इसमें कोई दोष नहीं है। वह व्यक्ति अर्थात् वह आत्मा क्षणभरमें बदल भी सकता है।

आचार्य कहते हैं कि—'मैं अपने अविनाशी शुद्धस्वरूपकी शुद्धदशाको प्रगट करना चाहता हूँ, जगतकी पूजा-ख्याति नहीं चाहता, क्योंकि कोई किसीको कुछ नहीं दे सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी शक्तिसे पूर्ण है। उस पूर्णके लक्षसे धर्मका प्रारंभ होता है।'

अथ मूल ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थका प्रारम्भ करते हुए मंगल सूत्र कहते हैं—

वन्दित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइंपत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि मैं ध्रुव, अचल और अनुपम इन तीन विशेषणोंसे युक्त गतिको प्राप्त सर्व सिद्धोंको नमस्कार करके श्रुतकेवलियोंके द्वारा कथित इस समयप्राभृतको कहूँगा।

यह महामंत्र है। जैसे वीनके नादसे सर्प डोलने लगता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्माकी महिमाको कहने वाला जो समयसार है, उसके कथनसे 'मैं शुद्ध हूँ' इस प्रकारके आनन्दमें आत्मा डोलने लगता है।

- देह, मन और वाणी रूपी गुफामें छुपा हुआ यह आत्मा परमार्थ स्वरूप सर्वज्ञकी दिव्यवाणीका बोध और माधुर्य जानकर अपनी महिमाको ज्ञात करके निजस्वरूपको सुनने और सम्हालनेके लिए जगृत होता है। जैसे मंत्रके द्वारा सर्पका विष उतर जाता है, उसी प्रकार आत्मा परसे भिन्न रागादि सर्व उपाधि रहित मुक्त है। ऐसी प्रतीतिके द्वारा अर्थात सम्यग्ज्ञानरूपी मंत्रके द्वारा अज्ञानरूपी विष उतर जाता है।

संसारकी चार अध्रुव गतियां हैं। सिद्धगति पूर्ण पवित्र आत्मदशा है। वह ध्रुव है, अचल है, अनुपम है, इस प्रकारकी आत्माकी निर्मल दशाको प्राप्त जो सिद्ध परमात्मा हैं, उनके लिए जगतके किसी भी पदार्थकी उपमा नहीं दी जा सकती। उपरोक्त तीन विशेषणोंसे युक्त उत्कृष्टगतिको प्राप्त सर्व सिद्धोंको नमस्कार करके श्रुतकेवलियोंके द्वारा कहे गये इस शुद्धात्माके अधिकारको कहूँगा, ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं। 'सर्व' 'अनन्त सिद्ध भगवान हो चुके हैं, यह कहनेसे सब मिलकर एक आत्मा हो गया मानना मिथ्या ठहरा।

'मैं उनको नमस्कार करता हूँ' इसका अर्थ यह है कि "मैं पूर्ण पवित्रदशाको ही नमस्कार करता हूँ, अन्य भावोंकी ओर नहीं जाता, संसारकी ओर किंचित भी भावसे नहीं देखता" इस प्रकार

अपने पूर्ण साध्यको नमस्कार करके पूर्ण शुद्ध स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय जो सर्वज्ञ भगवानके द्वारा बताया गया है उसीको कहना चाहते हैं।

श्रुत-केवली = भीतरके भावज्ञानमें पूर्ण सर्व अर्थ सहित आगमको जानने वाले। 'समय' = पदार्थ अर्थात् आत्मा। प्राभृत = भेंट। जैसे राजासे मिलनेके लिए जाने पर उसे भेंट देनी होती है उसी प्रकार शुद्ध आत्माको अंतरंगमें मिलनेके लिए सम्यग्ज्ञानकी भेंट देनी होती है। टीकामें 'अथ' शब्द मंगलसूचक है। 'अथ' साधकताका द्योतक है। पूर्णताके लक्ष्यसे अपूर्व प्रारम्भ बताया है अर्थात् पहले अनन्त-बार बाह्य साधनोंसे जो कुछ कर चुका है यदि वही हो तो वह अपूर्व प्रारम्भ नहीं है। यहां पर अपूर्व साधक दशाको प्रगट करनेकी बात है। संस्कृतमें 'अथ'का अर्थ 'अब' होता है। अनन्तकालसे जो मानता चला आ रहा है और जो कुछ भाव करता आ रहा है वह नहीं, किन्तु सर्वज्ञ भगवानने जो कहा है वही अब कहता हूं। 'अथ' शब्द इसीका द्योतक है।

इसी अपूर्व प्रारम्भको समझे विना यह जीव पुण्यके फलसे अनंतवार नववें ग्रैवेयक तक गया। मैं स्वाधीन स्वरूप हूं, परके आश्रयसे रहित हूं, यह भूलकर जैनके महाव्रतादि भी धारण किये। वस्त्रके एक सूतसे भी रहित नग्न दिगम्बरदशा धारण करके उग्र शुभभाव सहित अनंतवार पंच महाव्रत पालन किये, उत्कृष्ट तप किया। किसीने अग्निमें जला दिया, तो भी किंचित् मात्र क्रोध नहीं किया। तथापि, सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि "ऐसा अनन्तवार करने पर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ। मात्र वह उच्च पुण्य करके स्वर्गमें गया। उसे स्वरूपकी पूर्ण स्वाधीनताकी यह बात नहीं जम पाई कि आत्मा परसे निराला है और पुण्य-पापकी उद्भूतवृत्तिसे परमार्थतः मैं भिन्न ही हूं। मैं मनकी सहायतासे शुद्ध दशाको प्रगट नहीं कर सकता।"

शास्त्रके प्रारम्भमें सर्व सिद्धोंकी भावस्तुति और द्रव्यस्तुति

करके अपने तथा परके आत्माको सिद्ध समान स्थापित करके उसका विवेचन करते हैं। मन, वाणी, देह तथा शुभाशुभ वृत्तिसे मैं भिन्न हूं, इस प्रकार शुद्धात्माकी ओर उन्मुख हो कर तथा रागवृत्तिसे हट कर अन्तरंगमें स्थिर होना सो भाव-स्तुति है। शेष शुभभावरूप स्तुति करना सो द्रव्य-स्तुति है। इसमेंसे पहले अपना आत्मा सिद्ध परमात्माके समान है, इस प्रकार अपनेको स्थापित करके कहे कि मुझमें सिद्धत्व-पूर्णता है। किसीको भले ही यह छोटे मुँह बड़ी बात मालूम हो किंतु पूर्ण स्वरूपको स्वीकार किये बिना पूर्णका प्रारम्भ कैसे होगा?

ज्ञानी कहते हैं कि 'तू प्रभु है'। इसे सुनते ही लोग चिचक जाते हैं और कहते हैं कि अरे! आत्माको प्रभु कैसे कहा! ज्ञानी कहते हैं-'सभी आत्मा प्रभु हैं।' बाह्य विषय-कषायमें जिनकी दृष्टि है वे आत्माको प्रभु माननेसे इन्कार करते हैं। किन्तु यहां तो कहते हैं कि मैं सिद्ध हूं इस प्रकार विश्वास करके 'हां' कहो! पूर्णताके लक्षके बिना वास्तविक प्रारम्भ नहीं होता। मैं पामर हूं, मैं हीन हूं, यह मानकर जो कुछ करता है उसके परमार्थतः कोई प्रारम्भ नहीं होती। 'मैं प्रभु नहीं हूं' यह कहनेसे 'ना' में से 'हां' प्राप्त नहीं होता। यदि कोई केंचुएको दूध-शक्कर पिलाये तो वह नाग नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई पहलेसे ही अपनेको हीन मानकर पुरुषार्थ करना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता। नागका बच्चा केंचुएके बराबर होने पर भी फुफकारता हुआ नाग ही है। वह शक्तिशाली होता है। छोटा नाग भी फणिधर है। इसी प्रकार आत्मा वर्तमान अवस्थामें भले ही शक्तिहीन दिखाई दे तथापि स्वभावसे तो वह सिद्ध समान पूर्णदशा वाला है, इसलिए आचार्य महाराज पहलेसे ही पूर्ण सिद्ध, साध्यभावसे बातको प्रारम्भ करते हैं। उन्हें कितनी उमंग है!

लोग भी पूर्णकी भावनाके गाना गाते हैं। शादीके समय ममता-भावसे गीत गाये जाते हैं कि 'मोतियन चौक पुराये' अथवा 'मोतियन थाल भराये'। भले ही घरमें एक भी मोती न हो किन्तु ऐसी भावना करते हैं। इसी प्रकार कहते हैं कि 'हाथी झूमे द्वार पर।'

भले ही घरमें एक गाय भी न हो। बात यह है कि संसारी जीवोंके गीत अपनी ममता, स्नेह और अनुकूलताको लेकर होते हैं। इसी न्यायके अनुसार आत्मा स्वयं परसे भिन्न परिपूर्ण अखण्ड है। इसलिए वह पूर्णताकी भावना प्रगट करता है। चालमें कुलांट खाकर विकारमें खड़ा है, इसलिए विकारमें पूर्णकी तृष्णा प्रगट करता है। 'मोतियन चौक पुराये, मोतियन थाल भराये' अथवा 'हाथी झूमे द्वार पर' इत्यादि अनन्त तृष्णाका भाव भीतरसे आया है। स्वयं अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है। उससे कुलांट खाकर ऐसे अनन्त तृष्णाके विपरीत भाव करता है।

कभी कभी कहा जाता है कि 'आज तो सोनेका सूर्य उगा है।' भला यह प्रतिदिन नहीं और आज क्यों? जिस बातकी महिमाको जाना, उसीकी महिमाके गीत गाता है। उस संसारकी वृत्तिको बदलवाकर यहाँ पर पूर्ण पवित्रताकी भावना है। आचार्यदेव कहते हैं कि जो अपूर्व आत्मधर्मको चाहता है, उसे 'मैं सिद्ध परमात्मा हूं' इस प्रकारकी दृढ़ता की स्थापना अपने आत्मामें करनी होगी। स्वयं पात्र होकर पूर्णकी बात सुनते ही 'हा' कहनी होगी। किन्तु जिसका सुंघनी, जर्दा या बीड़ीके बिना काम नहीं चलता, उससे कहा जाय कि तू परमात्मा है तो वह इस बातको किस मनसे बिठायेगा? 'पुण्य-का संयोग भी मुझे नहीं चाहिए, परमाणु मात्र मेरा नहीं है, राग-द्वेष उपाधि मेरा स्वरूप नहीं है' इस प्रकार पूर्ण आत्माके निर्णयके द्वारा अपने आत्मामें और पर आत्मामें सिद्धत्वकी स्थापना करके कहते हैं कि मैं जिन्हें सुनाता हूँ वे सब प्रभु हैं। यह देखकर प्रभुत्वका उपदेश देता हूं। आचार्यदेव घोषणा करते हैं कि मैं पूर्ण पवित्र सिद्ध परमात्मा हूं और तुम भी स्वभावतः पूर्ण ही हो, यह बात तुम्हें निस्सन्देह समझ लेनी चाहिये। प्रत्येक आत्मामें पूर्ण प्रभुत्वशक्ति भरी हुई है। ज्ञानी कहते हैं कि उसकी 'हाँ' कह। उससे इन्कार करने वाला प्रभुत्वदशाको कैसे प्रगट कर सकता है?

प्रश्न:—बहुतसे लोग कहते हैं कि हम परमात्मा हैं, तब हम

सम्बन्धमें आप क्या कहते हैं ?

उत्तरः—ऐसी बातें करनेसे अन्तरंग अनुभवके साथ मेल नहीं बैठता। मनके पहाड़ेमें यह धारण कर रखा हो कि सात पंचे पैंतीस होते हैं, किन्तु ठीक मौका पर पहाड़ेका हिसाब न जमा सके तो उसका निश्चय किया हुआ ज्ञान किस कामका? इसी प्रकारमें राग-द्वेष-मोहसे रहित पूर्ण प्रभु हूँ, इस प्रकार निरंतर अखण्ड स्वभावकी प्रतीति न रहे तो मनका धारण किया हुआ विचार किस कामका ?

आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं प्रभु हूँ, पूर्ण हूँ' इस प्रकार निश्चय करके तुम भी प्रभुत्वको मानो और उस पूर्ण पवित्र दशाको प्रगट करनेका उपाय जिस प्रकार यहाँ कहा गया है उसी प्रकार उसे यथार्थ ग्रहण करो। कहा जाता है कि पूतके लक्षण पालनेमें मालूम हो जाता है। यहां पर आचार्य देव कहते हैं कि हम प्रभु हैं और तुम भी प्रभु हो, पहले इस बातकी स्वीकृति जमती है या नहीं। कोई कहता है कि छोटी थैलीमें बड़ी थैलीके रुपये कैसे समा सकते हैं? किन्तु भाई! तू अनन्त ज्ञान-आनन्दरूप है, इसलिए तू इतना बड़ा 'प्रभु स्वरूप' है। ऐसी बात सुनकर समझकर और उसे जमाकर, अन्तरंगसे स्वीकार कर। यदि कोई भाग्यशाली पिता पुत्रसे कहे कि तू इतनी रकम लेकर अमुक व्यापार कर, तो वह 'हां ही कहेगा। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान और अनन्तज्ञानी आचार्योंने सभी आत्माओंको पूर्णतया देखा है। तू भी पूर्ण है, परमात्माके समान है। ज्ञानी स्वभावको देखकर कहते हैं कि तू प्रभु है, क्योंकि भूल और अशुद्ध तेरा स्वरूप नहीं है। हम भूलको नहीं देखते, क्योंकि हम भूल रहित पूर्ण आत्मस्वभावको देखने वाले हैं और ऐसे पूर्ण स्वभावको स्वीकार करके उसमें स्थिरताके द्वारा अनन्त जीव परमात्म-दशा रूप हो चुके हैं, इसलिए जो तुमसे हो सकता है, वही कहा जा रहा है।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य पहले सिद्धोंको नमस्कार करके पहली

सब मार्ग बना लेना। दृष्टि खुलनेके बाद अल्प राग रहेगा, किन्तु गुणको रोकने वाला वैसा राग नहीं रहेगा। यह विश्वास और रुचि वही कर सकता है जिसका शरीर, वाणी और मनकी प्रवृत्तिसे अहंकार उठ गया है। 'मैं पुण्य-पाप, उपाधि रहित, असंग ही हूँ, ज्ञाता ही हूँ,' जिसे ऐसा ज्ञान है वह सतके प्रति अपनी रुचि प्रगट करता है। जिसे अन्तरंगमें-आत्मामें, परमात्माकी बात जम गई है, वह भविष्यकी अपेक्षासे साक्षात् सिद्ध ही है। जिन्हें मुक्तिकी बात सुनते ही पसीना आ जाता है और प्रभु कहते ही जो हाय-तोबा मचा देते हैं, उनके लिये ज्ञानी कहते हैं कि हम सबको प्रभुके रूपमें देखकर कह रहे हैं। क्षणिक उपाधिके भेदको सुनकर रुक मत जाओ। मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम सिद्ध समान प्रभु हो। जब तक हमको ऐसा विश्वास अपने आप नहीं हो जाता, तब तक सर्वज्ञ परमात्माके द्वारा कही गई बातें तुम्हारे अन्तरंगमें नहीं जम सकतीं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं तुझे परम-सत्य सुनाऊँगा। उसे श्रवण करते हुए तू एक बार अंतरंगमें इतना स्वीकार कर कि श्रवण सम्बन्धी राग मेरा नहीं है। मैं अरागी, अखण्ड, ज्ञायक प्रभु ही हूँ। दूसरी बात यह है कि जैसे सिद्धको सुनने इत्यादिकी इच्छा नहीं है, उसी प्रकार मुझे भी नहीं है। सिद्ध भगवानका आत्मा जितना बड़ा है, उतना मेरा भी है। ऐसा निर्णय कर। इस प्रकार यह समयसार शास्त्र (आत्मस्वभाव) का कथन है। इस शास्त्रको भाव वचनसे अर्थात् अन्तरंग एकाग्रतासे और द्रव्य वचनसे अर्थात् शुभभावसे कहूँगा। इसके बाद कहते हैं कि मैं अनुभव प्रमाणसे कहूँगा, उसे अवश्य स्वीकार कर लेना, कल्पना मत करना।

यहां एक दृष्टान्त देते हैं:—

पूर्वभवमें द्रौपदीका एक धनिक सेठके यहां विषकन्याके रूपमें जन्म हुआ था। उसमें यह विशेषता थी कि जो भी उसे पत्नीके भावसे स्पर्श करेगा, उसके शरीरमें विषैला दाह उत्पन्न हो जायगा। इसीलिए उस

विषकन्याका धनाढ्य पिता विचार करने लगा कि इस कन्याके साथ कौन विवाह करेगा ? अपनी जातिका कोई भी व्यक्ति ग्रहण नहीं करेगा।

एक दिन मार्गमें एक पुण्य-हीन भिखारी जा रहा था। उसके वस्त्र फटे हुए, लकड़ी टूटी हुई और भिक्षा-पात्र फूटा हुआ था। तथा उसके शरीर पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। उसे देखकर सेठने विचार किया कि इस भिखारीको अपने घर रखकर अच्छे कपड़े पहनाऊँगा, इसका शृंगार करूँगा और इसे धन देकर अपनी पुत्रीके साथ विवाह कर दूंगा। ऐसा विचार करके उसने अपने नौकरको वैसा करनेकी आज्ञा दी।

नौकर उस भिखारीको घरमें ले आया और उसे नये वस्त्राभूषण पहनानेके लिये उसके फटे–पुराने कपड़ोंको उतारने लगा, तब वह भिखारी बड़े जोरसे चिल्लाने लगा। उस भिखारीके जो वस्त्र और भिक्षा–पात्र इत्यादि फेंक देने लायक थे, उन्हें नौकर फेंकने लगा कि— वह अज्ञानी भिखारी और अधिक रोने–चिल्लाने लगा। सेठने उसके रोनेका कारण पूछा, तो नौकरने कहा कि मैं इसका पुराना वेश उतारता हूँ इसलिये यह चिल्लाता है। इसके पुण्य नहीं है, इसलिए वह पहलेसे ही घरमें प्रवेश करनेसे ही इन्कार कर रहा है और चिल्ला रहा है कि मेरे कपड़े इत्यादि उतारे जा रहे हैं; किन्तु वह यह नहीं सोच सकता कि भले आदमीके घरमें बुलाया है तो इसमें कोई कारण तो होगा !

सेठने जान लिया कि भिखारी पुण्य-हीन और अज्ञानी है, तथापि विश्वास उत्पन्न करनेके लिये उसका पुराना वेष-भूषा बाहर न फिकवा-कर वहीं एक कोनेमें रख देनेको कहा। पश्चात् उसे स्नान करवाकर और अच्छे वस्त्राभूषणादि पहनाकर लग्न-मण्डपमें बिठाया। ज्यों ही उसका विष-कन्याके साथ हस्तमिलाप कराया गया त्यों ही उसके शरीरमें विष-कन्याके विषका दाह उत्पन्न हो गया।

भिखारीके पुण्य तो था नहीं, इसलिए उसने विचार किया कि मैं

जो चिल्लाता है, इन्कार करता है, उसके मनमें आचार्यभगवानकी बात नहीं जमती।

जैसे पहले भिखारीके घर पुण्य नहीं था, इसलिए उसके मनमें सेठकी बात नहीं जमी, इसी प्रकार ज्ञानीने अनन्त दुःखको दूरकर अनन्त सुखका उपाय बताया कि तो यह मनमें पहले इन्कार कर बैठता है। क्योंकि उसे अपनी महत्ताका और पूर्णताका विश्वास नहीं है। अंतरंगमें पुरुषार्थ दिखाई नहीं देता, इसलिए वह अनादिसे अनंत संसारका भिखारी रहना चाहता है। जितना जीव पुण्य पापरूप बन्धन-भावमें लगा रहता है वह आत्माका स्वभाव नहीं है। जैसे हिंसा, झूठ, अव्रत आदि अशुभ भावसे पाप-बन्ध होता है उसी प्रकार दया, सत्य, व्रत आदि शुभ भावसे पुण्य-बंध होता है, धर्म नहीं। मात्र आत्माके शुभभावसे ही धर्म होता है। इस प्रकार पहली बातके सुनते ही अज्ञानी चिल्लाहट और घबराहट मचा देता है तथा कहता है कि इससे तो स्वर्ग या पुण्य भी नहीं रहा; हमें यह प्रारम्भमें तो चाहिए ही है; उसके बाद भले ही छोड़नेको कहो! किन्तु ज्ञानी कहता है कि उसे श्रद्धामें पहलेसे ही छोड़ दे। मैं सिद्ध समान हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिए, इस प्रकार एक बार तो स्वीकार कर, फिर तू रागको दूर करनेका उपाय समझे बिना न रहेगा! तू मोक्षस्वरूप है, इसे एकबार स्वीकार कर।

आचार्यदेव मोक्षका मंडप तानकर तुझमें मोक्षपद स्थापित करते हैं। एकबार धर्म अर्थात् स्वभावका निश्चय कर, तो तुझे ऐसी महिमा स्वतः प्रगट हो जायगी कि मैं पूर्ण परमात्मा हूँ। जैसे सिद्ध परमात्मा हैं वैसा ही तू है। वर्तमान क्षणिक अपूर्णताको न देखकर अपने अविनाशी पूर्ण स्वभावको देख। यदि ऐसा विश्वास अन्तरंगमें लाये और उसकी महिमाको समझे तो वह सिद्ध परमात्मा हुए बिना न रहे। किन्तु जिसे पहलेसे ही यह विश्वास जमा हुआ है कि यहाँ न तो प्रभुता है और न पुण्यके बिना अकेला आत्मा रह सकता है, वह केवलीके पास रहकर भी कोराका कोरा ही रहा। वह क्रियाकाण्ड करके थक गया और पुण्यके भावमें चक्कर लगाता रहा। पुण्य तो

क्षणिक संयोग देकर छूट जायेगा। उससे आत्माको क्या मिलनेवाला है? मैं परसे भिन्न हूं, पुण्यादिकी सहायताके बिना अकेला पूर्ण प्रभु हूं, इस विश्वासरो जिसने अंतरंगमें काम नहीं लिया, वह पुण्यादिमें मिठास मानकर बाह्यमें संतुष्ट होकर रुक रहा है। मुक्तिकी श्रद्धाके बिना पुण्य-बन्ध किया, किन्तु अवसर आने पर सत्यको सुनते ही चिल्लाता है कि ऐसा नहीं हो सकता। उसके मनमें यह बात नहीं जमती कि पुण्यादि अथवा परावलम्बन इष्ट नहीं है, अथवा कोई पर-वस्तु इष्ट नहीं है।

जिसकी रुचि होती है, उसकी भावनाकी हद नहीं होती। तू अखण्डानन्द अकेला परमात्मा प्रभु ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि सुनो! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी यह आज्ञा है कि पूर्ण-की रुचि और अपार स्वभावको स्वतंत्ररूपमें पोषित करो। भाव और द्रव्यस्तुतिसे मोक्षके उपायका प्रारम्भ होता है। परम कल्याण स्वयं ही अपने पूर्ण पदको मानने-जाननेसे और उसमें एकाग्र होने से ही होता है।

यह अद्भुत बात कही है। यह बात जिसके जम जाती है, उसके सब झगड़े दूर हो जाते हैं। सभी आत्मा सिद्ध समान प्रभु हैं और स्वतंत्र हैं। यह जाननेमें विरोध कहां है? जिसने सिद्ध परमात्माके साथ अपना मेल किया उसने यह जान लिया कि वह स्वयं सिद्ध समान है। तब फिर वह किसके साथ विरोध करेगा? सिद्धमें जो नहीं है वह मेरा स्वरूप नहीं है, और सिद्धमें जो कुछ है वह मेरा स्वरूप है। ऐसा परमात्मभाव दिखाई देने पर उससे विरुद्ध जो शुभाशुभ परिणाम दिखाई देते हैं, उन्हें निकाल देनेसे मात्र पूर्णस्वरूप रह जायगा। जिस-जिसने अपने पूर्ण परमात्मपदको पहिचानकर अपनेमें उसकी [illegible] स्थापना की है, वह पुण्य-पापादि अन्य किसीकी स्थापना नहीं करेगा। लोकोत्तर स्वरूपके माहात्म्यके लिये सिद्ध हमारे इष्ट हैं, उन्हें हम अपने आत्मामें स्थापित करते हैं, स्वतन्त्र ज्ञायकरूप, निर्मल, निर्विकल्प, सिद्धसमान मेरा स्वरूप है और वह स्वतः ऐसा है। उसकी रुचि

है। अहो! कितनी विशाल दृष्टि है! प्रभु होनेका उपाय अपनेमें ही है। यथा:—

चलते फिरते प्रगट प्रभु देखूँ रे!
मेरा जीवन सफल तब लेखूँ रे!
मुक्तानन्दके नाथ बिहारी रे!
शुद्ध जीवन डोरी हमारी रे!

पुण्य-पाप इत्यादि जो पर हैं वे मेरे हैं। मैं परका कुछ कर सकता हूँ, इस प्रकारकी मान्यता पाप है। उसे जो हरता है सो हरि है, (हरि = आत्मा)। विशाल दृष्टिका अर्थ है स्वतंत्र स्वभावको देखने की सच्ची दृष्टि। मैं भी प्रभु हूँ, तुम भी प्रभु हो। कोई एक दूसरेके आधीन नहीं है। इस प्रकार जहाँ स्वतंत्र प्रभुत्व स्थापित किया, वहाँ किसके साथ वैर-विरोध रह सकता है? सबको पवित्र प्रभुके रूपमें देखनेवाला आत्माके निर्विकारी स्वभावको देखता है। वह उसमें छुटाई-बड़ाईका भेद नहीं करता। जगत्‌में कोई शत्रु उत्पन्न नहीं हुआ है, वैर-विरोध तो अज्ञानभावसे-कल्पनासे मान लिया गया है।

त्रैकालिक ज्ञानस्वभावमें जाननेरूप क्रिया होती है। उसे भूलकर परको अच्छा या बुरा मानकर आकुलता क्यों करता है? हे भाई! इस अनन्तकालमें दुर्लभ मानव-जीवन और उसमें भी महामूल्य सत्समागम तथा उनकी वाणीका श्रवण प्राप्त होता है, तथापि अपने स्वतंत्र स्वभावको न माने, यह कैसे चल सकता है?

बाप बेटेसे कहे कि 'बेटा! यह कमाईके दिन हैं। यदि अभी न [illegible]येगा तो फिर कब कमायेगा। अभी दो महिने परिश्रमसे बारह [illegible] रोटियाँ निकल सकती हैं।' सो यह तो धूल समान है, [illegible] त्रिलोकीनाथ वीतराग भगवान कहते हैं कि मनुष्य जीवन [illegible] सुननेका सुयोग प्राप्त हुआ है। मोक्षका मंडप तैयार [illegible]क स्वभाव है; उसमें तुझे स्थापित किया जाता है। [illegible] विरोध नहीं है। चैतन्य आत्माके स्वभावमें विरोध

नहीं है, इसलिए मेरा स्वभाव भी वैर-विरोध रखना नहीं है; किंतु विरोध-दोषका नाशक है, क्योंकि सिद्धमें दोष नहीं हैं। पूर्ण होनेसे पूर्व पूर्णके गीत गाये हैं। जहाँ शंका है, वहीं रोना है। ज्ञानी तो प्रभुताको ही देखता है।

आत्माका पूर्ण अविकारी स्वरूप लक्ष्यमें लेना निर्मल परिणामी की डोरीका साध्य (लक्ष्य-ध्येय) शुद्धात्मा ही है। दूसरेके प्रति लक्ष्य नहीं करना है। ऐसे निर्णयके बाद जो अल्प अस्थिरता रह जाती है, उससे गुणका नाश नहीं होने देगा। संसारी योग्य जीवको सिद्धके समान स्थापित किया है। उसका आश्रय लेने वालेको बादमें उसमें यह सन्देह नहीं रहता कि मैं एकाग्रताके द्वारा निर्मलभाव प्रगट करके अल्पकालमें साक्षात सिद्ध होऊँगा।

संकल्प-विकल्प और इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है। मैं परसे भिन्न हूँ। इस प्रकार स्वतंत्र स्वभावको प्रगट करके जाग्रत होता है। उसमें कोई काल और कर्म बाधक नहीं होते। कर्म तो जड़-मूर्तिक हैं। वे स्वभावमें प्रविष्ट नहीं हुए हैं। क्योंकि आत्मा सदा अपने रूपमें है, पर रूपमें नहीं है। जो तुझमें नहीं है, वह तुझे तीन काल और तीन लोकमें हानि नहीं पहुँचा सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपेक्षासे है, परकी अपेक्षासे नहीं है। इसलिए कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके हानि-लाभका कारण नहीं है। तथापि विपरीत कल्पना करके विपरीत मान्यताने घर कर लिया है। जो यह कहता है कि मेरे लिए कर्म बाधक हैं, जड़-कर्मोंने मुझे मार डाला, उन्हें सुधरना नहीं है। तेरी भूलके कारण ही राग-द्वेष और विकाररूप संसार है। अपने बड़प्पनको भूलकर दूसरेको बड़प्पन देता है, मानो तुझमें पानी—(बल) ही नहीं। तू मानता है कि पर तुझे हैरान करता है या सुख दुःख दे देता है, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अपनेको पूर्ण और स्वतंत्र प्रभु न माने तो भी स्वयं वैसा ही है। अपने स्वभावसे विपरीत मानने पर भी स्वभाव बदल नहीं जाता। जो अपने आत्माको परमार्थतः सिद्ध समान मानकर निरन्तर ध्याता है, वह उन्हीं जैसा हो जाता है।

भ्रमण कर रहा है। यदि वह एकबार सिद्ध-स्वरूपभावमें आराम ले तो विश्रांति मिले। पुण्य-पापकी ओरका जो पर भाव है उसके निमित्तसे चौरासीमें परिभ्रमण हो रहा था। अब यदि वह स्वभावके घरमें आवे तो शांति मिले। अज्ञानी जीव भी अपने द्वारा माने गये कल्पित घरमें आकर शांतिका अनुभव करते हैं।

जैसे एक आदमी धन कमानेके लिए परदेश गया। वहां वह एक नगरसे दूसरे नगरमें और दूसरे नगरसे तीसरे नगरमें गया, वहां उसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पश्चात् वह द्रव्य कमाकर अपने घर आया जहाँ उसे विश्रांतिका अनुभव हुआ और वह वहाँ पर जम गया, तथा विचार करने लगा कि इस जगह बंगला बनाना चाहिए क्योंकि मुझे जीवन-पर्यन्त यहीं रहना है, किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि उसकी आयु कब पूर्ण हो जायेगी और वह यहांसे कब, कहां चला जायेगा! ज्ञानी कहते हैं कि वह अपनी रुचि विचार और प्रवृत्तिके अनुसार दूसरे भवमें जायगा। यदि इस समय भवके अभावका निर्णय न किया तो यह जीवन किस कामका? विपुल द्रव्य कमाया और कदाचित् देवपद प्राप्त किया, तो भी किस कामका? जो सिद्ध भगवान ऐसी गतिको प्राप्त हुए हैं, उस सिद्धपदको पहिचानकर उसे हृदयमें स्थापित कर वन्दना करते हैं। पहचाने बिना कोरी वन्दना किस कामकी?

समयसार अर्थात् आत्मा शुद्धस्वरूप है परनिमित्ताधीन जो शुभ-शुभ वृत्तियां उठती हैं वे मूलस्वभाव नहीं हैं। जैसे—पानीका मूलस्वभाव निर्मल है, उसी प्रकार आत्माका मूलस्वभाव पवित्र, ज्ञान—आनंद स्वरूप है। भूल और आकुलता आत्माका स्वरूप नहीं है। ज्ञाता दृष्टा और स्वतंत्रताका भाव क्या है, यह बतलानेके लिये इस शास्त्रकी व्याख्या की गई है। पहले "वन्दित्तु सव्वसिद्धे" कह कर प्रारंभ किया है। जिसकी पूर्ण पवित्र स्वभाव दशा प्रगट हो गई है, उसे मुक्तदशा अर्थात परमात्मभाव कहा जाता है। उसका अन्तरंगसे आत्मामें आदर होना चाहिए। जैसा परमात्माका स्वरूप है वैसा ही मेरा है। मैं उसका आदर करता हूं। पुण्य-पाप आदिका आदर नहीं करता।

इस प्रकार अन्तरंगसे निर्णय होना ही प्रारंभिक धर्म है।

मैं बन्ध–विकार रहित हूँ। यह निश्चय करते ही मैं परमात्मा–सिद्ध समान हूँ, यह स्थापित किया अर्थात् सिद्ध परमात्माको भावसे अपने आत्मामें स्थापित किया, उसीका आदर करके 'मैं ही वैसा आत्मा हूँ, इस प्रकारका दृढ़ निश्चय करना सर्व प्रथम उपाय है, अथवा बंधनसे मुक्त होनेका मार्ग है। सिद्ध भगवान नीचे नहीं आते; किन्तु जिसके अंतःकरणमें, ज्ञानमें ऐसी दृढ़ता हो गई कि मैं सिद्ध परमात्माके समान हूँ, उसके विरुद्धभावका नाश होकर ही रहता है।

श्रद्धासे मैं पूर्ण, परमात्मा, अशरीरी, अबन्ध हूँ; इस प्रकार मोक्ष स्वभावका निर्णय करनेके बाद अल्प राग-द्वेष और अस्थिरता रह सकती है। किन्तु वह उसे दूर करना चाहता है, इसलिए वह रहेगी नहीं; लेकिन दूर हो जायगी। उसके बाद मात्र पूर्ण आनन्द रह जायेगा। यह समझकर ध्रुव, अचल, अनुपम गतिको अपनेमें देखकर भावमें एकाग्ररूप वन्दना करता है। जिस मोक्षगतिको सिद्ध भगवानने प्राप्त किया है वह अनुपम है, अर्थात् जगतमें जितने पदार्थ हैं, सबकी उपमासे रहित हैं। इसलिए जैसे उनमें कोई उपाधि अथवा कमी नहीं है वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार समझ कर परमात्माकी वन्दना करता है। इसलिए वह अपरमात्मत्व–विरोधभाव, राग-द्वेष और अज्ञानभावको आदर नहीं देना चाहता। एक पदार्थको दूसरे पदार्थके साथ मिलाने पर किंचित् उपमा मिल सकती है, किन्तु भगवान आत्मा को जगतकी किसी भी वस्तुकी उपमा नहीं दी जा सकती। वह ऐसा परम अनुपम पद है।

अज्ञानीने जड़में आनन्द मान रखा है, किन्तु कहीं जड़में से सुख नहीं मिला। मात्र कल्पनासे मान रखा है। सब पदार्थोंसे भिन्न अपना शुद्ध चिदानन्दस्वरूप ज्ञायकभाव है। उसीका आदर करे और सब पदार्थोंसे भिन्नता करे तभी अनुपम मोक्षदशा प्रगट होती है। संसारके किसी पदार्थकी कोई उपमा इस दशाको नहीं दी जा सकती। जैसे-[illegible] कैसा है? यह पूछने पर उस

घी को दूसरे पदार्थकी उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उसकी लाज्जती और उसकी मिठासकी उपमाके योग्य दूसरा पदार्थ नहीं मिलता। प्रायः सभीको घी व्यवहारसे प्राप्त है। उसे कई बार खाया है, तथापि उसका स्वाद वाणीमें व्यक्त नहीं किया जा सकता। तब फिर जो आत्मा परमानन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय है, वह वाणीमें कैसे आ सकता है?

आत्माका स्वरूप अनुपम है, इसलिए उसकी प्राप्ति और उसका उपाय बाह्य साधनसे नहीं हो सकता। 'शुभकी प्रवृत्ति अथवा मन' वाणी और देहकी प्रवृत्ति इत्यादि कोई मेरी वस्तु नहीं है, इसलिये मेरे लिए सहायक नहीं है। हित-अहितका कारण मैं ही हूँ। इस प्रकार धर्मात्मा अपने शुद्धस्वरूपको पहिचानकर वन्दना करता है, आदर करता है।

अज्ञानी जीव आमरस और पुरी तथा गुलाबजामुन इत्यादि खाता है, तब खाते खाते चप-चप आवाज होती है, उसमें वह लीन होकर स्वाद मानकर हर्षित होता है। किंतु वह आमरस, पुरी अथवा गुलाबजामुन मुँहमें डालकर और चबाकर गलेमें उतारनेसे पूर्व दर्पणमें देखे तो मालूम हो कि मैं क्या खा रहा हूँ? वह कुत्तेकी के (वमन) जैसा दृश्य मालूम होगा! किन्तु रसका लोलुपी स्वाद मानता है और यह नहीं देखता कि मैं गलेमें क्या उतार रहा हूँ। मिठासकी उपमा देकर वह गद्गद् हो जाता है, किंतु यह नहीं सोचता कि धूल जैसे परमाणुओंकी अवस्थाका वह रूपान्तर मात्र है। क्षणभरमें मिठाई, क्षणभरमें जूठा और क्षणभरमें विष्टा हो जाता है। इस प्रकार परमाणुकी त्रैकालिक वस्तुस्थितिको देखे, तो उसको परमें सुखबुद्धि न हो। और फिर परमें सुख है, ऐसी अपनी मानी हुई कल्पना किसी अन्य वस्तुमेंसे नहीं आती; किन्तु अपने शुभ गुणको विकृत करके स्वयं हर्ष-विषाद मानता है और अच्छे-बुरेकी कल्पना करता है। यदि उस विकारको दूर कर दे तो पूर्ण आनन्दरूप मोक्षगति आत्मामेंसे ही प्रगट होती है। उसके लिए कोई उपमा नहीं मिलती। विकार अथवा उपाधिरूपमें नहीं हूँ, इस प्रकार पहले श्रद्धासे विकारका त्याग करना चाहिए।

जैसे गुड़ और शक्कर दोनोंकी मिठासका अनुभव होता है और उन दोनोंकी मिठासका पृथक्-पृथक् अन्तर भी ज्ञानमें जाना जाता है, किन्तु वाणी द्वारा सन्तोषकारक वर्णन नहीं किया जा सकता। इसीप्रकार सिद्धपद ज्ञानमें जाना जाता है, किन्तु वह कहा नहीं जा सकता। सबसे अनुपम, आत्माका पवित्र स्वरूप वह अचिन्त्य पद सबसे विलक्षण है। इस विशेषणसे यह बताया गया है कि चारों गतियोंमें जो परस्पर किसीप्रकार समानता दिखाई देती है, वैसा कोई प्रकार इस पंचमगतिमें नहीं है।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी; ये चारों गतियाँ सदा विद्यमान हैं, कल्पित नहीं हैं। वे जीवोंके परिणामका फल हैं। जिसने दूसरेको मार डालनेके क्रूर भाव किये उसने अपनी अनुकूलताके साधनके लिए बीचमें विघ्न करनेवाले न जाने कितने जीव मार डाले, उनकी संख्याकी कोई सीमा नहीं है। तथा मैं कितने काल तक मारता रहूँगा, इसकी भी सीमा नहीं है। इसलिए उसका फल असीम—अनन्त दुःख भोगना ही है। और उसका स्थान है नरक। यह कोई वृथालाप नहीं है। जो भी प्रतिकूलताको दूर करना चाहता है वह अपने तमाम बाधक-विरोधियोंको मारना चाहता है। भले ही मरने वाले अथवा बाधा डालने वाले दो चार हों या बहुत हों, वह सबको नाश करनेकी भावना करता है। उसके फलस्वरूप नरक-गति प्राप्त होती है। यह कोरी गप्प नहीं है। देह, मकान, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा इत्यादि सब मेरे हैं, इस प्रकार जो मानता है, वह परमें ममत्ववान होता हुआ महा हिंसाके भावका सेवन करता है। क्योंकि उसके अभिप्रायमें अनन्त काल तक अनन्त भव धारण करनेके भाव विद्यमान हैं। उन भावोंकी अनन्त संख्यामें अनन्त जीवोंको मारनेका उनके संहार करनेका भाव है। इस प्रकार अनन्त काल तक अनन्त जीवोंको मारनेके और उनके [illegible] भावोंका सेवन किया है। जिसके फलस्वरूप [illegible] दुःखके [illegible] प्राप्ति होती है और वह नरकगति है। लाखों [illegible] बार [illegible] होना इस मनुष्यलोकमें संभव नहीं है। [illegible]

होता है। किन्तु ज्ञानी इसे नहीं मानता और कहता है कि हे भाई! पहले तू अपनेको समझ। आचार्यदेवने ग्रंथका बहुत ही अद्भुत प्रारम्भ किया है। और कहा है कि पहले सच्ची समझको पाकर अपनी स्वतंत्रताका निर्णय कर। इससे तुझमें पूर्णताका स्थापन किया है।

कोई कहता है कि यह तो छोटे मुँह बड़ी बात हुई। अभी मुझमें कोई पात्रता नहीं है और मुझे भगवान बना देना चाहते हैं? किंतु अभी 'हाँ' कह कर उसका आदर तो कर। तू परम शुद्ध स्वरूप है। थोड़ी सी बातमें (अच्छे-बुरेसे) अटक जानेमें तुझे शुद्ध आत्माका प्रेम कहांसे हो सकता है? जिसे देहादिमें अत्यधिक आसक्ति है, उसे ऐसा पवित्र ज्ञाता-द्रष्टा पूर्ण आनन्दस्वरूप कैसे जमेगा? किन्तु एकबार तो इस ओर कुलांट लगा! यदि सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहे गये सत्यको सुनना चाहता है तो वह स्वीकार कर कि जैसे परमात्मा पूर्ण पवित्र हैं वैसा ही तू भी है। इसे स्वीकार कर; इन्कार मत कर! पूर्णका आदर करनेवाला पूर्ण हो जायगा। मैं विकार रहित हूं और तू भी विकार या उपाधि रहित ज्ञानानन्द भगवान है। इस प्रकार अपने आत्मामें भगवत्ता स्थापित करके-निर्णय करके मोक्षगति कैसी है, यह सुनाते हुए आचार्यदेव मोक्ष-मंडली का प्रारम्भ करते हैं। और कहते हैं कि अब परमपूज्य सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहे हुए तत्त्वको कहता हूं, सो सुनो।

समयका प्रकाश अर्थात् सर्व पदार्थ अथवा जीव पदार्थका वर्णन करनेवाला जो प्राभृत यानी अर्हंत प्रवचनका अवयव (सर्वज्ञ भगवानके प्रवचनका अंश) है उसका मैं अपने और तुम्हारे मोह तथा कालुष्य का नाश करनेके लिये विवेचन करता हूं।

जिसमें राग-द्वेष, अज्ञान नहीं है वे पूर्ण ज्ञानी परमात्मा हैं। उनके मुखकमलसे (वाणीसे) साक्षात् या परम्परासे जो प्रमात्तरूप मिला है उसे ही मैं कहूंगा; कुछ अपने घरका-मनमाना नहीं कहूंगा। जैसे कोई मकान खरीद कर दस्तावेज लिखवाता है, तो उसमें पूर्व, पश्चिम आदिकी निशानी लिखवाता है, और इस प्रकार तमाम प्रमाणको निश्चित

कर लेता है। उसमें चाहे जिस आदमीके दस्तखत नहीं चल सकते। इसीप्रकार आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि मैं सर्वज्ञके आगम-प्रमाणसे यह 'समयप्राभृत' शास्त्र कहूंगा। मुझे कुछ मनमानी, ऊपरी या व्यर्थकी बातें नहीं कहना है किंतु जो कहूँगा वह साक्षात् और परम्परासे आगत परमागमसे ही कहूँगा। उसमें सम्पूर्ण प्रमाणपूर्वक सम्पूर्ण सत्य बताऊँगा। जैसे दोजका चन्द्रमा तीन प्रकारोंको बताता है—दोजकी आकृति, सम्पूर्ण चन्द्रमाकी आकृति और कितना विकास शेष है; इसीप्रकार यह परमागम आत्माकी पूर्णता, प्रारम्भिक अंश और आवरणको बतलाता है। अनादि, अनन्त, शब्दब्रह्मसे प्रकाशित होनेसे, सर्व पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञके द्वारा प्रमाणित होनेसे, अर्हन्त भगवानके मुखसे निकले हुये पूर्ण द्वादशांग आगमको प्रमाण करके अनुभव प्रमाण सहित कहते हैं; इसलिये वह परमागम सफल है। उसमें जगतके सर्व पदार्थोंका विशाल वर्णन है। ऐसी वाणी साधारण अल्पज्ञ प्राणीके मुखसे नहीं निकल सकती।

जहाँ दो चार गाड़ी ही अनाज उत्पन्न होता है उसके रखवालेको अधिक अनाज नहीं मिलता, किन्तु जहाँ लाखों मन अनाज पैदा होता है उसके सेवकको बहुत सा अनाज मिल जाता है, इसीप्रकार जिसके पूर्ण केवलज्ञान दशा प्रगट नहीं है ऐसा अल्पज्ञ ज्ञानी थोड़ा ही कह सकता है, और उसके सेवक (श्रोता) को थोड़ा ही प्राप्त होता है, तथा दोनोंको एक सा ही प्राप्त होता है। इसीप्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवके केवलज्ञानकी खेती हुई है, इसलिये वहाँ अनन्त भाव और महाभावको लेकर वाणीका घोष खिरता है। उसके सुनने वाले—सेवक गणधरदेव हैं। वे बहुत कुछ ग्रहण करके ले जाते हैं।

सर्वज्ञ भगवान, तीर्थंकर, देवाधिदेवका प्रवचन निर्दोष है। उनकी सहज वाणी खिरती है। मैं उपदेश दूँ, इस प्रकारकी इच्छा उनके नहीं होती। जैसे मेघकी गर्जना सहज ही होती है इसीप्रकार 'ॐकार' की भी सहज ध्वनि उद्भूत होती है, वह द्वादशांग सूत्ररूपमें रची

हो सकता कि आत्मा क्या है ? इसीलिये अवस्थामें विकार हुआ है।

प्रश्नः—जब कि कर्म दिखाई नहीं देते तो उन्हें कैसे माना जाय? क्योंकि लोकव्यवहारमें भी किसीका देखा हुआ या अपनी आँखोंसे देखा हुआ ही माना जाता है ?

उत्तरः—अज्ञानी जीवोंने बाह्य विषयोंमें सुख है यह परमें अपनी दृष्टिसे देखकर निश्चय नहीं किया है, किन्तु अपनी कल्पनासे मान रखा है। इसीप्रकार कर्म सूक्ष्म हैं, इसलिये वे आँखोंसे भले दिखाई नहीं देते, किन्तु उनका फल अनेकरूपसे बाहर दिखाई देता है। उस कार्यका कारण पूर्वकर्म है। जैसे यदि सोना मात्र अपने आप ही अशुद्ध होता तो वह शुद्ध नहीं किया जा सकता। वह स्वभावसे तो शुद्ध ही है, किन्तु वर्तमान अशुद्धतामें दूसरी वस्तुका संयोग है तथा आत्माकी वर्तमान अवस्थामें निमित्त होने वाली दूसरी वस्तु विकारमें विद्यमान है, उसे शास्त्रमें कर्म कहा है। दूसरी वस्तु है इसलिये दोनों वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान कर; क्योंकि आत्माका ज्ञानसामर्थ्य स्वपरप्रकाशक है। जिसने इसे समझनेकी शक्तिका विकास किया है और जो आदर पूर्वक सुनता है उसे सुनाते हैं। वह यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करता है, किन्तु जिसकी परके ऊपर दृष्टि है; और जिसे मैं जुदा हूं यह प्रतीति नहीं है ऐसा जीव कर्मकी उपस्थितिकी जहां बात आई वहां निमित्तके पीछे ही पड़ता है और बाहरसे सुनकर कल्पना कर लेता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। शास्त्रोंमें कर्मको निमित्त मात्र कहा है, वह आत्मासे परवस्तु है परवस्तु किसीका कुछ बिगाड़नेमें समर्थ नहीं है।

शास्त्र श्रवण करके खोटी कल्पना कर ली है कि कर्म मु[illegible] अनादिकालसे बाधा पहुंचा रहे हैं, राग-द्वेष कर्म कराते हैं तथा दे[illegible] मन और वाणीकी प्रवृत्ति मुझसे होती है; इस प्रकारकी विप[illegible] मान्यतासे परमें उलझ गया सो परसमय है। और जो परा[illegible] रहित, पुण्य-पाप रहित, शुद्ध दर्शन, ज्ञान और स्वरूपस्थिरतासे आ[illegible] में स्थिर है वह स्वसमय है। अर्थात् वह स्व-सन्मुख है। परको [illegible]

झुकाव होनेसे जिसके परके साथ सम्बन्ध मान रखा है, और जो पर-में अटक रहा है, वह पर-सन्मुख अर्थात् परसमय है।

जिसे स्वतः जिज्ञासा प्रगट हुई है वह विचार करता है कि यह क्या है? अनादिकालसे स्वरूपका विस्मरण क्यों हो रहा है? अनादिकालसे विकार और जड़का ही स्मरण क्यों हो रहा है? यदि वास्तविकतया अपना स्मरण हो तो परिभ्रमण न हो। जानने वालेको जाने बिना जो जानने वालेमें ज्ञात होता है उसे जीव अपना स्वरूप मान लेता है इसलिये यहां यह बताते हैं कि जानने वाला परसे भिन्न कैसा है, जिससे पराधीनता न रहे। जो 'है' उसे यदि पराश्रयकी आवश्यकता हो तो वह जीवन सुखी कैसे कहला सकता है? जहां राग-का आश्रय लेना पड़ता है वह भी वास्तविक जीवन नहीं है। इसी प्रकार अन्तरंगमें जिसे जिज्ञासा उत्पन्न हुई है उसे गुरु मिले बिना नहीं रहते। जिसे अन्तरंगसे जिज्ञासा हो वह बराबर सुनता है। जिसके पात्रता होती है उसे गुरु मिलते ही हैं। जिसे ज्ञानमें शुद्ध मुक्त-स्वभावका आदर होता है उसे जिज्ञासा होती है, उसके व्यवहारमें श्रद्धा, ज्ञान और आचरण हो जाता है। पहले तो साधारणतया आर्य जीवके अनीति तथा क्रूरताका त्याग होता ही है, साधारण आर्यत्व, लौकिक सरलता, परस्त्री त्याग, अन्तरंगमें ब्रह्मचर्यका रंग, आजीविकाके लिये छल-कपट तथा ठगाईका त्याग, नीति और सत्य वचन इत्यादि जीवनमें बुने हुये या एकमेक होना ही चाहिये। देहादिक पर विषयोंमें तीव्र आसक्तिका त्याग इत्यादि तो साधारण नीतिमें होता ही है, उसके बाद लोकोत्तर-धर्ममें प्रवेश हो सकता है।

दूसरी गाथा प्रारंभ करते हुये कहा है कि जो पुण्य-पापरहित आत्माके दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणमें स्थिर हुआ वह स्वसमय है, और पर मेरे हैं, पुण्य-पाप आदि विकार मेरे हैं, इस प्रकार स्थिर होना सो परसमय है। इस प्रकार कहते हुये गुरुदेवने बताया है कि जिज्ञासु जीवके पास साधारण नीतिका जीवन, मनके द्वारा चुना हुआ होना ही चाहिये। इसके स्पष्ट समझनेकी इसकी आकांक्षा है, इसलिये

आत्माको जिस प्रकार जानना चाहिये उसीप्रकार मेल करके एकाग्रताका सम्बन्ध करे तो उत्तर मिले, अर्थात् वह जाना जाय। आत्मा सदा परिणमनस्वभावी है; इसलिये जो आत्माको अवस्थाके द्वारा परिणमन वाला नहीं मानते उनका निषेध हो गया। 'परिणमनस्वभावी है' यह कहने पर तू जिस भावमें उपस्थित है, उस भावको बदल सकता है। जो पहले कभी नहीं जाना था, उसे जान लिया और जाननेवाला नित्य रहा। इससे सिद्ध हुआ कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी अनुभूति जिसका लक्षण है वह सत्ता है। सत्ता लक्ष्य (जानने योग्य) है, और सत्ताका लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। क्षणके असंख्यातवें भागमें प्रतिसमय अवस्था बदलती है। जैसे लोहेको घिसने पर उसकी जंगका व्यय हो जाता है, उज्ज्वलता अथवा प्रकाशका उत्पाद हो जाता है, और लोहा बराबर ध्रुव बना रहता है। इसीप्रकार प्रत्येक समयमें अपनी पूर्वदशाका व्यय होता है, नई अवस्था उत्पन्न होती है, और वस्तु वस्तुरूपमें स्थिर बनी रहती है। यह तीनों अवस्थाएँ एक ही समयमें होती हैं। उत्पन्न होना, व्यय होना, तथा स्थिर रहना, इनमें कालभेद नहीं है। तेरा नित्यस्वभाव प्रतिक्षण अवस्थारूपमें स्थिर रहकर बदलता रहता है; इस प्रकार परसे सर्वथा भिन्नत्वको जो न समझे और विरोध करे तो वह किसका विरोध करता है; यह जाने बिना ही विरोध करता है। जैसे बालकने किसी कारणसे रोना प्रारम्भ किया, फिर उसे चाहे जो वस्तु दो, तो भी वह रोता ही रहता है। यहाँ तक कि जिस वस्तुके लिये वह रो रहा था वह वस्तुके देने पर भी वह रोता ही रहता है; क्योंकि वह उस कारणको ही भूल जाता है, जिस कारणसे उसने रोना प्रारम्भ किया था। इसलिये उसका समाधान कैसे हो सकता है। पहले उसकी इच्छा चूसनीकी थी, जिसे वह चूस रहा था, वह कोई ले गया है,—यह बात उसके जम नहीं पाई बस, वहींसे रोना शुरू हो गया। उसके बाद वह उस बातको भूल गया और रोना बराबर चालू रहा। इसीप्रकार ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! तूने अनादिकाल-

से अज्ञानभावसे (बालभावसे) रोना शुरू किया है, इसलिये तुझे कहीं भी शांति नहीं मिलती। ज्ञानी यदि सच्ची वस्तुको बताते हैं तो उसे भी तू ग्रहण नहीं करता अपने अज्ञानके कारण रोता रहता है। जब-तक सच्ची जिज्ञासासे समझने योग्य धीरज और मध्यस्थता नहीं लायगा; तब तक कोई उपाय नहीं है। तेरी रुचि होगी तो उस ओर तेरी भावनाकी उत्पत्ति होगी।

पहले स्वाधीन, निर्दोष सत्‌की रुचि कर तो अनादिकालीन परकी ओर झुकी हुई पुरानी अवस्थाका व्यय और स्वोन्मुखरूप नई अवस्थाकी उत्पत्ति तथा स्वभावरूपमें स्थिर रहनेवाला ध्रौव्य तू ही है, यह समझमें आ जायगा। तेरी अवस्थाका बदलना और उत्पन्न होना तेरी ही कारणसे है। पराश्रयके बिना स्थिर रहनेवाला भी तू है; इसलिये मेरे ही कारणसे मेरी भूल थी उसे ज्ञानस्वभावके द्वारा दूर करनेवाला मैं ही हूँ, यह जानकर खोटी मान्यतारूप असत्यका त्याग, सच्ची समझका सद्भाव और मैं नित्य ज्ञानस्वभाव आत्मा ध्रुव हूँ, इस प्रकारका निश्चय कर। जैसे स्वर्ण सदा स्थिर रहता है, उसकी पूर्व अवस्थाका नाश होकर नई अवस्था (अंगूठी आदि) बनती है, उसमें सोना प्रत्येक दशामें ध्रुव रहता है, इसीप्रकार भगवान-आत्मा अनादि-अनन्त, स्वतंत्र है, उसमें तीनों प्रकार (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) एक ही समयमें विद्यमान है। यह बात पहले कभी नहीं सुनी थी, किन्तु यह ज्ञातव्य है। 'है' यह सुनकर उसमें कुछ अच्छी दृष्टि करके उस ओर झुके कि उसमें यह तीनों प्रकार आ जाते हैं। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूपसे नित्य है। जीव जैसा है वैसा अपना स्वरूप अनादिकालसे नहीं जाना। जैसे कडुवे स्वादसे मीठे स्वादकी ओर लक्ष जाने पर कडुवे स्वादके लक्षका व्यय और मिठासके लक्षकी उत्पत्ति होती है। किन्तु दोनों समयमें स्वाद और उसको जाननेवाला अपने ध्रुवरूपसे स्थिर रहता है; इसी प्रकार प्रति समय निज ज्ञानकी क्रियाका करनेवाला स्वाधीन तत्त्व आत्मामें विद्यमान है।

किन्तु बालकका स्वभाव जानने पर कि उसका भाव मात्र खेलकूद ही का था, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। यथार्थ ज्ञानका कार्य समाधान है। आत्माका स्वभाव जानना है, उसे रोका नहीं जा सकता। ज्ञानगुणका कार्य जानना अथवा ज्ञान करना है। राग-द्वेष करनेका कार्य तो विपरीत पुरुषार्थरूप विपरीतताका है, इसलिये पुण्य-पापके भेदसे रहित स्व-परका ज्ञाता अपने स्वभावरूप धर्म है, और उसमें स्थिर होना स्वसमय है।

"जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ" इस पदमें प्रथम शब्द 'जीवो' है। जिसने यह जान लिया हो कि आत्मा कैसा है, उसे संसारी अशुद्ध अवस्था और मोक्षकी निर्मल अवस्था—इन दोनोंको एकत्रित करके एक अखण्ड पूर्णरूप आत्माका निर्णय करना होगा। आत्मा मन-वाणी और देहसे भिन्न, अन्य जीव-अजीव आदि वस्तुओंसे त्रिकाल भिन्न, अनादि-अनंत पदार्थ है। अपनी विपरीत मान्यतासे राग-द्वेष, पुण्य, पाप, देह इन्द्रिय इत्यादि परवस्तुको जीवने अपना मान रखा है, और यही संसार है। परवस्तुमें संसार नहीं है, संसार तो जीवका अवगुण है। उसे जाने बिना यह नहीं समझा जा सकता कि भव तथा राग-द्वेष रहित स्वतंत्र तत्त्व क्या है? जैसे मनुष्यकी बाल, युवा और वृद्ध यह तीन अवस्थायें होती हैं, उसीप्रकार आत्माकी भी तीन अवस्थायें होती हैं। अज्ञान अवस्था बाल्यावस्था है, साधकभावरूप निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र अवस्था धर्म अवस्था अर्थात् युवावस्था है, और अनुकूलतामें राग तथा प्रतिकूलतामें द्वेष होता है उसका नाश करनेके लिये मैं शुद्ध हूँ, परसे मुझे लाभ-हानि नहीं है, मैं पुण्य-पाप रहित अखण्ड ज्ञायक आत्मा ही हूँ, इसप्रकारकी प्रतीतिके द्वारा स्थिर होनेसे राग-द्वेषका नाश होकर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान तथा अनन्त आनन्द अवस्था प्रगट होती है, वह वृद्धावस्था है। आत्मा सदा अरूपी, ज्ञानानंदघन है। उसमें प्रतिसमय पूर्व पर्यायको बदलकर, नई अवस्थाका उत्पाद करके, ध्रौव्यरूप तीन अवस्थाओंको लेकर रहना होता है। अस्तिरूपसे जो वस्तु है उसमें ज्ञाता-दृष्टापना है। पर-

को जानना उपाधि नहीं है किन्तु जानना-देखना आत्माका त्रिकाल स्वभाव है। स्व-परको जानना ज्ञानगुणका कार्य है, और राग-द्वेष करना दोषका कार्य है।

अनन्त धर्मोंमें रहने वाला जो एक धर्मीपन है, उससे उसके द्रव्यत्व है और नित्यवस्तुत्व है। आत्माका स्वतंत्र स्वरूप परके आधारसे रहित और पुण्य-पापरहित है, इसलिये उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आचरण भी पुण्य-पापरहित है। ऐसी बातको जीवने न तो कभी सुना है और न माना है। यदि एक क्षणमात्रको भी ऐसे आत्मधर्मका आदर किया होता तो फिर दूसरा भव नहीं होता। जिसे सतको सुनते हुये अपूर्व आत्ममाहात्म्य ज्ञात होता है उसके उस ओर अपने वीर्यका रुख बदले बिना नहीं रहता, क्योंकि जिसकी रुचि जिधर होती है उसी ओर उसका रुख हुये बिना नहीं रहता, ऐसा नियम है। जहाँ आवश्यकता मालूम होती है वहाँ जीव अपने वीर्य (पुरुषार्थ) को प्रस्फुटित किये बिना नहीं रहता। जिसका मूल्य आंका गया या जिसकी आवश्यकता प्रतीत हुई उसका ज्ञानमें विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधीका आदर नहीं हो सकता। इसलिये जिसमें जिसने माना, उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यकता प्रतीत हुई, उसका ज्ञानमें विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधीका आदर नहीं हो सकता। इसलिये जिसमें जिसने माना उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यकता प्रतीत होने पर उस ओर उसके वीर्यकी गति हुये बिना नहीं रहती।

'जीव पदार्थ है' यह कहनेके बाद अब यह बतलाते हैं कि उसकी दो प्रकारकी अवस्थाएँ कैसी हैं? क्योंकि प्रथम 'अस्ति' अर्थात् 'है' इस प्रकार सामान्य निश्चय करनेके बाद वह कौनसे भिन्न अवस्थामें है यह बतला रहा है। 'वस्तु है' यह अनादि-अनंत

है, परसे भिन्न है, इसलिये किसीके आधारसे किसीका बदलना नहीं होता यह कहा गया है। और फिर, वस्तुमें अनन्त धर्म भी हैं। उनमें द्रव्यत्व, प्रभुत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व आदि वस्तुके गुण उस वस्तुके आश्रित हैं परवस्तुके आश्रित नहीं हैं। जैसे स्वर्ण एक वस्तु है, वह अपने अनन्त गुणोंको धारण करता है। उसमें पीलापन, चिकनापन और भारीपन इत्यादि शक्ति है, जिसे गुण कहा जाता है। इसीप्रकार आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व, द्रव्यत्व इत्यादि अनन्त गुण हैं। आत्मा अनन्त वस्तुओंके साथ रहने पर भी अनंत वस्तुओंसे भिन्न है। अनन्त परपदार्थ होनेसे अनंत अनोखापन नामक अनन्तगुण आत्मामें है।

'आत्मा क्या है?' यह जाने बिना आत्माका धर्म कहाँसे हो सकता है? जो सत्ता जिस क्षेत्रमें अवगुण कहलाती है वहीं वह गुण भी है। गुड़की मिठास गुड़में होती है या उसके बर्तनमें? इसी प्रकार देहरूपी बर्तनमें देहरहित-अरूपी ज्ञानघन आत्मा विद्यमान है, तब फिर उसमें उसके गुण होंगे कि देहादि परसंयोगमें? परसंयोगी वस्तुका वियोग होने पर आत्मा मन, वाणी, देह, इन्द्रिय इत्यादिमें दिखाई नहीं देता। इसलिये आत्मा परसे भिन्न ही है। आत्मा एक है वह अनादिकालसे शरीर तथा परवस्तुसे भिन्न है। आत्मा ऐसे अनन्त शरीरके रजकणोंसे तथा परवस्तुसे भिन्न रहता है। इसलिये अनन्त पररूपसे नहीं होता, उसमें अनन्त नास्तित्व तथा अनन्त अन्यत्व नामक अनन्त गुण हैं। आत्मा अनन्तकालसे अनन्त पुद्गलों, अनन्त शरीरोंके साथ एकत्रित रहा, फिर भी वह उनके किसी भी गुण-पर्यायके रूपमें परिणत नहीं हुआ। किसीके साथ मिला-जुला नहीं है। इस प्रकार अनन्तके साथ एक नहीं हुआ, इसलिये अनन्त परसे भिन्न रहा। रजकणमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्शकी अवस्था बदलती है, किन्तु रजकण बदलकर आत्मा नहीं हो जाते, और आत्मा बदलकर जड़ नहीं हो जाता।

अनन्त धर्मोंके रखनेवाला जो एक धर्मीपन है उसके कारण

जीवके द्रव्यत्व प्रगट है। अनन्त गुणोंका एकत्व अनादिकालसे एकत्रित रहना सो द्रव्यत्व है। इस विशेषणसे वस्तुको धर्मसे रहित माननेवाले अभिप्रायका निषेध हुआ। जो यह नहीं मानते कि गुण आत्मासे प्रगट होते हैं उनका भी निषेध हुआ। वास्तवमें बाहरसे गुण नहीं आते, जो भीतर हैं वे ही प्रगट होते हैं, क्योंकि यदि अनन्तगुण नहीं थे तो वे सिद्धोंमें कहांसे आ गये? जो नहीं होता वह कहींसे आ नहीं सकता, इसलिये प्रत्येक आत्मामें स्वतंत्रतया अनंतगुण स्वभावरूपमें विद्यमान हैं। आत्मा धर्मके नाम पर अनन्तबार दूसरा बहुत कुछ कर चुका है, किन्तु उसने आत्माको अनन्त धर्मस्वरूप स्वतन्त्र यथार्थरूपमें जैसा है वैसा कभी नहीं जाना। यह भी है कि— 'जब तक आत्मतत्त्वको नहीं पहचाना तब तक सारी साधना वृथा है'। एक 'स्व' को जहां तक नहीं जाना है वहां तक कुछ नहीं जाना। एकके जाननेसे सब जाना जाता है।

जब लग एक न जानियो, सब जाने क्या होय।
इक जाने सब होत है, सबसे एक न होय॥

सभीको जानने वाला स्वयं ही है। इस प्रकार जाने बिना किसको पहचानकर–मानकर उसमें स्थिर होगा? इसलिये पहले आत्माका यथार्थ स्वरूपमें निश्चय करना चाहिये। वस्तुका विचार किये बिना किसमें अस्तित्व मानकर टिकेगा? जैसा देहानुसार देहसे भिन्न असंयोगी आत्मा सर्वज्ञ भगवानने जाना है मैं वैसा ही पूर्ण हूँ, यह स्वीकार करने पर सभी समाधान हो जाते हैं।

क्रमरूप–अक्रमरूप वर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव है इसलिये जिसने गुण–पर्यायोंको धारण किया है, ऐसा क्रमरूप आत्मा प्रतिक्षण अवस्थाको बदलता है। जैसे पानीमें एकके बाद दूसरी लहर उठती है, इसीप्रकार जीवमें प्रतिक्षण नई अवस्थायें क्रमशः होती है। उसमें जब राग होता है तब गुणकी निर्मलता नहीं होती, और जहां वीतरागता होती है वहां राग द्वेष नहीं होते। राग–द्वेष

है, इसमें किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती। विपरीत रुचिको मिथ्यारुचि कहते हैं, और सच्चा पुरुषार्थ करके जो प्रतीति होती है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। दर्शनगुण आत्माके साथ स्थिर रहता है और अवस्था बदलती रहती है। यहाँ सब सरल रीतिसे कहा जा रहा है, लेकिन लोगोंने उसे बहुत कठिन मान रखा है। 'मेरी समझमें नहीं आता, मैं नहीं समझ सकता' इत्यादि कहना मानों अपनेको गाली देना है। आत्माको अपात्र कहना उसे कलंकित करना है। जो अनंत सिद्ध परमात्मा कर चुके हैं वही कहा जा रहा है और अधिक कुछ नहीं।

प्रत्येक आत्मा निजमें अनन्त कार्य कर सकता है, परमें कुछ भी नहीं कर सकता। हां, यह मानता अवश्य है कि मैं परमें भी कुछ करत सकता हूँ। स्वतंत्रता जैसी है वैसी ही बताई जा रही है, तू इन्कार मत कर, तेरी प्रभुताके गीत गाये जा रहे हैं। जैसे बालकको सुलानेके लिये माता लोरी गाती है और बालक अपनी बड़ाई सुनकर सो जाता है, उसीप्रकार आत्माको जागृत करनेके लिये कहा जाता है कि तू परमात्माके समान है, सदा चैतन्यज्योति है। बालकको सुलानेके लिये पालनेमें लिटाया जाता है और बालक लोरी गीत सुनकर सो जाता है, उसीप्रकार ज्ञानी संबोधित करते हैं कि–चौरासीके झूलेको अपना मानकर अज्ञानरूपमें सो रहा है, तुझे जागृत करनेके लिये गीत गाये जा रहे हैं, तुझे जागना होगा। माताके गीत तो सुलानेके लिये होते हैं, किन्तु ये गीत तुझे जगानेके लिये हैं। संसार और मोक्षकी रीतिमें इतना ही उल्टा-सीधा अन्तर है। बालककी प्रशंसा करने पर वह सो जाता है, क्योंकि उसकी गहराईमें बड़प्पनकी मिठास भरी हुई है, वह उसमेंसे बड़प्पनका आदर पाकर संतुष्ट हो जाता है, उसीप्रकार यह जीव मिथ्याबुद्धिके झूलेमें अनादिकालसे सो रहा है। अब तुझे मेरी प्रभुताकी महिमा गाकर जागृत किया जा रहा है, यदि तू इन्कार करे तो यह नहीं चलेगा। त्रिलोकीनाथ सिद्ध भगवानने जिस पदको पाया है उसी पदका अधिकारी तू भी है, इस प्रकार तेरे गीत गाये जा रहे हैं। शास्त्र भी तेरे गीत गाते हैं। जाग रे

जाग! यह महामूल्य क्षण वृथा चले जा रहे हैं। तू अपनेको न पहचाने, यह कैसे हो सकता है?

जो स्वाधीन ज्ञानानन्दस्वरूपको अपना मानकर–जानकर उसमें स्थिर होता है वह स्वसमय आत्मा है, और परको जो अपना मानता है—जानता है और राग-द्वेषमें परवस्तुकी ओरके झुकावके बलसे स्थिर होता है वह परसमयरूप होता हुआ अज्ञानी आत्मा है। एककी अवस्थाका झुकाव स्वकी ओर है और दूसरेका परकी ओर। अवस्थामें उल्टा फिरनेसे संसारमार्ग और सीधा फिरनेसे मोक्षमार्ग होता है।

अपने और परद्रव्योंके आकारोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य होनेसे जिसने एकसाथ विश्वके समस्त रूपका ज्ञान प्रगट किया है ऐसा भगवान आत्मा है। सम्पूर्ण पदार्थोंका स्वरूप ज्ञात हो ऐसा गुणवाला होनेसे उसने लोकालोकको झलकाने वाला एकरूप ज्ञान प्राप्त किया है। दर्पणमें लाखों वस्तुयें प्रतिबिम्बित होती हैं, किन्तु इससे दर्पण उन लाख वस्तुओंके रूपमें नहीं हो जाता। दर्पणमें कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं है, किन्तु उसकी स्वच्छतासे ही ऐसा दिखाई देता है। इसीप्रकार आत्माका ज्ञानगुण ऐसा स्वच्छ है कि उसमें जानने योग्य अनन्त परवस्तुयें ज्ञात होती हैं। जाननेवाला अपनी शक्तिको जानता है और वह दूसरेको जानता हुआ पररूप नहीं हो जाता, किन्तु अज्ञानीको अपने स्वभावकी खबर नहीं है। कुछ लोगोंका ऐसा अभिप्राय है कि केवलज्ञान होनेके बाद आत्मा स्वको ही जानता है, परको नहीं जानता। ऐसे एकाकारको मानने वालोंका यहाँ निषेध किया गया है। तथा कोई कहे कि ज्ञान निजको नहीं जानता, परको ही जानता है, तो इसप्रकार अनेक आकार माननेवालोंका भी निषेध किया गया है। जीवका स्वरूप जैसा है वैसा विपरीतरहित न जाने तो जीव जागृत नहीं होगा।

और फिर आत्मा कैसा है, सो कहते हैं। अन्य द्रव्योंसे

गुणके द्वारा अनाज पकाती है उसीप्रकार आत्मा अपने दर्शन गुणसे अपने सम्पूर्ण शुद्धस्वभावको पका सकता है। जैसे अग्नि अपने प्रकाशक गुणके द्वारा स्व-परको प्रकाशित करती है वैसे ही आत्मा अपने ज्ञान-गुणके द्वारा स्व पर प्रकाशक है। जैसे अग्नि अपने दाहक-गुण द्वारा दाह्यको जलाती है उसीप्रकार आत्माका चारित्र-गुण विकारी भावको सर्वथा जला देता है। अंधेरेमें जाकर देखो तो सभी वस्तुएँ एकसी मालूम होंगी, उनमें भेद मालूम नहीं हो सकता, किन्तु दीपकके प्रकाशमें देखने पर वे जैसी भिन्न भिन्न होती हैं वैसी ही दिखाई देती हैं। इसीप्रकार आत्माको परसे भिन्न जाननेके लिये पहले सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश चाहिये। यह सबसे पहली आत्मधर्मकी इकाई है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अंतःचारित्रकी एकतासे ही धर्म होता है और वही यहां कहा जा रहा है।

आत्माका स्वभाव कैसा है? शिष्यके इस प्रश्नका उत्तर सात प्रकारसे कहा गया है।

विपरीत दृष्टिसे संसार और सीधी दृष्टिसे मोक्ष होता है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि धर्म क्योंकर होता है, इसलिये ध्यान रखकर सुनो! यह अन्तरंगकी अति सूक्ष्म बात है। भेदज्ञानज्योतिको प्रगट करनेसे ही सर्व पदार्थोंको जानने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञानका अर्थ है पूर्ण निर्मलज्ञानदशा। उसे प्रगट करनेमें जीव तब समर्थ होता है जब भेदज्ञानज्योतिरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षका सर्वप्रथम उपाय आत्मामें भेदज्ञानज्योतिको प्रगट करना है, उसे सम्यग्ज्ञानज्योति कहते हैं। जैसे अंधकारके कारण सभी वस्तुएँ पृथक् पृथक् मालूम नहीं होती, उसीप्रकार अज्ञानरूपी अन्धकारमें मन, वाणी, देह, पुण्य, पाप इत्यादि जो कि आत्मासे भिन्न हैं, भिन्न नहीं मालूम होते। किन्तु जब भेदज्ञानसे पृथक्त्वके बोधका उदय होता है, तब जीव सर्व परद्रव्योंसे छूटकर निरालम्बी होकर दर्शनज्ञानस्वभावमें प्रवृत्ति करता है। जब इसप्रकारकी श्रद्धा होती है कि

मन, वाणी, देह, पुण्य, पाप, राग, इत्यादि मैं नहीं हूँ तब श्रद्धामें परसे छूटना होता है। यहाँ तो अभी मोक्षदशा कैसी प्रगट हो उसकी श्रद्धा अर्थात् पहिचान करनेकी बात है, वह प्रगट तो बादमें होती है। जैसे सूर्योदयसे अन्धकारका नाश होने पर प्रत्येक पदार्थ अलग अलग मालूम होता है, इसीप्रकार अन्तरंग ज्ञानस्वरूपकी ज्ञानज्योतिसे पहचान होनेपर प्रत्येक स्व-पर वस्तु पृथक् पृथक् मालूम होती है। जैसे अग्निका प्रकाश होता है वैसे ही यहां ज्ञानका प्रकाश है। परमाणु, देहादि और रागका अंश मेरा नहीं है। मनके सम्बन्धसे राग-द्वेष उत्पन्न होता है, उस सम्बन्धसे रहित अविकारी आत्मधर्म है। इस-प्रकारकी प्रतीतिके अनुसार पुण्य-पाप रहित और दर्शनज्ञानस्वरूप-स्थिरतारूप आत्मतत्त्वमें एकाग्र होकर मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है और क्रमशः वीतरागदशा प्रगट हो जाती है।

जिसे मुक्त होना है उसे उसकी परिभाषा जानना चाहिये। बन्धनभावरूप अशुद्धदशासे मुक्त होता है या स्वभावसे मुक्त होता है? यह निश्चय करना होगा। अज्ञानी परको मानता है इसलिये कभी बन्धभावसे नहीं छूट सकता। कोई कहे कि अभी पुण्य-पाप, देहादिसे पृथक् आत्मा कैसे माना जा सकता है? उसके लिये ज्ञानी कहते हैं कि—मैं परमार्थतः मुक्त हूँ, परसे बद्ध नहीं हूँ, यह निर्णय तो पहले करना ही होगा। पहले श्रद्धामेंसे सर्व परद्रव्योंका सम्बन्ध तोड़ने पर यह प्रतीत होता है कि परवस्तुके साथ तीन काल और तीन लोकमें भी आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मेरा हित मुझमें मेरे ही द्वारा होता है। इसप्रकार अंतरंगमें [illegible] हो जाती है।

पहले पात्रतानुसार [illegible] ग्रहण करना चाहिये और मुझे इसे [illegible] करना चाहिये, क्योंकि स्वयं [illegible] है, इसका [illegible] [illegible] हो रहा है। [illegible] मैं [illegible] कर सकता हूँ, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुआ है। इसलिये [illegible]

परिचय भी बहुत है, इसलिये पहले [illegible] सुनकर [illegible] तुलना करना आना चाहिये, तथा [illegible] अलग करके आत्माके अंतरंगसे हां कहना सीखना चाहिये। सत्समागमसे सुनकर 'मैं सिद्ध परमात्मा ही हूँ,' यह समझकर हां कहते कहते उसका [illegible] हो जायगा और उससे आत्मस्वभावकी स्थिति प्रगट हो जायगी।

आत्मस्वभाव परसे भिन्न है, यह बात सुनते ही तत्काल भेदज्ञान हो जाता है, किन्तु परसे भिन्न आत्मा कैसा है और कैसा नहीं, इसकी यथार्थ पहचानकी बात होनेपर जो-जो न्यायपुरस्सर कहा जाता है उसे सुनकर मोक्षस्वभावका प्रेम बढ़ना चाहिये। जिसे जिसका प्रेम है उसकी बात श्रवण करते हुये वह थकता नहीं सकता, इसीप्रकार आत्माकी सत्य बातका प्रेम होने पर आत्मा परका कर्ता नहीं है, परसे निराला है, ऐसी बात सुनते हुए [illegible] नहीं चाहिये, किन्तु उसे रुचिपूर्वक सुनना चाहिये। सर्वज्ञ द्वारा कथित यह सत्य है कि तेरा तत्त्व परसे निराला है, तूने उसका यथार्थ स्वरूप पहले कभी नहीं सुना था, इसलिये उसे सुननेके लिये प्रीतिपूर्वक ऐसा भाव होता है कि अरे! यह बात तो अनन्तकालमें कभी नहीं सुनी थी- ऐसी अपू है। समझ पूर्वक उसके प्रति आदर होता है, उससे विरुद्ध बात आदर नहीं होता। अनन्तकालमें धर्मके नाम पर जो कुछ किया वह कुछ अपूर्व नहीं किया है, उसकी सत्य बात पहले ही अन्तरंग रुचिगत होनी चाहिये।

असंयोगी ज्ञानघन तत्त्व उस राग और परमाणुसे भी भि पराश्रय रहित, पूर्ण ज्ञानानन्दरूप है। आत्मा स्वाधीनतया सदा ज्ञा वाला है। ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप है, जो क्षणिक मलिनता दिखाई दे है वह मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार पहले ज्ञानमें स्वीकृति हो रागको टालनेके लिये स्थिरतारूप क्रिया मुझमें, मेरे द्वारा हो सक है ऐसी श्रद्धा होनेके बाद सर्व परद्रव्योंसे, परावलम्बनसे मुक्त हो स्वमें एकाग्रता-लीनतारूप चारित्र हो सकता है। किन्तु अभी स

मिथ्यात्वरूप मान्यतासे, अनादिकालसे यह मानता चला आ रहा है कि मैं परकी प्रवृत्ति कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकता है, पुण्यसे भला होता है, उससे धीरे धीरे धर्म प्रगट होता है; और ऐसी कल्पना किया करता है कि शरीर मेरा है, पर वस्तु मेरी है। इसप्रकार माननेवालेके धर्म कहाँसे हो सकता है? आत्मा बदलकर कभी जड़ नहीं होता, और जड़ पदार्थ आत्माके नहीं हो सकते। परद्रव्यको छोड़नेकी बात व्यवहारसे है। वास्तवमें तो आत्माको किसी परने ग्रहण किया ही नहीं है। केवल मान्यतामें ही परकी पकड़ थी कि राग मेरा है, पुण्य मेरा है, जड़ पदार्थ मेरे हैं, और इसप्रकार जड़की अवस्थाका स्वभाव मेरा है। इस विपरीत मान्यतासे छूटना समस्त परद्रव्योंसे छूटना है। आत्माके भीतर कोई घुस नहीं गया। भ्रमसे परमें कर्तृत्व मान रखा है कि जड़-देहादिकी क्रिया मेरे द्वारा होती है और परसे मुझे हानि-लाभ होता है, इसप्रकार जो परको और अपनेको एक करके मान रहा था, उस विपरीत मान्यताका स्वभावकी प्रतीतिसे प्रथम त्याग करना चाहिये। उसके बाद ही वर्तमानमें दूसरेकी ओर झुकती हुई अस्थिर अवस्थाको स्वरूपस्थिरतासे छोड़ा जा सकता है।

मैं परमात्माके समान अनन्त आनन्द और अपार ज्ञानस्वभाव हूँ। जैसे भगवान हैं वैसे ही परमार्थतः मैं हूँ, ऐसी दृढ़ प्रतीति होनेसे सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। त्रिकालिक अविकारी स्वभावका लक्ष होने पर वर्तमान क्षणिक अवस्थामें जो अल्परागका भाव रहता है उसे नहीं गिनता। ज्ञानकी तीव्र एकाग्रतारूप ध्यानाग्निके द्वारा सर्व रागका नाश करनेकी शक्ति विद्यमान है, इसलिये उसके पहलेसे राग हटता हुआ दिखाई देता है। जैसे अग्निमें पाचक, प्रकाशक और दाहक शक्तियाँ विद्यमान हैं इसीप्रकार आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण विद्यमान हैं। आत्मा त्रिकाल पहलेसे सिद्ध है, उसकी अनन्त केवलदर्शन भी शुद्ध है।

वर्तमान अवस्थामें कर्मका निमित्त है, उसे लक्षमें न लेकर त्रिकाल ज्ञानस्वभावरूपमें देखा जाय तो वह शुद्ध ही है। आत्मासे जो अशुद्ध अवस्था होती है उसकी स्थिति एक समयमात्रकी है। विकारीभाव दूसरे समयमें करता है सो वह भी मात्र उस समयके लिये ही करता है। उस क्षणिक अवस्थारूप मैं नहीं हूँ, मैं तो नित्य हूँ। शुद्धता अथवा अशुद्धता वर्तमान पर्यायमें होती है, द्रव्यदृष्टिसे देखने पर द्रव्यमें वह भेद नहीं है। आत्मा अनन्तगुणोंका पिण्ड है, उसकी एक समयकी वर्तमान अवस्था प्रगट होती है और दूसरी त्रिकाली अवस्था अप्रगट होती है, अर्थात् शक्तिरूपसे होती है। संसारी आत्मामें भी अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि गुण अप्रगट शक्तिरूपसे हैं।

आत्मामें समय समय पर होनेवाली विकारी अवस्था प्रवाहसे अनादिकी है, वह अवस्था क्षणिक होनेसे दूर की जा सकती है। आत्माका स्वभाव राग-द्वेषका नाशक है, किन्तु उत्पादक नहीं। चैतन्यका स्वभाव अवगुणको जाननेवाला है, अवगुणरूप होकर जाननेवाला नहीं है। न्यायपूर्वक विचार करनेसे मालूम होता है कि जिसको दूर करना चाहता हूँ वह मेरा स्वभाव नहीं है। इसका यह अर्थ हुआ कि परसे भिन्न अकेला रहना निजका स्वभाव है और मैं परमें एकत्वबुद्धिको दूर कर स्वसे रहना चाहता हूँ। पूर्ण होनेसे पहले पूर्ण स्वभावकी श्रद्धा करना चाहिये, क्योंकि उसके बिना पूर्णकी ओरका पुरुषार्थ नहीं आ सकता।

मैं त्रिकाल अनन्तगुणोंका पिण्ड हूँ। एक समयमात्रकी स्थितिका जो विकार है वह मेरा स्वभाव नहीं है। दोष और दुःखका ज्ञाता दोष अथवा दुःखरूप नहीं है। यदि मैं अवगुणोंको दूर करना चाहता हूँ तो वे दूर हो सकते हैं और मुझमें उन्हें दूर करनेकी शक्ति विद्यमान है। जिसे ऐसा भेदज्ञान नहीं होता उसके व्रत और चारित्र कहांसे हो सकते हैं? सम्यग्दर्शनसे पूर्व सच्चे व्रतादिक नहीं हो सकते और सम्यग्दर्शनके बिना भव-भ्रमण दूर नहीं हो सकता। यदि कषायकी मंदता हो तो पापानुबंधी पुण्यका बन्ध होता है। स्वतन्त्र, निरा-

वलम्बी तत्त्वको समझे विना धर्म नहीं होता, ऐसा नियम है। सर्वज्ञ कथित इस त्रैकालिक नियममें अपवाद नहीं हो सकता।

यथार्थ आत्मस्वरूपको समझे विना देहादिकी क्रियाकी बातोंमें और उसके झगड़ेमें जगत लगा रहता है। आत्ममार्ग तो अन्तरंग अनुभवमें है। अनादिसे विपरीतताके कारण जीवने जो कुछ मान रखा है वह यथार्थ नहीं है।

सुख अथवा दुःख जड़में नहीं है, किन्तु परवस्तुकी ओर झुकनेका जो भाव है वही दुःखरूप है। तीव्र कषाय अधिक दुःख है और मंद कषाय थोड़ा दुःख है। उसे लोग सुख मानते हैं, किन्तु वे दोनों आत्मगुणरोधक हैं। जैसे धुआँ अग्निका स्वभाव नहीं है, किन्तु गीली लकड़ीके निमित्तसे वर्तमान अवस्थामें जो धुआँ दिखाई देता है, वह अग्निका स्वरूप नहीं है; क्योंकि अग्निके प्रज्वलित होनेपर जैसे धुआँ दूर हो जाता है, उसीप्रकार चैतन्य स्वभाव राग-द्वेषरूपी धुएँसे रहित है। वर्तमान अवस्थामें पुरुषार्थके दोषसे शुभ या अशुभवृत्तिका मैल रहता है, किन्तु वह आत्मस्वरूप नहीं है। अल्प मैलका फल अल्प दुःख है, जिसे पुण्य कहा जाता है। अधिक मैलका फल अधिक दुःख है, जिसे पाप कहा जाता है। शुद्ध चैतन्यस्वभावमें जीवके एकाग्र होनेपर और ध्यानरूपी अग्निके प्रज्वलित होनेपर वह मैल दूर हो जाता है। शुभ और अशुभ दोनों भाव विकार हैं, दोनोंका कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुआ मैल जानकर जो उसे दूर करना चाहता है वह दूर करनेवाला मैं निर्मल हूँ, जिसकी ऐसी दृष्टि होती है वह उसे दूर कर सकता है।

त्रिकाल पूर्ण, निर्मल, निराकुल स्वभावके लक्षसे वर्तमान क्षणिक शुभाशुभ आकुलतारूप भाव दूर किया जा सकता है, इसलिये पहले ही पूर्णस्वभावकी प्रतीति करनेका कथन किया है। संपूर्ण दशा प्रगट होनेसे पहले अपना अपार आनन्द, निर्मल [illegible] है, ऐसी जो [illegible] प्रतीति करता है वह संपूर्ण दशाको प्रगट करता ही है। यदि कोई कहता है कि [illegible] होनेके [illegible], उससे [illegible] कहते हैं कि

वर्तमान अवस्थामें क्षणिक विकार है, [illegible] ज्ञानस्वभावरूपमें [illegible] है। [illegible] अवस्था होती है उसको [illegible] है। [illegible] समयमें [illegible] है। एक क्षणिक [illegible] मैं [illegible] हूँ, मैं तो [illegible] हूँ। [illegible] अखण्डता [illegible] पर्यायमें होती है, [illegible] भेद नहीं है। आत्मा अनन्तगुणोंका पिण्ड है, उसमें एक गुणकी वर्तमान अवस्था प्रगट होती है और दूसरे [illegible] अवस्था अप्रगट होती है, अर्थात् शक्तिरूपसे होती है। [illegible] आत्मामें भी अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि गुण अप्रगट [illegible] हैं।

आत्मामें समय समय पर होनेवाली विकारी अवस्था प्रवाहसे अनादिकी है, यह अवस्था क्षणिक होनेसे दूर की जा सकती है। आत्माका स्वभाव राग-द्वेषका नाशक है, किन्तु उत्पादक नहीं। चैतन्यका स्वभाव अवगुणको जाननेवाला है, अवगुणरूप होकर जाननेवाला नहीं है। न्यायपूर्वक विचार करनेसे मालूम होता है कि जिसको दूर करना चाहता हूँ वह मेरा स्वभाव नहीं है। इसका यह अर्थ हुआ कि परसे भिन्न अकेला रहना निजका स्वभाव है और मैं परमें एकत्वबुद्धिको दूर कर स्वसे रहना चाहता हूँ। पूर्ण होनेसे पहले पूर्ण स्वभावकी श्रद्धा करना चाहिये, क्योंकि उसके विना पूर्णकी ओरका पुरुषार्थ नहीं आ सकता।

मैं त्रिकाल अनन्तगुणोंका पिण्ड हूँ। एक समयमात्रकी स्थितिका जो विकार है वह मेरा स्वभाव नहीं है। दोष और दुःखका ज्ञाता दोष अथवा दुःखरूप नहीं है। यदि मैं अवगुणोंको दूर करना चाहता हूँ तो वे दूर हो सकते हैं और मुझमें उन्हें दूर करनेकी शक्ति विद्यमान है। जिसे ऐसा भेदज्ञान नहीं होता उसके व्रत और चारित्र कहाँसे हो सकते हैं? सम्यग्दर्शनसे पूर्व सच्चे व्रतादिक नहीं हो सकते और सम्यग्दर्शनके विना भव-भ्रमण दूर नहीं हो सकता। यदि कषायकी मंदता हो तो पापानुबंधी पुण्यका बन्ध होता है। स्वतन्त्र, निरा-

प्रश्नः—तब फिर मन है, यह कैसा माना जायेगा?

उत्तरः—यदि ज्ञान अकेला स्वतंत्र कार्य करता हो तो परावलम्बन न हो, और क्रम भी न हो, किन्तु जब विचारमें क्रम पड़ता है तब मनका निमित्त होता है। पांच इन्द्रियोंके द्वारा जो विषयोंका ज्ञान होता है उन इन्द्रियोंके सम्बन्धका ज्ञानोपयोग बन्धकर अन्तरंगमें विचार करने पर एकके बाद दूसरा क्रमपूर्वक विचार आता है, तब इन्द्रियोंमें प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि विचारमें क्रम पड़ता है। यह परावलम्बनको सिद्ध करता है। यह परावलम्बन द्रव्यमन है। यह विचारमें सहायता नहीं करता, किन्तु यह निमित्त मात्र है। ज्ञान अपने ज्ञानस्वभावके द्वारा ही जानता है। परवस्तु आत्माकी सहायता कर ही नहीं सकती।

लोगोंमें आजकाल सच्चे तत्त्वकी बात नहीं चलती। धर्मके नाम पर बहुतसा परिवर्तन हो रहा है, कुछ लोग आत्माको देह और वाणीसे पृथक् कहते हैं, किन्तु वह मनसे भी भिन्न है; संकल्प-विकल्परूप पुण्य-पापकी वृत्तिसे भी भिन्न है। वह परके आश्रयके बिना स्वमें रहने वाला है, और स्वतंत्रतया स्वको जाननेवाला है, ऐसा नहीं मानते; इसलिए उनको धर्मका प्रारम्भ भी नहीं होता। धर्म बाहरमें नहीं किन्तु अपनेमें ही है। जिसे यह ज्ञान नहीं है कि देह, वाणी और मनसे रहित धर्मस्वरूप आत्मा स्वयं ही है, वो परके ऊपर लक्ष रखता है, तथा यह मानता है कि पर सहायक होता है, परके अवलम्बनसे लाभ होता है, वह मूढ़ है। निमित्त पर है, और परकी स्वमें नास्ति है; इसलिए निमित्त [illegible] नहीं करता, किन्तु स्वयं परावलम्बनसे ([illegible]) [illegible] हो जाता है। [illegible] यह विचार करता है [illegible] होती है उसको निमित्त कहा जाता है। निमित्त [illegible] नहीं है, किन्तु [illegible] आरोप करता है। [illegible]

एकतासे छूटकर परद्रव्यके आश्रित होनेवाला जो विकार, पुण्य-पाप मोह भाव है वही मैं हूँ, इस प्रकार उसमें एकत्वबुद्धि करके प्रवृत्ति कर है, परके स्वामित्वसे परद्रव्यकी प्रवृत्तिमें लीन होकर प्रवृत्त होता है इसप्रकार कर्मके फन्देमें अटक रहा है। परको अपने साथ एक माननेवाला जाननेवाला और रागादिरूपसे परिणमन करने वाला 'परसमय' है, अशुद्ध अवस्थावाला है। आत्मा अकेला हो तो अशुद्धता नहीं आ सकती, किन्तु पुद्गलकर्मका निमित्त है, इसलिए उसके आरोपसे अशुद्ध अवस्था कहलाती है। मूल द्रव्यमें अशुद्धता घुस नहीं गई है। स्वभावसे देखें तो वर्तमान क्षणिक अशुद्धताके समय भी आत्मा शुद्ध ही है सोना सौटंची ही होता है। परधातुके संयोगके समय भी वह सौटंची शुद्ध था, इसलिये वह शुद्ध हो सकता है। जब सोनेमें तांबा मिला हुआ था तब भी तांबा सोनेका नहीं था, इसलिए वह उससे अलग किया जा सकता है। उसीप्रकार परके निमित्तसे रहित स्वाभाविक वस्तुके ऊपर लक्ष करने पर जीव क्षणिक विकार दूर कर सकता है। अखण्ड गुणकी प्रतीतिके बिना विकारका नाशक हूँ, ऐसी श्रद्धाके अभावसे मैं पुण्यवाला हूँ, विकारी हूँ, न्यून हूँ ऐसा मानकर पुण्यादि परका आश्रय ढूंढ़ता है। यदि इस विपरीतदृष्टिको बदलकर पूर्ण पवित्र स्वभावका लक्ष करे तो परमात्मदशा प्रगट होती है।

"पुद्गल कर्म प्रदेश स्थित है" इसका अर्थ है कर्म विपाकमें युक्त होना। जैसे चावल पकते हैं, वृक्षमें फल लगते हैं, उसीप्रकार कर्म परमाणुमें विपाकरूपी फल देनेकी शक्ति प्रगट होती है तब अज्ञानी उसमें राग-द्वेषभावसे युक्त होता है, उसको अपना स्वरूप मानता है और उसमें उसकी प्रवृत्ति-स्थिरता होती है। इसलिये यह 'परसमय' अधर्मी है, ऐसा जानना चाहिए। सम्भव है यह वचन कठोर मालूम हों, किन्तु वे सच्ची वस्तुस्थितिको दिखाते हैं, इसलिये सत्य हैं। जिसने निजको स्वतंत्र, निर्मल ठीक नहीं माना उसने परको ठीक माना है और इसलिये निजको भूलकर वह परके रागमें

अटक रहा है।

यदि यह बात सूक्ष्म मालूम हो तो पूर्ण ध्यान रखकर समझना चाहिये, आत्मा सूक्ष्म है इसलिए उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है। एक 'सच्ची समझ' के बिना अन्य सब अनन्तबार किया है। आत्माकी परम सत्य बात किसी ही विरले स्थानपर सुननेको मिलती है, यदि कोई धर्म सुनने जाये तो वहाँ कथा कहानियाँ सुनाई जाती हैं, बाह्यकी प्रवृत्ति बताई जाती है, बाह्य क्रियासे संतोष मनवाकर धर्मके स्वरूपको शाक-भाजीकी भांति सस्ता बना दिया गया है। जो बात अनन्त कालमें नहीं समझी गई उसे समझनेके लिये तुलनात्मक बुद्धि होनी चाहिए। लौकिक बात और लोकोत्तर बात बिलकुल भिन्न होती है। यदि यह बात जल्दी समझमें न आये तो इन्कार मत करना, जो अपना स्वाधीन स्वरूप है वह ऐसा कठिन नहीं हो सकता कि समझमें ही न आये, मात्र उसे समझनेका प्रेम चाहिए। आचार्यदेवने कहा है कि मैं अपनी और तुम्हारी आत्मामें सिद्धत्व स्थापित करके यह तत्त्व बतलाता हूँ।

अनजान व्यक्तिको ऐसा लगता है कि प्रतिदिन एक ही बात क्यों की जाती है। किन्तु अरे भाई! आत्मा तो सबको जाननेवाला है, परका कर्ता नहीं है। अजीवके ऊपर किसी आत्माकी सत्ता नहीं चलती। भगवान आत्मा तो परसे भिन्न, ज्ञाता, साक्षी, अरूपी है देहादि, जड़-रूपी हैं, उनका कोई अरूपी जीव कर्ता नहीं कर सकता। ऐसी 'दो और दो चार' जैसी स्पष्ट बात बुद्धिवालोंको कठिन कैसे लगती है? रूपीका कर्ता अरूपी नहीं होता, क्योंकि दोनों पदार्थ त्रिकाल भिन्न हैं। एक और दूसरे परस्पर किसीका कुछ नहीं कर सकता।

लोग कहते हैं कि [illegible] किया होता है, वह सब [illegible] है। किन्तु यही मिथ्या... बल है। "मैं करता हूँ, मैं करता हूँ" यही अज्ञान है। जैसे

गाड़ीके नीचे चलता हुआ कुत्ता ऐसा मानता है कि गाड़ी मेरे द्वारा चल रही है, उसी तरह जीवको देहसे पृथक्त्वका-साक्षीपनेका भान नहीं है, इसलिये परका कर्ता होकर ऐसा मानता है कि "मैं करता हूं मैं करता हूं।" शरीर अनन्त परमाणुओंसे बना हुआ है। उसका परिणमन तेरे आधीन नहीं है। शरीर, मन, वाणीसे आत्मा पृथक् है, ऐसा न मानकर परमें एकत्वबुद्धि करके, विकारको अपना मानकर जीव रागरूपसे परिणमन करता है, उसको 'परसमय' बताया गया है।

भावार्थः—जीव नामकी वस्तुको पदार्थ कहा है। 'जीव' शब्द जो अक्षरोंका समूह है सो पद है, और उस पदसे जो द्रव्य-पर्यायरूप अनेकान्तपना निश्चित किया जाता है सो पदार्थ है।

आत्मा पर-अपेक्षासे नहीं है और स्व-अपेक्षासे है, यह अनेकांत है। प्रत्येक पदार्थ स्व-अपेक्षासे है सो 'अस्ति' और पर-अपेक्षासे नहीं है सो 'नास्ति' है प्रत्येक वस्तुमें ऐसे दो स्वभाव हैं। जो स्व-अपेक्षासे है वह यदि पर-अपेक्षासे हो जाय तो स्वयं पृथक् न रहे। और जो पर-अपेक्षासे नहीं है, उसीप्रकार स्व-अपेक्षासे भी नहीं है, ऐसा माना जाये तो स्वका अभाव हो जाय। लकड़ी लकड़ीकी ही अपेक्षासे है, और दूसरी अपेक्षासे 'नहीं' है। इसप्रकार लकड़ीको देखकर निश्चय होता है। इसीप्रकार अस्ति-नास्ति दोनों एक पदार्थके स्वतंत्र धर्म हैं।

गुड़ शब्दसे गुड़ पदार्थका निश्चय होता है। शब्दमें पदार्थ नहीं है। इसीप्रकार जीव शब्दमें जीव वस्तु नहीं है, और जीव पदार्थमें शब्दादि नहीं हैं। यहाँ जीव शब्द कहा है, उसके द्वारा जीव पदार्थका द्रव्य-पर्यायस्वरूपसे निश्चय किया जाता है। उसे सात बोलोंमें कहा है:—

(१) प्रत्येक आत्माका स्वतंत्र द्रव्य-पर्यायरूपसे अनेकान्तपना निश्चित किया जाता है।

(२) जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है। क्षण-क्षणमें एकके बाद एक पर्याय बदलकर नित्य स्थिर रहता है।

(३) दर्शन ज्ञानमयी चेतनास्वरूप है।

(४) द्रव्य अनन्त गुणमयी, अनन्त धर्मस्वरूप होनेसे गुण-पर्याय वाला है।

(५) स्व-परको जाननेवाला स्वभावसे अनेकाकाररूप एक है, अर्थात् अनेकको जानकर अनेकरूप नहीं हो जाता।

(६) और वह आकाशादिसे भिन्न, असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है।

(असाधारण अर्थात् परसे भिन्न गुण। यह इसका स्थूल अर्थ है। असाधारण गुणका सूक्ष्म अर्थ ऐसा है कि ज्ञानगुणके अतिरिक्त अनन्तगुण जो आत्मामें हैं वे सब निर्विकल्प हैं, वे स्व-परको नहीं जानते। मात्र एक ज्ञानगुण ही स्वको और स्वसे भिन्न समस्त अपने गुण-पर्यायोंको जानता है, इसलिये असाधारण है।)

(७) अन्य द्रव्यके साथ एकक्षेत्रमें रहने पर भी वह अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता, ऐसा जीव नामक पदार्थ 'समय' है। जब वह अपने स्वभावमें स्थिर रहता है अर्थात् स्वमें एकत्वस्वरूपसे परिणमन करता है तब तो 'स्वसमय' है और जब परमें एकत्वपनेसे लीन होकर राग-द्वेषरूपसे परिणमन करता है तब 'परसमय' है।

इसप्रकार जीवके द्विविधता होती है। अब समयके द्विविधपनेमें आचार्य बाधा बतलाते हैं। मैं एक—पर रहित निर्मल हूँ, ऐसा जानकर जो रहता है सो स्वसमयरूप मोक्षमार्ग है और पर मेरे हैं ऐसा जानकर [illegible] परमें परिणमित होता है—स्थिर होता है सो पर परसमयरूप बंधमार्ग है।

[illegible]

भगवानकी वाणी सुननेके लिये वे धर्मसभामें आते हैं।

यहाँ यह कहते हैं कि जो स्वाश्रय है सो सुन्दर है, किन्तु पराश्रयमें बंधन होनेसे वह असुन्दर है। लोकमें कहा जाता है कि "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।" स्वाधीनतामें दूसरेका मुख नहीं ताकना पड़ता। एकत्वदशा कितनी सुन्दर है! कर्मसंबन्धके विकारका कथन विसंवाद करनेवाला है। एकमात्र चिदानन्दकी बात सुन्दर है, और परके साथ बन्धनभावकी कथा असुन्दर है। एकमें बन्ध नहीं होता। परवस्तुके संयोगसे, पराश्रयसे बन्ध होता है। आचार्य कहते हैं कि चैतन्य भगवान आत्माको हीन या परकी उपाधिवाला कहना पड़े यह बात शोभा नहीं देती, किन्तु क्या किया जाय! अपनी भूलसे बन्धनभाव है, इसलिये ऐसा कहना पड़ता है।

सर्वज्ञ भगवानने आत्माको शक्तिकी अपेक्षासे सबका ज्ञाता होनेसे "महान्" कहा है। इसलिये 'पर मुझे हैरान करता है' ऐसा जो मानता है उसको यह बात शोभा नहीं देती। तेरी अपार सामर्थ्यकी महिमा गाई जा रही है। श्रीमद् राजचन्द्रने कहा है कि:—

"जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहिं पण ते श्री भगवान जो।
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो॥"

(अपूर्व अवसर, गाथा–२०)

आत्माका अरूपी निर्मल ज्ञानानन्द स्वरूप साक्षात् केवलज्ञानमें भगवानने जाना है, वह स्वरूप लक्ष्यमें पूर्ण होने पर भी वाणीसे पूरा नहीं कहा जा सकता। ऐसा भगवान आत्मा मन और इन्द्रियोंके अवलम्बनके विना केवल अन्तरंगके अनुभवसे ही जाना जा सकता है।

लोकमें कहा जाता है कि मुझ जैसा कोई बुरा नहीं है, किन्तु ऐसा क्यों नहीं कहता कि मुझ जैसा कोई भला नहीं है? कोई

किसीका बुरा नहीं कर सकता। स्वयं अपनेमें बुरा भाव कर सकता है, और उससे अपना ही अहित होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि स्वतंत्र चैतन्यस्वरूप निजमें एकरूप है, उसमें बन्धपनेकी बुरी बात करना लज्जाजनक है। संसारमें परको बुरा कहकर आनन्द माना जाता है, तब आचार्यदेवको आत्माको विकार और बन्धन वाला कहनेमें लज्जा मालूम होती है। संसारमें परिभ्रमण करने वाला बुराईमें-विकारमें पूरा होना चाहे तो भी उसमें पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि विकार आत्माका स्वरूप नहीं है, एकत्वरूपमें बन्ध कहने पर स्वतंत्रताके ऊपर प्रहार होता है। भाई, दृष्टिको बदल स्वतंत्रताकी ओर देख तो बन्धन नहीं रहेगा। एकत्व-निश्चयको प्राप्त स्वतंत्र सिद्धदशामें स्थित रहता है, सो तो सुन्दर है, किंतु परमें एकत्वरूप दृष्टिको प्राप्त संसार-दशामें-बन्धदशामें है, जो कि असुन्दर है।

लोगोंमें ऐसा कहा जाता है कि ससुरालके नामसे जमाईकी पहचान होना लज्जाजनक है। वह स्वयं जिसकी संतान है उस पिताके नामसे पहचाना जाय तो ठीक है; इसीप्रकार भगवान आत्मा अपनी सजातीय संतान, निर्मल पर्याय जो शुद्धात्मा है उसके सम्बन्धसे पहचाना जाय तो यथार्थ है, किंतु कर्मके निमित्तसे विकारी पर्यायके द्वारा पहचाना जाय तो यह बहुत बुरी बात है। परभावके द्वारा पहचाने जानेमें तेरी शोभा नहीं है। स्वभावसे निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्रका प्रवाह बहता है, उससे आत्माकी पहचान होना सुन्दर है, किन्तु पराधीनता-बंधके द्वारा पहचान होना सुन्दर नहीं है।

सर्वज्ञ भगवानने देखा है कि इस जगतमें यह छहों अनादि-अनन्त और भिन्न भिन्न रूपसे विद्यमान हैं—जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल—इन छह द्रव्योंके [illegible] ही संसाररूप [illegible] है। [illegible] है। इस स्वरूपसे भिन्न होना ही [illegible] है, [illegible] पर द्रव्यसे भिन्न होना ही [illegible] है। [illegible] है और इसके

अनादि-अनन्त है, जो कि सर्वव्यापक है, अमेय है। इसके दो भेद हैं-(१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश।

(अ)-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल, कालाणु और जीव। जीव जितने क्षेत्रमें रहते हैं उतने क्षेत्रको लोकाकाश कहते हैं।

(ब)-लोकाकाशके अतिरिक्त अनन्त आकाशको अलोकाकाश कहते हैं।

लोग जिसे आकाश कहते हैं वह वास्तविक आकाश नहीं है, क्योंकि आकाशद्रव्य तो अरूपी है, और जो यह दिखाई देता है वह आकाशमें केवल रंग दिखाई देता है, जो कि परमाणुकी अवस्था है। आकाशके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं होते।

४. काल—यह एक अरूपी पदार्थ है। चौदहराजु लोकमें असंख्यात कालाणु हैं।

यह चार (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) अरूपी द्रव्य हैं, जो कि युक्ति और न्यायसे जाने जा सकते हैं।

५. पुद्गल—पुद् = पूरण, एक दूसरेमें मिलना और गल = जुदा होना। अथवा पुद् + गल = जैसे अजगर अपने पेटमें मनुष्यको गल (लील) जाता है, इसीप्रकार अरूपी-चैतन्यपिंड आत्माने शरीरकी ममता की, इसलिये शरीरके रजकणके दलमें, सारे शरीरमें ऐसा व्याप्त हो रहा है कि मानों शरीरने आत्माको निगल लिया हो, और वह ऐसा ही दिखाई देता है। अज्ञानीकी दृष्टि मात्र देहादिके ऊपर होती है, जब ज्ञानीकी दृष्टि देहादिसे भिन्न अरूपी-चैतन्यके ऊपर होती है। प्रत्येक रजकणमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शकी अवस्था बदला करती है-घटाबढ़ी हुआ करती है। जड़-देहादि पुद्गलकी अवस्थाकी व्यवस्था जड़ स्वयं ही करता है। जो देहादि स्थूल परमाणुओंका समूह बदलता दिखाई देता है उसमें प्रत्येक मूल परमाणु भी अपनी अवस्थामें बदलता है। यदि सूक्ष्म परमाणु अकेले न बदलते होते तो स्थूल आकार कैसे बदलता? इसलिये अनादि-अनन्त रहते हुए अवस्थाको बदलनेका स्वभाव पुद्गलका भी है।

६. जीवद्रव्य—यह अरूपी चैतन्यस्वरूप है। जानना-देखना इसका लक्षण है। ऐसे जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव एक सम्पूर्ण द्रव्य है, इसलिये सम्पूर्ण ज्ञान उसका स्वभाव है; जिसे वह प्रगट कर सकता है।

जगतमें जो जो पदार्थ हैं उन सबको जाननेकी ज्ञानकी सामर्थ्य होती है, और फिर वह ज्ञानस्वरूप-चैतन्य पर पदार्थके लक्षणसे भिन्न है, यह भी यहाँ बताना है। जबकि यह खबर रखता है कि घरमें क्या क्या वस्तु है, तो लोकरूपी घरमें भी क्या क्या वस्तुयें हैं यह भी जानना चाहिये। मुझसे भिन्न तत्त्व कितने और कैसे हैं यह जाननेकी आवश्यकता है। यथार्थ लक्षणसे निजको भिन्न नहीं जाना, इसलिये दूसरेके साथ एकमेक मानकर अपनी पृथक् जातिको भूल गया है। जिसे सुखी होना हो उसे पराधीनता और आकुलता छोड़कर अपनी स्वाधीनता तथा निराकुलता जाननी चाहिये।

"लोक्यंते जीवादयो यस्मिन् स लोकः।" अर्थात्—जिस स्थानमें छह पदार्थ जाने जाते हैं वह लोक है। और जहाँ जड़-चैतन्य इत्यादि पाँच द्रव्य नहीं हैं, किन्तु मात्र आकाश है वह अलोकाकाश है। लोकमें अनन्त जीव, अनन्तानन्त परमाणु इत्यादि छहों द्रव्य हैं। वे सब द्रव्य निश्चयसे एकत्व-निश्चयको प्राप्त हैं। उनमें जीवको ही बंधभावसे [illegible] जाता है, वह विसंवाद उत्पन्न करता है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, इसलिये वह लोकमें स्वतंत्र, पृथक् स्व-एकत्वपनेसे शोभित है। वे सुन्दर हैं, क्योंकि अन्यसे उनके संकर, व्यतिकर इत्यादि दोष नहीं आते हैं।

चौदह राजू लोकमें [illegible] प्रत्येक पदार्थ [illegible] भिन्न भिन्न विद्यमान हैं; यदि उनमें [illegible] ([illegible]) हो [illegible] [illegible] हो जाता है।

"[illegible]" अर्थात् एक [illegible] [illegible] है।

"परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" अर्थात् परस्पर विषयगमनको व्यतिकर दोष कहते हैं।

यदि एक वस्तु दूसरी वस्तुमें मिल जाय तो वस्तुका ही अभाव हो जाय। प्रत्येक पदार्थ पृथक् पृथक् हैं, ऐसा कहनेसे आत्मा परसे भिन्न है, ऐसा भी समझना चाहिये; उसे पृथक्, स्वतंत्र, शुद्धरूपमें समझना ही ठीक है। कर्मके निमित्तका आश्रय वाला तथा विकारीरूपमें समझना ठीक नहीं है।

धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य त्रिकाल शुद्ध हैं; तब फिर तू आत्मा शुद्ध क्यों नहीं है? इसमें शुद्ध कारण-पर्यायकी ध्वनि है। तेरा तत्त्व परसे भिन्न है, तथापि तुझमें यह उपाधि क्यों है? यदि तू अपनेको परसे भिन्नरूपमें देखे तो तुझे यह दिखाई देगा कि तुझमें तेरे अनन्तगुण विद्यमान हैं, उनकी निर्मल पर्यायसे तीनोंकालमें तेरा एकत्व-लीनपना है।

प्रत्येक वस्तु अपने अनन्त धर्मोंमें अन्तर्मग्न है। परमाणु उनके वर्ण, गन्ध, रस स्पर्शमें लीन–एकरूप रहते हैं। जीवमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व इत्यादि अनन्तगुण लीनपनेसे रहते हैं। जीव अपने ही अनन्त गुणोंको स्पर्श करता है, उनमें ही परिणमन करता है। आत्मा रजकणको स्पर्श नहीं करता और रजकण आत्माको स्पर्श नहीं करते। आत्माके गुण–पर्याय आत्मामें हैं, जड़के जड़में हैं। लोग पुद्गल–जड़को अशक्त मानते हैं, और यह मानते हैं कि उसमें कोई शक्ति नहीं है, किन्तु यह भूल है, क्योंकि रजकण तो जड़ेश्वर हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। उन जड़ रजकणोंकी अवस्था प्रत्येक क्षण अपने आप बदलती रहती है। उस अवस्थाकी व्यवस्था स्वतंत्ररूपसे होती है। इसीप्रकार जगतमें प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है। छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहने पर भी कभी एकरूप नहीं होते। ऐसे परसे नास्तिरूप गुणवाले 'अन्यत्व' आदि नामके अनन्तगुण प्रत्येक पदार्थमें हैं। वैसे अनन्तगुण अपने स्वभावको स्पर्श कर रहे हैं, अपने स्वभावरूपमें परिणमन करते हैं, पररूपमें परिणमन नहीं करते।

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे है, परकी अपेक्षासे नहीं है। इसप्रकार अस्ति-नास्ति दोनों स्वतंत्र स्वभाव कहे गये हैं। किसी द्रव्यकी कोई भी अवस्था किसी परके आधीन नहीं है। ऐसी मर्यादा है।

यहां हितरूप धर्म कहा जाता है। वह इसप्रकार है कि प्रत्येक वस्तु भिन्न है, इसलिये परसे अपना धर्म नहीं होता। प्रत्येक वस्तु पृथक्-पृथक् है, इसलिये यह मानना सर्वथा अयथार्थ है कि एक वस्तु दूसरेकी कुछ भी सहायता करती है।

असत्यके फलस्वरूप सच्चा सुख नहीं मिलता। प्रत्येक आत्मा पृथक्-पृथक् है। दूसरे आत्माको कोई आत्मा सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि कोई आत्मा पररूपसे नहीं हो सकता। इसप्रकार यहां स्वतंत्रताकी घोषणा की गई है।

प्रश्नः—जड़में कौनसे भाव हैं?

उत्तरः—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, पुद्गल-जड़के भाव हैं। प्रत्येक परमाणुमें अनन्तगुण हैं।

चेतनके ज्ञान-दर्शन आदि भाव हैं। प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त निकट एक ही क्षेत्रमें व्यापक होने पर भी भिन्न भिन्न हैं। यद्यपि सभी एक क्षेत्रमें हैं तो भी वे सदा स्वरूपसे रहते हैं, परवस्तुके रूपमें कोई नहीं होता।

एक घड़ेमें सुपारी, मिश्री इत्यादि बहुत भरे हों, इसलिये वे एक भावसे एकरूप नहीं हो जाते, इसीप्रकार पृथक भावसे समस्त वस्तुओंका पृथक्त्व कहा है।

अब सर्वोत्कृष्ट [illegible] स्पष्ट करते हैं—दूध और पानी [illegible] एकक्षेत्रमें एकमेक दिखते हैं, तथापि स्व-लक्षणसे भिन्न भिन्न हैं, इसलिये पानी जल जाता है और दूध [illegible] रह जाता है। जो [illegible] अवस्थामें [illegible] हो जाते हैं वे एकमेक नहीं होते। [illegible]

एकमेक है, इसलिये कभी पृथक् नहीं होती। गन्नेमें रस और मिठास एकरूप है इसलिये वह कभी पृथक् नहीं होते। मानससे छिलका अलग है, इसलिये वह मशीनमें डालनेसे अलग हो जाता है, इसीप्रकार देहादिसे चेतन स्व-क्षेत्रकी अपेक्षासे भिन्न है, इसलिये वह पृथक् रहता है। अज्ञानीको परसे पृथक्त्वका ज्ञान नहीं है, इसलिये पृथक्त्व या स्वतंत्रताको नहीं मानता। दूधको उबालनेसे पानी जल जाता है और मावा सफेद पिंडरूप रह जाता है, इसीप्रकार जीवसे वर्तमान क्षणिक अवस्थामें जो अशुद्धता है, वह शुद्धस्वभावकी प्रतीतिके द्वारा स्थिर होनेसे दूर हो सकती है। राग-द्वेष-विकार आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये वह दूर हो सकता है, तब फिर रजकण-देहादि आत्माके कैसे हो सकते हैं?

अन्तरंगमें अपनी स्वाधीनताकी जिसे कुछ चिन्ता नहीं है उसकी समझमें यह कुछ नहीं आता। कोई वस्तु पररूप परिणमित नहीं होती, इसलिये स्वतंत्र है। जो 'है' वह पररूप नहीं होनेके कारण है। अपनी अनन्तशक्ति नाशको प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ टंकोत्कीर्ण शाश्वत् स्वरूपसे, स्पष्ट, प्रगट एकरूप, स्व-अपेक्षासे स्थिर रहता है।

प्रत्येक जीव-अजीवका धर्म प्रगट है, परसे पृथक्त्व है। विरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु परसे-असत्‌रूपसे है, और अविरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु स्वत्वसे-सत्‌रूपसे है। सत् अर्थात् अस्तिरूप कार्य, और असत् अर्थात् नास्तिरूप कार्य। दोनों स्वभावके कारण सदा विश्वमें रह रहे हैं। स्वसे स्वयं है, और परसे स्वयं नहीं है, ऐसी प्रत्येक वस्तु परसे नास्ति और स्वसे अस्ति होनेसे विश्वको सदा स्थिर रखती है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तुमें अस्ति-नास्ति धर्म हैं, और वे प्रत्येक वस्तुकी स्वतंत्रताको बतलाते हैं।

इसप्रकार सर्व पदार्थोंका पृथक्त्व और स्वमें एकत्व निश्चित होनेसे इस जीव नामक समय (पदार्थ) के बन्धकी कथा विरोधरूप आती है, वह ठीक नहीं है।

आत्मासे भिन्न चार अरूपी द्रव्य स्वतंत्र हैं, निरपेक्ष, एकत्वको प्राप्त हैं इसलिये शोभा पाते हैं। तब तुझे बन्धन (परकी उपाधि) युक्त कैसे कहा जाय? धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जो पृथक् पृथक् लक्षण हैं उनके तो परका सम्बन्ध नहीं होता, और तेरी आत्माके बन्धनभाव हैं, यह कहना घोर विसंवादकी बात है। मैं परसे बँधा हुआ हूँ यही विचार अपनी स्वतंत्रताकी हत्या करता है। परके लक्षसे राग-द्वेषरूप विकार करना कहीं शोभारूप नहीं है, किन्तु आपत्तिजनक है। पृथक्-स्वतंत्र आत्माको परका बन्धनवाला कहना परमार्थ नहीं है।

प्रश्नः—किन्तु यह सामने तो बन्ध दिखाई देता है?

उत्तरः—वर्तमान क्षणिक संयोगाधीनदृष्टिको छोड़कर अपने त्रैकालिक असंयोगी-अरूपी ज्ञानस्वभावको देखें तो आत्मा बंधरहित, स्वतंत्र ही दिखाई देगा। देह और परको देखनेकी जो दृष्टि है सो बाह्यदृष्टि है, वह आत्माकी निर्मलताको रोकनेवाली है। अज्ञानी जीव अपने स्वतंत्र स्वभावको भूलकर परके कार्य मैंने किये, मैं देशादिका काम कर सकता हूँ, मैंने समाजमें सुधार किये, मैं था तो चन्दा लिखा गया, वहीं सभा भरी गई, मैं था तो यह कार्य हुआ, इत्यादि मान्यताके अभिमानसे स्वयं अपनी हत्या कर रहा है। इसलिये हे भाई! तू परके अभिमानको छोड़ दे, पर कार्यके अभिमानसे चैतन्यकी सम्पत्ति लुट रही है; यह पराधीनता है तथापि उसे हर्षसहित मानना पागलपन है।

पुण्य-पापका बन्धभाव मुझे लाभ करता है, उससे मेरा विकास होता है, इसप्रकार परसे लाभ माननेवाला [illegible] होता है। यह विसंवाद क्योंकर उत्पन्न होता है, सो आगे कहा जायगा।

आत्मा सदा अरूपी, ज्ञान दर्शन [illegible] है। उससे भिन्न जो पुद्गल है उसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श है। वे [illegible] छूते नहीं है। आत्माके [illegible] दूसरे [illegible] स्पर्श करते हैं, उनके [illegible] नहीं होता, किन्तु [illegible]

कहलाता है। विकारीभावको अपना मानना सो जड़-पुद्गल कर्मके प्रदेशमें रत होना है। जब अज्ञानसे परवस्तुमें युक्त होनेका स्वयं भाव करता है तब जीवके राग-द्वेषका कर्तृत्व आता है। परको माहात्म्य दिया और अपना माहात्म्य भूल गया। तू स्त्री-पुत्रादिको मेरा-मेरा कर रहा, किन्तु वे तेरे नहीं हैं।

एक तत्वको-एक आत्माको अपनेरूप और कर्मके संबंधरूप—दो रूप कहना सो बन्धकी विकारी दृष्टि है। विकारी दृष्टिवाला बंधनकी बातें आनन्दपूर्वक करता है और कहता है कि अब मात्र कहकर बैठे रहनेका समय नहीं, किन्तु सक्रिय काम करके हमें जगत्‌को बता देना चाहिये, ऐसा कहनेवालेका अभिप्राय मिथ्या है; क्योंकि परका स्वयं कर सकता है—ऐसा वह मानता है। शरीर, मन, वाणीका कण कण भिन्न है। उसकी प्रवृत्ति मुझसे होती है—ऐसा मानना तथा उसको अपना मानना सो स्वतंत्र चैतन्य आत्माकी हत्या करनेकी मान्यता है। आत्मा स्वतंत्र, भिन्न है। उसको पृथक् न मानकर परका कर्ता हूँ, ऐसा माननेवाले सभी लोगोंका अभिप्राय सर्वथा मिथ्या है। वे असत्यका आदर करनेवाले हैं। एकबार यथार्थ रीतिसे समझे कि जीव-अजीवादि सर्व पदार्थ तीनों कालमें पृथक् हैं, तो फिर किसी परका कुछ कर सकता है या नहीं, ऐसी शंका नहीं हो सकती। अपना कार्य किसीकी सहायतासे नहीं हो सकता।

एक परिणामके कर्ता दो तत्त्व नहीं होते; क्योंकि जड़-चेतन सभी पदार्थ सदा स्वतंत्ररूपसे अपनी अपनी अर्थक्रिया कर रहे हैं, फिर भी जो ऐसा नहीं मानते वे जीव अपने चैतन्यकी स्वतंत्रताकी हत्या करते हैं।

आत्माको पराश्रयता शोभारूप नहीं है। जिस भावमें तीर्थंकरत्व बँधता है वह भी रागभाव है, ऐसा जानकर पुण्य-पापरहित निरावलम्बी आत्माका जो एकत्व है वही शोभारूप है।

मैं सदा स्वालम्बी-मुक्त हूँ, ऐसा जाने विना जो कुछ जाने, माने और करे सो सब व्यर्थ है। मैंने परका ऐसा किया, [illegible]

प्रश्नः—ऐसा माननेके बाद, क्या फिर कोई दान, सेवा, उपकार आदि न करे ?

उत्तरः—कोई किसी परका कुछ कर नहीं सकता, किन्तु परका जो होना है, और जो होना है वह तो हुआ ही करेगा; तब फिर दान, सेवा, उपकार आदि न करनेका तो प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञानीके भी शुभभाव होता है, किन्तु उसमें उनका स्वामित्व नहीं होता।

अनादिकी विपरीत मान्यताको लेकर परमें एकत्व सुलभ हो गया है और परसे पृथक्त्वका श्रवण, परिचय, अनुभव कठिन हो गया है। भूतकालके विपरीत अभ्यासकी अपेक्षासे यह बात कठिन बताई है, किन्तु पात्रता प्राप्त करके परिचय करे तो ज्ञात हो कि यह अपनी स्वाधीनताकी बात है इसलिये सरल है।

टीकाः—इस समस्त जीवलोकको काम-भोग सम्बन्धी कथा एकत्वसे विरुद्ध होनेसे अत्यन्त विसंवादी है (आत्माका अत्यन्त बुरा करनेवाली है); तथापि पहले कभी अनन्तबार सुननेमें आई है, परिचयमें आई है और अनुभवमें भी आ चुकी है।

मैं परका कर सकता हूँ, पर मेरा कर दे, ऐसी इच्छारूप जीवने अनादिसे सेवन किया है, किन्तु मैं परसे [illegible]-भोगरूपसे रहित हूँ, इसलिये मुझमें [illegible], आत्माकी स्वतन्त्रता, ज्ञान और स्वभाव [illegible], यही ठीक है। ऐसी बात पहले अनन्तकालमें जीवने यथार्थरूपसे नहीं सुनी।

स्पर्शन और रसना—दो इन्द्रियोंके द्वारा काम तथा घ्राण, चक्षु और कर्णको भोगकी मुख्यता है।

[illegible]

परन्तु विषय नहीं है, वस्तु तो वस्तु ही है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शमें विषय नहीं, किन्तु उसकी ओरका जो रागभाव है सो विषय है। इसका रूप सुन्दर है, ऐसा मानकर [illegible] आत्मा जो रूप-सम्बन्धी राग करता है सो रूप-सम्बन्धी विषय है। इसीप्रकार गन्ध, रस और स्पर्शके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। परद्रव्यके ऊपर लक्ष करके जीव जब राग-द्वेष करता है तब परद्रव्य विकारका निमित्त होनेसे, उपचारसे परद्रव्यको विषय कहा जाता है। ज्ञानभावसे परद्रव्यको जाने, उससे राग-द्वेष न करे तो वह परद्रव्य ज्ञेय कहलाता है। स्व-पदार्थका लक्ष करना सो स्व-विषय है। यदि स्वका लक्ष करे तो जीवको राग-द्वेष न हो।

देव, गुरु, शास्त्र पर हैं, उनके प्रति भी जीव रागरूप भाव रखे तो वह भी रागका व्यापाररूप परविषय है। शास्त्रमें कहा है कि आत्मा परके आश्रयसे रहित है, पुण्य-पापसे भिन्न है, मन और इन्द्रियोंसे भिन्न है, किसी भी परके साथ उसे सम्बन्ध नहीं है, शुभ-विकल्प भी आत्माको सहायक नहीं है। निमित्ताधीन होनेसे शुभाशुभ भावका होना भी ज्ञानी आत्माका कार्य नहीं है। किन्तु ऐसा जिसने नहीं माना उसने राग द्वारा ही शास्त्रोंको सुना है, और इसलिये उसने शास्त्रोंको भी इन्द्रियका विषय बनाया है। शास्त्रके शब्दोंके द्वारा धर्म प्रगट होता है, ऐसा जिसने माना उसने शास्त्रके शब्दको शुभ-रागका विषय बना लिया। आत्मा चैतन्यमूर्ति-ज्ञाता ही है, शब्दादि पाँचों विषयोंसे भिन्न है,—ऐसा शास्त्रके कहनेका आशय है। उसे भूलकर ऐसा माने कि देव, शास्त्र, गुरुके संयोग द्वारा धर्म आता है वह जीव वहाँ भी रागके विषयरूप व्यापार करता है।

तीर्थंकर भगवानको भी आँखोंसे अनन्तबार देखा, वहाँ भगवानको भी शुभरागका विषय बनाकर पुण्यबन्ध किया; निमित्त अथवा रागके बिना स्वावलम्बी दृष्टिसे भगवानको कभी देखा नहीं; इसलिये वह भी परविषय होगया।

अशुभसे बचनेके लिये देव, गुरु, शास्त्रकी विनय-भक्तिरूप

होती है, क्योंकि उसने वह पहले कभी सुनी नहीं है, इसलिये कदाग्रहीको यह विरोधरूप लगती है, परन्तु सरल जीव अपनी शुद्धताकी बात सुनकर हर्षसे नाच उठते हैं और कहते हैं कि अहो! ऐसी बात हमने कभी भी नहीं सुनी थी।

"हमने तुम्हारे लिए इतना किया है," ऐसा कहनेवाला असत्य कहता है, क्योंकि तीन काल और तीन लोकमें कोई परका कुछ कर नहीं सकता, मात्र वह ऐसा मानता है। ज्ञानी अथवा अज्ञानी परका कुछ कर ही नहीं सकता। अनादिकालीन विपरीतदृष्टिके खण्डको बदलकर नये माल (सच्ची दृष्टि) को भरनेके लिये नया खण्ड बनाना चाहिए।

वर्तमानमें धर्मके नाम पर बहुत-सी गड़बड़ी दिखाई देती है, पुण्यसे और परसे धर्म माना जाता है; किन्तु आत्मासे धर्म होता है, [illegible] मानता आया है उससे यह बात भिन्न है। सत्य बात तो जैसी है वैसी ही कहनी पड़ती है और उसे माने बिना छुटकारा नहीं है। सत्यको हल्का-मासा बनाकर तोला नहीं जा सकता। यदि कोई कहता है कि यह तो बहुत उच्चकोटिकी बात है, सो ऐसा नहीं है; क्योंकि यह धर्मकी प्रारम्भिक बात है।

आत्माको पुण्यादि पर-आलम्बकी आवश्यकता प्रारम्भमें भी नहीं है। सच्ची समझके बिना तप-जप इत्यादिसे पुण्य [illegible] और नवमें ग्रैवेयक तक गया, फिर भी स्वतंत्र आत्मस्वभावको नहीं जाना, और इसलिये भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

जीवने [illegible] इससे पूर्व कभी नहीं सुना कि [illegible] [illegible], [illegible] हुए हैं, [illegible] नहीं है, [illegible] [illegible] है [illegible] इसलिये कहते हैं कि [illegible] [illegible] कोई [illegible] [illegible] है, [illegible]

है और देव, गुरु, शास्त्र पृथक् हैं; एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी कुछ सहायता नहीं कर सकता। जब स्वयं समझे तब देव, गुरु, शास्त्र निमित्त कहलाते हैं। उपादानकी तैयारी न हो तो देव, गुरु, शास्त्र क्या करेंगे? जैसे पिंजरापोलके जिस पशुके पैरमें शक्ति न हो उसे यदि लकड़ीके सहारे जबरन् खड़ा करे तो भी वह गिर पड़ता है, और गिरनेसे जो धक्का लगता है, उससे वह अधिक अशक्त हो जाता है। इसीप्रकार जो यह मानता है कि मैं शक्तिहीन हूँ, उसे देव, गुरु, शास्त्रके सहारे खड़ा किया जाय तो भी वह नीचे गिर पड़ता है, और पछाड़ खाकर अधिक अशक्त हो जाता है। देव, गुरु, धर्म वीतरागी स्वतंत्र तत्त्व हैं; उसीप्रकार मैं भी स्वतंत्र अनन्तशक्तिवाला हूँ। परके आश्रयके बिना मैं अपने अनंत गुणोंको प्रगट कर सकता हूँ, ऐसी यथार्थ मान्यता सम्यग्दर्शन है। ऐसा होने पर भी जो यह मानते हैं कि देव, गुरु, शास्त्र मुझे तार देंगे, वे मानों यह नहीं मानते कि वीतरागदेवके द्वारा कही गई यह बात सत्य है कि आत्मा स्वतंत्ररूपसे अनन्त पुरुषार्थ कर सकता है।

सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं कि हम स्वतंत्र और भिन्न हैं, तू भी पूर्ण स्वतंत्र और भिन्न है। किसीकी सहायताकी तुझे आवश्यक्ता नहीं है। ऐसा निष्पृही वचन वीतरागके बिना दूसरा कौन कहेगा?

बहुतसे लोग कहा करते हैं कि हमारा स्वार्थत्याग तो देखो, हम जगत्के लिये मरे फिरते हैं, हम अपनी हानि करके भी जगत्का सुधार करते हैं, किन्तु लोगोंको यह खबर नहीं है कि ऐसा कहनेवालेने दूसरोंको पराधीन तथा अशक्त ठहराया है।

कोई किसीका उपकार नहीं करता, मात्र ऐसा भाव कर सकता है। स्वयं सत्यको समझे, और फिर सत्यको घोषित करे; वहाँ जो भी योग्य जीव हो वह सत्यको समझ लेता है, ऐसी स्थितिमें व्यवहारसे कहा जाता है कि उसका उपकार किया है। साक्षात् तीर्थंकरदेव पृथक् है और तू पृथक् है; उनकी वाणी अलग है, इसलिये वह तुझे कदापि सहायक नहीं हो सकती। ऐसा माने बिना स्वतंत्र तत्त्व समझमें नहीं आयगा।

शुभभाव करनेका निषेध नहीं है, किन्तु वह शुभभाव पुण्य है; धर्म भिन्न वस्तु है। स्वात्मलक्षके बिना सब परलक्ष है। अनादिसे परके ऊपर दृष्टि है, दूसरा मेरी सहायता करे ऐसी जिसकी मान्यता है उसने अपनेको निर्माल्य माना है। "हे भगवान! कृपा करो, अब तो तारो"—इसका अर्थ तो यह हुआ कि अब तक बंधनमें रखकर तुमने परिभ्रमण कराया सो यह दोष भी तुम्हारा है। आत्मामें अंतरशक्ति है, सदा स्वावलम्बी है, पुण्य-पापकी वृत्ति जो कि पर है उससे भिन्न है, ऐसी बात जीवने पूर्वमें कभी नहीं सुनी थी, उसका परिचय-अनुभव नहीं किया था, मात्र परके कर्ता-भोक्ताकी ही बात सुनी थी।

मैं परका कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकते हैं, ऐसा 'कर्तृत्वभाव' और हर्ष-शोक-सुख-दुःखका अनुभव 'भोक्तृत्वभाव' इत्यादि सब बंधकथा है, और इसलिये वह सुलभ है, किन्तु पुण्य-पापादि रहित एकत्वकथा सुलभ नहीं है. पुण्य-पापादि करने योग्य हैं, यह विकारभावकी कथा निर्विकारी चैतन्यमूर्ति भगवान आत्माकी विरोधी है। अनन्तगुणके पिंड आत्माको परके अवलम्बनकी भी आवश्यकता नहीं है, किन्तु जीव [illegible] रुचि होजाता है इसलिए राग होता है. पुण्यका जो विकल्प है वह भी गुणकी विपरीततासे होता है। गुणकी विपरीततासे आत्मामें अविकारी गुण प्रगट होता है, ऐसा मानना-मनवाना तो विरुद्ध है। आत्माके किसी अवलम्बनके बिना परके कारणसे लाभ होता है, पुण्यसे धर्म होता है, ऐसी अहित करनेवाली बंधकथा जीवोंने अनन्तबार सुनी है, अनुभव की है, किन्तु पुण्य-पाप रहित आत्मकथा सुनना बहुत दुर्लभ है।

फिर [illegible] मोक्षमार्ग भी नहीं होता। [illegible]

प्रतीति न होना सो मोह है। इसी कारणसे परमें रमणता करता है। परकी जो कर्तृत्वबुद्धि है सो परमें सावधानी है।

जीवको मोहसे उत्पन्न तृष्णारूपी रोग हुआ है, उसकी दाहसे व्याकुल होकर विषयोंकी ओर ऐसे दौड़ता है जैसे मृग मृगजलकी ओर दौड़ता है। भगवान आत्मा शांतरस वाला है; उसे भूलकर बाह्य प्रवृत्तिके द्वारा सुख माननेवालेको आकुलताके कारण आन्तरिक आत्मतत्त्वको देखनेका धैर्य नहीं है। असन्तोषरूपी अग्नि अन्तरंगमें सुलग रही है। मैंने इसका काम किया, इतनोंको सहायता दी, मुझे इसकी सहायता मिले तो ठीक हो, यदि ऐसे साधन मिलें तो बहुतोंका भला कर दूं, इसप्रकार आकुलता किया ही करता है। कोई जीव किसी दूसरेका कुछ भी करनेके लिये तीनकालमें समर्थ नहीं है। भाग्यानुसार बाह्यके कार्य हुआ करते हैं, यह बात नहीं विचारता। किसीकी ओरसे सहायता मिलनेका किसीके पुण्योदय हो और उसका सहायता देनेका शुभभाव हो, ऐसा मेल कभी कभी दिखाई देता है; किंतु इसलिये मैंने परका उपचार या कार्य किया ऐसा मानना सो अभिमान है। यदि कोई कहे कि मैंने इतनोंको समझा दिया, तो क्या वह सच है? समझनेकी अवस्था स्वसे होती है या परसे? तब फिर यदि कोई माने कि मैंने परकी ऐसी निन्दा की सो उसका अहित हुआ, प्रशंसा की सो भला हुआ, मुझसे पूछो, मुझसे मार्गदर्शन प्राप्त करो, मेरा आशीर्वाद मांगो, हम व्यवहारकुशल हैं, मैं ऐसा समाधान करा दूं और उसका विरोध करा दूं; बहुतोंकी सेवा करनेसे उनका आशीर्वाद मिलता है, इसलिये लाभ होता है, इत्यादि मान्यता त्रिकाल मिथ्या है। किसीके आशीर्वादसे किसीका भला नहीं होता, और किसीके श्रापसे किसीका बुरा भी नहीं होता। इसप्रकार लौकिककी बातमें पद-पद पर अन्तर है। इष्ट-वियोग अथवा अनिष्ट-संयोग पापके बिना नहीं होता, और इष्ट-संयोग पुण्यके बिना नहीं होता। अपने किये गए राग-द्वेष-अज्ञानसे बन्ध होता है, और राग-द्वेष-अज्ञानरहित भावसे मुक्ति होती है। इसप्रकार प्रत्येक जीव स्वतंत्ररूपसे अपने भाव

तर जाऊँगा। 'जनसेवा ही प्रभु सेवा है' यह मान्यता भी मिथ्या है। हजारों दीपकोंका प्रकाश एक घरमें इकट्ठा हुआ हो तो किसी एक दीपकका प्रकाश किसी दूसरेमें मिल नहीं जाता, इसीप्रकार किसी जीवके भावमें दूसरेका भाव मिल नहीं जाता।

यदि कोई माने कि मुझसे बहुतसे लोग समझें तो मुझे पाथेय प्राप्त हो जाय; किन्तु यह मान्यता भ्रम मात्र है। यदि कोई न समझे तो अपनेको रुकना नहीं पड़ता।

अज्ञानी जीवका अनादिसे परके ऊपर लक्ष है, इसलिये यह मानकर या मनवाकर कि मैं परका कुछ कर सकता हूँ, पराधीनताको अंगीकार करता और करवाता है। साधु नाम धारण करके दूसरोंको बंधनकी प्रवृत्ति बताता है। "करूँगा तो पाऊँगा" जवानीमें कमा लें, फिर वृद्धावस्थामें शांतिसे धर्म करेंगे, इस प्रकार बहुतसे लोग मानते और मनवाते हैं। बाहरका मिलना न मिलना तो पूर्व प्रारब्धके आधीन है। 'अधिक पुण्य करनेसे बड़े होते हैं' ऐसा तृष्णा-मोह बढ़ानेका उपदेश बहुत जगह सुननेको मिलता है। परके द्वारा अरूपी आत्माकी महत्ताका गुण गानेवाले सर्वत्र पाये जाते हैं। 'यदि परका कुछ नहीं करें, और जहां-तहां आत्मा ही आत्मा करते फिरें तो बड़े स्वार्थी कहलायेंगे,' ऐसा माननेवाले लोग जगत्‌के प्रत्येक द्रव्यके स्वतंत्र स्वभावको भूल जाते हैं। कोई किसीका कुछ कर नहीं सकता। बाहरका जो होना होता है वैसा ही उस उस वस्तुके कारणसे होता है। यह बात सुननेको नहीं मिलती, इसलिये समझनेमें मेल नहीं बैठता। दूसरेको लाभ कर दूँ, ऐसी अभिमान भरी बातें होती रहती हैं, किन्तु आन्तरिक तत्त्व पृथक् है, उसे कौन याद करे? जिस बातका परिचय होता है उसके प्रति प्रेम बताता है, इसलिये काम-भोगकी कथा जहां-तहां सुलभ हो गई है; किन्तु आत्माकी स्पष्ट भिन्नता और स्वतंत्र एकत्वकी बात दुर्लभ हो गई है। मैं परके कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित, परके आश्रय रहित, पुण्य-पापसे रहित, विकल्प वृत्तिसे निराला, सदा प्रगटरूपसे अन्तरंगमें प्रकाशमान, ज्ञायकमात्र हूँ, ऐसा

भेदज्ञानज्योतिसे निर्णय करना चाहिये।

अपने अखण्ड चिदानन्द ध्रुवस्वभावका जो आश्रय है सो कारण है, और आत्मा स्पष्ट निराला अनुभवमें आता है सो उसका फल है। इसप्रकार साधन-साध्यता आत्मामें ही है।

अनन्त गुणोंका पिण्ड, सदा चैतन्यज्योति आत्मा प्रगट है, प्रकाशमान है। पुण्य-पाप रागादिसे आत्मा भिन्न है, तथापि कषायके साथ एकमेक सा मानता है; (कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ, पुण्य-पाप। जो क्रोध-मान है सो द्वेषभाव है और माया-लोभ रागभाव है। रागमें पुण्य-पाप दोनों हैं।) बन्ध-मोक्ष ये दो अवस्थाएं कर्मके निमित्तकी अपेक्षासे हैं। शक्ति-व्यक्तिके भेदको गौण करके देखने पर सदा एकरूप, निर्मल, ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा है, किंतु पराधीन-दृष्टिसे वह स्वरूप ढक जाता है। परके साथ मेरा सम्बन्ध है, उस (कर्तव्य) को पूरा करना चाहिये, ऐसा पकड़कर चौरासीके चक्करमें परिभ्रमण किया। स्वभावसे निर्मल, त्रिकाल साक्षीरूप भगवान आत्माको नहीं जाना, इसलिये सर्वज्ञ-तीर्थंकर भगवानके पास अनन्तबार जाने पर भी पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं परका आश्रयवाला हूं, ऐसे पराधीन भावकी पकड़ होनेसे केवलज्ञानी भगवानके पाससे भी कोराका कोरा ही लौट आया। विष्टामें रहनेवाले भौंरेको देखकर गुलाबके फूलोंमें रहनेवाले भौंरेने उससे कहा कि "तू तो मेरी जातिका है, गुलाबकी सुगन्ध लेनेके लिए मेरे पास आ!" विष्टाका वह भौंरा विष्टाकी दो गोलियाँ अपनी नाकमें लेकर गुलाबके फूल पर जा बैठा। गुलाबके भौंरेने पूछा कि "कैसी सुगन्ध आती है?" उसने उत्तर दिया, "मुझे यहां आकर भी वैसी ही वही आती है।" गुलाबके भौंरेने विचार किया कि ऐसा क्यों होता होगा? और फिर उसके नाकके छेद [illegible]

वाला हूं, ऐसा अप्रतिहतभाव है। इसीप्रकार यदि तुम भी प्रमाण करोगे तो मेरे जैसे ही हो जाओगे। निमित्त और उपादान एक जातिके हो जायेंगे—उनमें भेद नहीं रहेगा।

आचार्यदेवके अन्तरंगमें अप्रतिहतभाव प्रगट हुआ है, और वाणीके द्वारा भी जो कहना चाहा था वह अप्रतिहतरूपसे पूर्ण हुआ है। उपादान-निमित्तका एकसा अपूर्व मेल हो गया है, ऐसे किसी महान योगसे शास्त्र रचा गया है।

अपने वैभवकी निर्भयतासे और निःशंकतासे आत्माके एकत्व-विभक्तपनको वतलाते हैं। एकत्व शब्द स्वसे अस्तित्व और विभक्त शब्द परसे नास्तित्वको सूचित करता है। आचार्यदेव कहते हैं कि—

मैं स्वयं उत्तरदायित्वके साथ कहूँगा, स्वयं देखभाल कर अपूर्व आत्माकी बात निज-वैभवसे कहूँगा, इसप्रकार निज अनुभवसे वे कहते हैं, फिर विनयसे कहेंगे कि तीर्थंकर भगवानने ऐसा कहा है। किन्तु यहां तो सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर रखकर प्रसिद्ध करते हैं, इसलिये जो कहेंगे वह कहीं इधर-उधरसे ले लिया है ऐसा नहीं है, किन्तु वे निज-वैभवसे, स्वानुभवसे आत्माका अपूर्व धर्म कहते हैं।

अन्तरंगमें अखण्ड ज्ञान-शांतिस्वरूप पूर्ण आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान और आन्तरिक रमणताका जो आनन्द है सो निज-वैभव है; उसके द्वारा दिखता हूँ। वाणीमें आत्मस्वरूपको यथार्थ कहनेका भाव है, साथ ही उपादानका वल है। जो विकल्प उठा, उसके अनुसार उसका शास्त्रमें वाणीसे पूर्ण होनेका योग महाभाग्यसे मिलता है।

जो भाव सर्वज्ञका है, उस भावको लक्षमें लेकर पीछे न हटें, ऐसे भावको लेकर यहां अप्रतिहतभाव बताया है। यदि कहीं शब्द-रचनामें भूल हो तो दोष ग्रहण नहीं करना। शब्दमें कोई व्याकरण आदिकी भूल कदाचित् हो, किन्तु आत्माके प्रमाणकी बात तो यथार्थ ही कही जायगी। शास्त्र-रचनामें अक्षर, मात्रा, व्याकरण,

अलंकार आदि आते हैं, उन पर भार नहीं है, किन्तु जो परमार्थस्वरूप एकत्वका कथन करना है उसमें कहीं भूल नहीं है, इसलिये शब्दकी भूल मत ढूंढ़ना। गायके जहाँ घाव निकला हो वहीं कौवा बैठता है; इसीप्रकार दुर्जनकी भाँति दोष देखनेकी दृष्टि ग्रहण नहीं करना। सज्जन पुरुषोंको दोष ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु मैं जो शुद्ध आत्माका अनुभव कहना चाहता हूँ उसे अन्तरंगमें मिला लेना। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं केवली नहीं, छद्मस्थ हूँ; हाँ केवलज्ञान प्राप्त करनेका मेरा आन्तरिक अनुभव प्रगट हुआ है, इसलिये [illegible] से कहनेको उद्यत हुआ हूँ।

टीका:—जो कुछ मेरे आत्माका निज-वैभव है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और अन्तरंगमें रमणतारूप चारित्रदशा है। उस प्रगट स्वानुभवके समस्त सामर्थ्यसे मैं इस एकत्वभूत और परसे पृथक् आत्मा-को दिखाऊँगा। जैसे निर्धनके यहाँ विवाह हो तब वह [illegible] सारी सम्पत्ति बाहर निकालता है, इसीप्रकार यहाँ [illegible] है, हम छद्मस्थ हैं, फिर भी हमने आत्मशान्ति प्राप्त की है, और पूर्ण शान्ति की [illegible] स्वानुभवके द्वारा बढ़ते हैं। जितना हमें अन्तरज्ञान वैभव प्रगट हुआ है उस सबसे, आत्मानुभवरूप [illegible] पूर्ण बलसे इस एकत्व-विभक्त आत्माको दिखाऊँगा।

वाणी तो पर है, वाणी वाणीसे परिणमन करती है, वाणीका परिणमन होना या न होना भाषाकी योग्यता पर अवलम्बित है, फिर भी यहाँ [illegible]

[illegible]

कोई चतुर मनुष्य, सामनेवालेके अभिप्रायमें जितनी बात है उसका सारा भाव थोड़े शब्दोंमें समझ लेता है और दृढ़तासे कहता है कि—'तुम्हारा जो कहना है वह मैं बराबर समझ गया हूँ' इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ वीतरागकी वाणीमें आये हुये भावोंको मैं यथार्थरूपसे समझा हूँ, इसलिये अपने निज-वैभवसे यथार्थ आत्मस्वरूपका वर्णन किया जायगा। यह तो निमित्तका कथन है। इसमें वास्तवमें तो आचार्य अपनी महिमा गाते हैं, क्योंकि परमार्थसे कोई किसीको नहीं समझाता। स्वभावकी दृढ़तासे उपादानमें ऐसी सामर्थ्य है कि जिसके योगसे वाणीमें भी उस स्वरूपको यथार्थ कहनेकी योग्यता आ गई है। वाणीके परिणमनमें जीवका योग और इच्छा निमित्त है। व्यवहारसे कहा जाता है कि 'जहां बलवान उपादान आया वहां ऐसी वाणी आये बिना नहीं रहती।' वास्तवमें वाणीका परिणमन स्वतंत्र है। सर्वज्ञ वीतरागका पुण्ययोग भी उत्कृष्ट होता है, इसलिये उनकी वाणी भी परिपूर्ण होती है, उस वाणीको 'शब्दब्रह्म' कहा है, और उसमें 'स्यात्' पदकी मुद्रावाला लिखा है।

स्यात् = कथंचित् प्रकारसे और वाद = कथन करना [illegible] एक धर्मको मुख्य और दूसरे धर्मको गौण करके कहना सो 'स्याद्वाद' है। जैसे कि 'वस्तु नित्य है' ऐसा कहने पर [illegible] (अविनाशी) है ऐसा समझना चाहिये। 'वस्तु [illegible] है' ऐसा कहने पर [illegible] पलटती हुई [illegible] है ऐसा समझना चाहिये। [illegible]

से जो जो कथन जिनेश्वरदेवने कहा है वह वस्तुके अनेक स्वभाव-अनुसार कहा है। उसमें कही गई अपेक्षाको न समझे और 'आत्मा पूर्ण शुद्ध ही है' ऐसा मान ले तो वर्तमान संसारदशाकी अशुद्धता दूर करनेका पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। आत्मा स्वभावसे शुद्ध है और वर्तमान प्रत्येक समयवर्ती पर्यायोंकी अपेक्षासे अशुद्ध है; इसप्रकार दोनों अपेक्षाओंको यथार्थ समझ ले तो पूर्ण शुद्ध स्वभावके लक्षसे अशुद्धताको दूर करनेका प्रयत्न अवश्य करेगा। सर्वथा निर्दोष कथन सर्वज्ञ वीतराग कथित आगमका ही है।

अरहंतका परमागम सब वस्तुओंके सामान्य (वचनगोचर) धर्मोंका कथन करता है और वचनसे अगोचर जो विशेष धर्म हैं उनका अनुमान कराता है, इसप्रकार वह सर्व वस्तुओंका प्रकाशक है इसलिये सर्वव्यापी कहलाता है।

सभी मानवों और देवेन्द्रोंके द्वारा पूज्य अथवा जिन्हें पवित्र आत्मधर्म प्रगट करना है उनसे पूज्य वे अरहंत हैं। वे सदा पूज्य हैं, इसलिये उनकी वाणीका बहुमान होता है। अरहंत सर्वज्ञके मुखसे निकले हुये परमागममें कथित भावकी उपासनासे निज-वैभवका जन्म हुआ है। वाणी तो जड़ है किन्तु यहाँ पर सर्वज्ञका गंभीर आशय क्या है, उसके समझनेकी परमार्थसे उपासना की गई है, फिर भी जिनवाणीमें उपचार करके कहते हैं कि उससे निज-वैभवका जन्म है। आत्मा अपनी अनन्तशक्तिसे त्रिकाल स्वतंत्र है। आत्माके जो अनंतगुण हैं वहीं अनन्त-शक्तिरूप निज-वैभव है। वह अप्रगट था किन्तु वर्तमान अपूर्व पुरुषार्थके द्वारा वीतरागकी वाणीके बारंबार अनुसरण करनेसे उसका जन्म हुआ है।

सर्वज्ञने जैसा स्वरूप कहा है वैसा बराबर समझकर उस ज्ञानकी निर्मलताका जो अभ्यास-परिचय है सो स्व-सेवा है। इसके अतिरिक्त अन्य किसीप्रकार किसी भी कालमें आत्माको गुण नहीं होता। इसप्रकार गुणकी निर्मलताकी विधि कहने पर उससे जो विरुद्ध है सो असत् है ऐसा निषेधपक्ष समझ लेना चाहिये।

सर्वज्ञ वीतरागने जो कहा है उसका आशय समझनेसे आत्मानुभव प्रगट होता है। सर्वज्ञकी वाणीको शब्दब्रह्म कहनेका यह अर्थ है कि वह समस्त पदार्थको बतानेवाली है।

नित्यत्व, अनित्यत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, अस्तित्व, नास्तित्व जैसे धर्म होता है, ऐसे अनेक प्रकारके कथनसे सम्पूर्ण पदार्थका ज्ञान करानेमें समर्थ होनेसे सर्वज्ञकी वाणी 'शब्दब्रह्म' कहलाती है। इससे कहे गये अर्हन्तके परमागमोंमें सामान्य धर्मोंका कथन है, तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि और जीवत्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र जैसे विशेष गुण कहा जाता है, और स्याद्वाद द्वारा वचन अगोचर विशेष धर्मोंका अनुमान कराया जाता है, इससे कुछ दोष नहीं रहता। इसप्रकार परमागम सर्व वस्तुका प्रकाशक होनेसे सर्वव्यापक कहलाता है और इसलिये वह शब्दब्रह्म है।

आत्माके अतिरिक्त भी प्रत्येक वस्तुमें अनन्त गुण हैं, अनन्त पर्याय हैं, एक आत्मामें पृथक्‌रूपसे अनन्त अनन्त आत्म गुण हैं, इसीलिये अनन्त स्वरूप आत्मा अनन्त देह संयोगमें आने पर भी आत्मा कभी पररूप नहीं हुआ, और कोई परमाणु बदलकर आत्मारूप नहीं होता; इस प्रकार अनन्तसे [illegible] स्वतन्त्र [illegible] प्रत्येक वस्तुमें है। उन सबको सर्वज्ञका ज्ञान जानता है। [illegible] जाननेवाला बतलाता है कि सर्वज्ञकी शब्दब्रह्मरूप वाणीमें [illegible] कोई भी बात बाकी नहीं है।

[illegible]

समझे, तो धन नहीं मिल सकता। इसीप्रकार सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रोंमें लिखे गये शब्दोंका सीधा अर्थ करने जाय और उसके गांभीर्य तथा भावको न समझे तो आत्मधनकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये उसका गम्भीर आशयरूप अर्थ अन्तरंगमें से निकालना चाहिये। 'सब आगम भेद सो उर वसे' इस प्रकार लोकोत्तर भण्डारकी महिमा होनी चाहिये। यदि महिमा योग्य दुनियामें कुछ है तो वह सर्वज्ञप्रणीत धर्म और धर्मात्मा ही हैं। वह धर्मात्मा कदाचित् वर्तमानमें निर्धन स्थितिमें हो, किन्तु अल्पकालमें ही वह जगत्वंद्य त्रिलोकीनाथ होनेवाला है। संसारमें जिनका पुण्य बड़ा है वे बड़े कहे जाते हैं, किन्तु धर्ममें यह देखा जाता है कि स्वतंत्र आत्मगुणकी समृद्धि कितनी है।

आचार्य कहते हैं कि परमागमकी उपासनासे मुझे अनुभव प्राप्त हुआ है, इसीप्रकार जो कोई सर्वज्ञ भगवानकी अनेकान्त वाणी-सत् शास्त्रोंको पढ़ता है और न्यायपुरस्सर भलीभांति श्रवण-मनन करता है उसे आत्मज्ञान हुए बिना नहीं रहता। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने साक्षात् तीर्थंकरके पाससे सुना है; और इस ॐकारमय वाणीको सूत्रमें इसप्रकार गुंफित किया है कि जिससे स्व-परका यथार्थ स्वरूप जाना जा सकता है, और उपादानकी सामर्थ्य इतनी है कि निमित्तरूप वाणीमें यथातथ्य कहा जायगा उसे तुम प्रमाण करना।

यहां तक स्वपक्षकी बात कही। अब अपने स्वभावका मण्डन और विभावरूप मिथ्यात्वका खण्डन कैसे किया है सो कहते हैं:—

समस्त विपरीत पक्षवादियों—सर्वथा एकांतपक्षवादियोंके विरोधी भावका निराकरण (खण्डनपूर्वक समाधान) करनेमें समर्थ जो अबाधित युक्त है उसके अवलम्बनसे 'जिन-वैभव' प्रगट किया है, अन्धश्रद्धासे नहीं। जगतमें धर्मके नाम पर बहुतसे अभिप्राय चल रहे हैं। कोई आत्माको कूटस्थ-नित्य कहता है कोई अनित्य ही कहता है अथवा कोई सर्वथा शुद्ध ही कहता है, अर्थात् संसार, बंधन तथा मोक्ष सर्वथा भी नहीं है, ऐसा कहते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति उससे भिन्न-

सत्की घोषणा है, सत्की घोषणामें वीतरागताकी घोषणा है। निर्दुष निर्बाध युक्तिके बलसे किसीकी व्यर्थ युक्ति न टिकने दूँगा। जो कुछ कहा जायगा, उस सबमें अन्धश्रद्धाके साथ स्वीकार करनेका निषेध किया है।

'सर्वज्ञके वचनोंके आशयका सेवन करके'–इसप्रकार पहले अस्ति पक्षसे कथन है, और परमें कर्तृत्व, परसे लाभ–हानि मानने वाले मिथ्यात्व वालोंके तथा एकांतवादियोंके कुतर्कका खण्डन निर्बाध युक्तिसे किया है, इसप्रकार नास्तिसे कथन है। ऐसे ज्ञानके द्वारा जो निज–वैभवका जन्म है उस सबसे आत्माका वर्णन करेंगे; इसप्रकार अपनी निर्मलतामें आगे बढ़नेके लिये निश्चय किया है और यह कहा है कि निमित्तमें जैसा कथन है वैसा ही होगा। दूसरेको पूरा न समझा सके ऐसा योग भी कदाचित् किसीके हो, किन्तु यहाँ तो जगत्के महान् पुण्यको लेकर और किसी शुभ योगके द्वारा आचार्यने अन्तरभावके अनुसार वाणीमें यथार्थ कथन किया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैंने अपना भाव अखण्डरूपसे लि कर रखा है। न्यायके बलसे और अनुभवसे मैंने जाना है, इसलि कहीं भी स्खलन नहीं होगा।

यदि कोई कुतर्कसे पुण्यके द्वारा धर्मको मनवाना चाहे तो ज्ञानी उसे सत्य नहीं मानते और कहते हैं कि विष खानेसे अमृतकी डकार कभी नहीं आती; उसीप्रकार जिस भावसे बन्ध होता है उस भावसे कभी मोक्ष तो क्या किन्तु मोक्षमार्गका प्रारम्भ भी नहीं हो सकता।

किसीने बहुत समय तक बाह्यधर्म किया हो और वह ऐसा कहे कि धर्म चाहे जितना किया हो, किन्तु मृत्युके समय किसी तीव्र असाताका उदय आये तो आत्माका अहित भी हो जाता है। धर्मके फलमें ऐसा होता है, यह जो मानता है उसे आत्माकी श्रद्धा ही नहीं है। जिसे स्वतंत्र आत्माकी पूर्णरूपसे श्रद्धा है उसका किसी कालमें और किसी संयोगमें भी अहित नहीं हो सकता; नित्य–अविनाशी आत्मामें जो जागृत है उसे तीन काल और तीन लोकमें भी विघ्न नहीं

न्याय इसको कैसे पकड़में आये, अपूर्व तत्त्वस्वभावकी प्राप्ति कैसे हो, उसकी अस्ति-नास्तिके द्वारा स्पष्टता करके आत्मनिरोगताका सीधा उपाय बताया है, ऐसी समझपूर्वक श्री कुन्दकुन्दाचार्य और श्री अमृतचन्द्राचार्यने गुरुका उपकार गाया है, यह उनकी कितनी विनय है। स्वयं समझते हुए भी श्रीगुरुकी कृपाकी महिमाको गाते हैं। वास्तवमें तो कोई किसी पर कृपा नहीं कर सकता, क्योंकि किसीका भाव दूसरेको लाभरूप नहीं है, फिर भी यह कथन व्यवहारसे किया है। बाहरसे गुरुकी महिमा गाई है, और अन्तरंगसे अपनेको रुचिकर गुणकी महिमा गाई है। यह अपनी श्रद्धाकी दृढ़ताके लिये है।

यहाँ आचार्यदेवने अन्तरंगभावको स्पष्ट व्यक्त किया है, जिससे आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमें वह सीधा उतर जाय। अर्थात् गहराईसे अनुभवमें आ जाय।

जिससे किसी पात्र जीवको साक्षात् सम्यग्दर्शन हो जाय—इस प्रकारका सीधा उपदेश गुरु दे रहे हों, वहाँ कोई बीचमें ही थोड़ा-बहुत असंबद्धरूपमें सुन ले;—इसप्रकार यों ही अथवा अविनयसे यह उपदेश ग्रहण नहीं किया है अर्थात् किसीके कानोंकान सुनी हुई बात नहीं है, किन्तु यह तो सीधा उपदेश ग्रहण किया है।

जिस जमीनमें क्षार हो उसमें अनाज बोया जाय तो उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उसके लिये उत्तम भूमि चाहिए, उसी प्रकार निर्मल तत्त्वका स्पष्ट उपदेश ग्रहण करनेके लिये उत्तम पात्रता चाहिए। ऐसी पात्रता देखकर मेरे गुरुने मुझे उपदेश दिया, उनके कहे हुए यथार्थ भावको श्रवण-मनन द्वारा धारण करनेसे, उनकी आज्ञाका पूर्ण विनयके द्वारा सेवन करनेसे, मुझमें शुद्ध, पवित्र आत्माका अपूर्व ज्ञान प्रगट हुआ है।

कैसा है वह निज वैभव? जो निरन्तर झरने वाला आस्वादमें आनेवाला, सुन्दर आनन्द—उसके संकल्प-विकल्पसे परे, अतीन्द्रिय आनन्द—उसकी छापसे युक्त जो प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन, उससे जिसका जन्म हुआ है। इसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपनी

होगा। यदि भव कम न हो तो मनुष्यभव प्राप्त करनेका फल क्या है?

जो लौकिक नीतिका पालन करता है उसका निषेध नहीं किया जाता, किन्तु ऐसी व्यवहार पात्रता बाह्य आचरणमें गिनी जाती है। अब अन्तर्मुख दृष्टि करके सत्समागमसे आत्माका अनुभव करने की आवश्यकता है, उसके बिना जीवने अनन्तकालमें अन्य सब कुछ किया है, किन्तु वे सब साधन बन्धरूप ही हुए।

यम नियम संयम आप कियो,
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुखमौन रह्यो,
दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो॥
मन पौन निरोध स्वबोध कियो,
हठ जोग प्रयोग सु तार भयो।
जप भेद जपे तप त्योंहि तपे,
उरसेंहि उदासि लही सबपै॥
सब शास्त्रनके नय धार हिये,
मतमंडन खंडन भेद लिये।
वह साधन बार अनन्त कियो,
तदपि कछु हाथ अभी न पर्‌यो॥ (श्रीमद् राजचंद्र)

पंचमहाव्रतका अनन्तवार पालन किया और आहारादिके समय कठिन अभिग्रह (नियम) भी ग्रहण किये। जैसे—मोती नामकी बाई हो, मोतीवाली छापकी साड़ी पहिने हो, और वह आहारको प्रार्थना करे तो ही आहार ग्रहण करूँ—ऐसा कठिन अभिग्रह (वृत्ति-परिसंख्यान तप) भी अनन्तवार किया, संयम पालन किया, इन्द्रिय-दमन किया, त्याग वैराग्य भी बहुत लिया, किन्तु अविकारी आत्माकी प्रतीति नहीं हुई। आत्माको भूलकर मौन रहा और छह मास तक

द्रव्य है। अखंड-ज्ञायक कहनेसे त्रिकाली एकरूप द्रव्यस्वभाव बताया है। समय समय रहकर त्रिकाल होता है, इसप्रकार त्रिकालसे ज्ञायक-को लक्षमें लेना हो सो बात नहीं है, किन्तु यह समझना चाहिये कि वर्तमानमें ही चैतन्य अनन्तशक्तिकी सामर्थ्यसे पूर्ण है। अर्थात् जो वर्तमानमें है, वही त्रिकाल है। वर्तमानमें मैं अखण्ड-पूर्ण हूँ ऐसी जो दृष्टि है सो द्रव्यदृष्टि है और वही सम्यग्दृष्टि है।

प्रत्येक वस्तु वर्तमानरूपसे वर्त रही है-रह रही है। उस प्रवर्तमान द्रव्यमें वर्तमानमें जो प्रगट अवस्था है सो पर्याय है और शेष अवस्थाएँ जो होनी हैं और जो हो गई हैं, उसकी वर्तमान शक्ति, समस्त गुण ध्रुव नित्य है। वर्तमान प्रगट अवस्थाके अतिरिक्त जो सामर्थ्य शक्ति है सो ध्रुव है। व्यय अभावरूप पर्याय है और उत्पाद सद्भावरूप पर्याय है। उस व्यय और उत्पादके भंगसे रहित वर्तमानमें समस्त सामर्थ्यशक्ति गुण और द्रव्य है। अवस्थाके अतिरिक्त जो त्रिकाल रहनेरूप सामान्य-भाव है, उसे यहाँ द्रव्य कहा है। वर्तमान विकारी अवस्थाको गौणकर जिस त्रिकाल सामान्य स्वभावरूप मैं हूँ सो ज्ञायकभाव है।

वर्तमानमें ही द्रव्यस्वभाव ध्रुवरूपसे अखण्ड-पूर्ण है, उसमें भूत और भविष्य पर्यायकी शक्ति विद्यमान है। वर्तमानमें जो प्रगट अवस्था है वह भंग और भेदरूप है, उस भंगरूप अवस्थाके अतिरिक्त जो हर समयमें वर्तनेवाली सामर्थ्य है वह गुणरूप है अथवा द्रव्यरूप है। अवस्थाको लक्षमें न लेकर मैं आत्मा पूर्ण, निर्मल, पवित्र वर्तमानमें ही हूं। इस दृष्टिके होने पर पर्याय भी निर्मल हो जाती है। इस दृष्टिके प्रगट होनेमें अनन्त पुरुषार्थ है और उसके होने पर दर्शन-मोह तथा अनन्तानुबन्धी कषायका अभाव होता है। सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेके बाद भी आगेकी पर्याय इस द्रव्यदृष्टिके बलसे ही प्रगट होती है। पूर्ण ज्ञायक, निरपेक्ष, स्वतंत्ररूपसे जो सदा एकरूप है उसे श्रद्धामें लेना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनकी अवस्था, इसीप्रकार संयमी-असंयमी, सवेदी-अवेदी, सकषायी-अकषायी, संयोगी-

प्रश्नः—ऐसी अखण्ड वस्तु ध्यानमें न आये तो क्या होता है?

उत्तरः—जैसे एक मनुष्य सौ वर्षका है उसे ५० वर्षका करें अथवा बीचके एक क्षणको निकाल दें तो अखण्डके दो टुकड़े हो जायेंगे और इसप्रकार मनुष्यका संपूर्ण स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकेगा। यदि उस मनुष्यका सारा स्वरूप जानना हो तो सौ के सौ वर्ष लक्ष्यमें लेना चाहिये, बीचमें कोई समयभेद नहीं लेना चाहिये।

जैसे एक पुरुष एक वर्ष धनिक अवस्थामें था, फिर दो वर्ष निर्धन अवस्थामें हो और फिर पीछे सधनदशाको प्राप्त होता है। इन सब अवस्थाओंमें रहनेवाले पुरुषको अखण्डरूपसे नहीं मानकर वर्तमान निर्धन दशा जितना ही माने तो कहना होगा कि उस पुरुषकी सच्ची पहिचान नहीं की। इसीप्रकार आत्मा त्रिकाली सर्व अवस्थाका पूर्ण पिंड होनेसे वर्तमान अवस्थामें भी त्रिकाली जितना ही पूर्ण है। 'है' इतना ही न मानकर वर्तमान अवस्था जितना ही माने तो कहना होगा कि उसने उसका सच्चा स्वरूप ही नहीं जाना।

जो अनादि-अनन्त आत्माको एकरूप, अखण्ड, अभेद, ज्ञाता रूपमें जानता है वही उसके वास्तविक स्वरूपका ज्ञाता कहलाता है। आत्माका अखण्ड स्वरूप जिसके ध्यानमें नहीं है उसे उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अनादि-अनन्त कहनेसे काल पर लक्ष न देकर अनंत गुणका अखण्ड पिण्डस्वरूपसे त्रिकाल रहनेवाला वर्तमानमें पूर्ण शक्तिरूप ध्रुव है, तीनों कालकी अनन्तशक्ति वर्तमानमें अभेदरूपमें भरी हुई है ऐसे अखण्ड द्रव्यस्वभावकी दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

एक समयमें एक वस्तुकी दो अवस्थायें नहीं होती। सोना जिस समय कुण्डल अवस्थामें होता है उस समय दूसरी अवस्था नहीं होती और जब कड़ेकी अवस्था होती है तब कुण्डलकी नहीं होती। इसीप्रकार आत्माके ज्ञानगुणमें एक समयमें एक अवस्था प्रगट होती है। छद्मस्थदशामें जब मति या श्रुतज्ञान होता है तब केवलज्ञान

वर्तमान विकारी अवस्था तथा अपूर्ण निर्मल पर्यायके क्षणिक भेदको गौण करके एक समयकी वर्तमान अवस्थाके अतिरिक्त वर्तमानमें विद्यमान प्रत्येक अवस्थाके साथ ही प्रतिसमयमें अनन्त चैतन्यशक्तिरूपसे जो समस्त सामान्य-ध्रुवस्वभाव है। उसे लक्षमें लेना द्रव्यदृष्टिका विषय है।

ज्ञानका उपयोग प्रत्येक समयमें होता है उसमें वर्तमान भवका ध्यान होता है। गत अनन्तभावोंमें भी उस समयके वर्तमान रहने वाले भावसे विचार करता था। इसप्रकार अनन्तभावमें स्वयं वस्तु, उसका क्षेत्र, उसका काल और उसके भावको ज्ञानसामर्थ्यसे ज्ञायक-रूपसे जानता था। अब इसके बाद जितने भव करेगा उनमें भी वर्त-मानमें रहनेवाला ज्ञान करेगा। ऐसी भारी शक्ति पहले प्रत्येक समयमें थी। जब जब जिस जिस भवमें रहा तब तब ज्ञानमें उसको उस उस भावसे जानता था तो भी उस भावके लिये-उस अवस्थाके लिये ही सामर्थ्य न था, किन्तु दूसरे अनन्त कालका ज्ञान करनेका अनन्त सामर्थ्य था। यह तो एक ज्ञानगुणकी बात कही। ऐसे ही एक साथ वस्तुरूपमें त्रिकाल रहनेवाले अनन्तगुण पूर्ण-अभेदरूपमें समझना चाहिये। वर्तमान पर्यायके भेदको न देखकर त्रैकालिक अखण्ड स्वरूप-को देखें तो आत्मा द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे शुद्ध ही है, उसमें पुण्य-पापरूप उपाधिका भेद नहीं है, मनके सम्बन्धका विकल्प भी नहीं है। मैं तीनोंकाल एकरूप रहने वाला, ज्ञायक-पूर्ण स्वभावकी शक्तिका पिण्ड हूँ, मात्र एक समयकी अवस्थाके लिये नहीं, किन्तु नित्य, निरालम्बी, निरपेक्ष, अनन्तगुणरूपसे रहनेवाला पूर्ण है, ऐसा निर्मलस्वभाव जबतक लक्षमें नहीं आता तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता, और सच्चा ज्ञान भी नहीं होता तथा अंतरंगमें ज्ञानकी स्थिरतारूप चारित्र नहीं होता। यहां निश्चयसे सम्यग्दर्शन नहीं होता वहां ज्ञान और चारित्र समीचीन नहीं होते, इसलिये सबसे पहले इसे समझना चाहिये। अभी तो मोक्षमार्गका प्रारम्भ होता है। आत्माकी पहिचान कैसे करना चाहिये उसका यहांसे प्रारम्भ होता है।

पुण्य-पाप-विकार आदिकी आवश्यकता नहीं है।

यह कभी विनाशको प्राप्त न होनेसे अनन्त है। 'अनन्त' अर्थात् क्षेत्रसे अनन्त नहीं किन्तु स्वयं पूर्ण अस्तिसे अनन्त है और अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावसे अखण्ड है।

यह नित्य एकरूप होनेसे क्षणिक नहीं है, किन्तु प्रत्येक क्षणमें चैतन्यमूर्ति, स्पष्ट प्रकाशमान ज्ञानज्योति है। ऐसा अखण्ड निर्मल स्वरूप समझे बिना जन्म-मरण दूर करनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जो नित्य अविकारी, ध्रुवस्वभावको लक्षमें न ले उस जीवके धर्म नहीं होता, भव नहीं घटता; यह जीव मन, वाणी, देहकी प्रवृत्तिमें अथवा पुण्यमें धर्म मानकर अटक जाता है; जिसका फल बंधनरूप संसार है। इस बातका जिसे ध्यान नहीं है, उसने बाह्य प्रवृत्तिमें ही कृत-कृत्यता मान रखी है; इसलिये जब वह अपनी मान्यतासे विरुद्ध बात सुनता है तब वह सत्य तत्त्वका विरोध करता है। बालकको पेड़ा देनेके लिये जब उसकी लकड़ीकी चूसनी छीनी जाती है तब वह रोने-चिल्लाने लगता है, इसीप्रकार मुक्तिरूपी पेड़ेका स्वाद चखानेके लिये बाल-अज्ञानी जीवोंके पाससे उनकी विपरीत मान्यतारूपी पकड़ (चूसनी) छुड़ाई जाती है तब वे चिल्लाने लगते हैं!

अहो! परम सत्यकी बात कानमें पड़ना भी बड़ी दुर्लभ है। अनन्तकालमें यह अमूल्य अवसर मिला है तब भी अपूर्व सत्य नहीं समझे, स्वतंत्र वस्तुस्वभावके सामर्थ्यको न समझे तो चौरासीका परिभ्रमण नहीं मिट सकेगा।

मैं परसे भिन्न, साक्षात् चैतन्यज्योति, अनंत आनन्दकी मूर्ति हूँ; यह समझे बिना जितने शुभभाव करता है वे मुक्तिके लिये व्यर्थ हैं। यह सुनकर कोई विरोध करता है कि अरे रे! मेरा तो सर्वस्व ही उड़ जाता है। किन्तु प्रभु! तेरी प्रभुता तुझे समझाई जा रही है, तेरा अनन्त महिमामय स्वभाव तुझे समझा रहे हैं, तब तू

जिसे आत्माके परम आनन्दरूपका माहात्म्य ज्ञात नहीं है वही विकारी पुण्य–पापरूप भावको अपना मानकर ग्रहण करता है। आत्मामें परम-सुख भरा है, यदि उसकी महिमा ज्ञात हो जाय तो फिर विकारी भावको छोड़ देता है।

अज्ञानीके शुभाशुभभावका स्वामित्व है, अर्थात् उसके अभिप्रायमें राग–द्वेष करनेका भाव विद्यमान रहता है, और ज्ञानीके जब तक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तब तक पुरुषार्थकी निर्बलतासे वर्तमान क्षणिक पुण्य–पाप हो जाता है, किन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता, कर्ता नहीं होता; उसके अन्तरंगसे आत्मस्वरूपकी रुचि होनेसे संसारका माहात्म्य नहीं होता।

जैसे कोई धनको प्राप्त करनेका महालोभी है, उसके पाससे यदि कोई कुटुम्बीजन कोई वस्तु ले तो लोभके वश होकर वह उसे भी धोखा देता है, क्योंकि उसकी दृष्टि यह है कि पैसा किसी प्रकारसे भी एकत्रित किया जाय; इसीप्रकार जिसको विकार रहित केवल शुद्ध स्वभावका ही प्रेम है, उसे अपनी निर्मलता कैसे बढ़े इसीपर दृष्टि होती है।

आत्माके धर्मका अर्थ है स्वतंत्रस्वभाव; वह धर्म आत्मासे पृथक् नहीं हो सकता। आत्माकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है, और जो सच्चा विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है, तथा पुण्य–पापके भावसे रहित अंतरंगमें स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। बाह्य क्रिया आत्माका चारित्र नहीं है। मन, वाणी, देह, पुण्य–पापादि आत्माका स्वरूप नहीं है, जब तक जीव यह नहीं जानता तब तक स्वाधीन, सुखरूप शुद्ध आत्माका धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये प्रथम ही वह स्वयं जिसरूपमें है उसे वैसा जानना–मानना आवश्यक है।

यदि पानीको वर्तमान अवस्थामें अग्निके संयोगाधीन दृष्टिसे देखे तो वह उष्ण दिखाई देता है, फिर भी इस अवस्थाके समय पानीमें शीतलस्वभाव भरा है, यदि ऐसा विश्वास करे तो फिर पानीको

केवलज्ञानमें भूत-भविष्यकी अनन्त पर्यायें प्रत्यक्ष जानी जाती हैं, तब सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञानमें वह भूत-भविष्यकी पर्यायें परोक्षरूपसे जानी जाती हैं, किन्तु केवलज्ञानी जैसा जानता है वैसा ही वह जानता है, मात्र प्रत्यक्ष-परोक्षका भेद है। जैसे केवलज्ञानी स्व-परकी पर्यायको प्रत्यक्ष जानता है, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानमें भी स्व-परकी पर्याय परोक्षरूपसे जानी जाती है।

ज्ञानका ऐसा स्वभाव है कि ज्ञान स्वको जानता है और जो राग-द्वेष, पुण्य-पापकी वृत्ति होती है उसे भी जानता है। इस प्रकार स्वको और परको जाननेका ज्ञानका दुगुना सामर्थ्य है। ज्ञानगुण स्व-परको जानने वाला है, किसीमें अच्छा-बुरा मानकर अटकने-वाला नहीं है। जो यह जानता है कि मैं रागी हूँ, मैं देहादि परका काम करनेवाला हूँ, पर मुझे सहायता पहुँचाता है, उसने अपनेको परके साथ एकमेक माना है, अर्थात् वह यह नहीं मानता कि उसमें परसे भिन्न धर्मकी शक्ति है। जो परसे पृथकत्व है सो स्वमें एकत्व है। परसे पृथक्त्वकी श्रद्धामें परसे पृथक् करनेकी पूर्ण शक्ति है। ऐसा अनन्तकालसे नहीं समझा, इसलिये भवभ्रमण कर रहा है। वस्तुकी महात्म्यता बतलाकर स्वभावकी महिमा दरशायी है। आत्माका परसे भिन्न स्वतंत्ररूप जैसा है वैसा ही यहाँ कहा जाता है। यह धर्मके प्रारंभकी सबसे पहली बात है, ऊँचे तेरहवें गुणस्थानकी बात नहीं है। जिसने शुद्ध ज्ञायकभावको लक्षमें लिया उसके मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा जो नहीं समझता उसका भवभ्रमण दूर नहीं होता, इसलिये प्रथम सत्समागमसे यथार्थ समझकर एकबार सत्यको स्वीकार करे कि मैं विकार रहित, निर्मल हूँ तो उसे तो पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावकी निर्मलता प्रगट होती है।

सूक्ष्म और यथार्थ विषयको समझनेके लिये अनन्त धैर्य और सत्पुरुषार्थ चाहिये।

यदि निश्चयनयसे स्वको लक्षमें ले तो शान्ति अवश्य प्राप्त होती है। यदि परवस्तुमें राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करे तो अशान्ति होती है। जो यह मानता है कि परमें सुख है, वह परको और स्वको [illegible]

लोगोंको स्वरूपकी रुचि नहीं, किन्तु पुण्य-पाप विकार, बन्ध-परकी रुचि है। धर्मके नाम जैसा अनन्तबार माना है यहाँ उससे भिन्न कहा जाता है। आत्मा देहादिसे पर है; मन, वाणी, देहादि परवस्तुकी क्रिया वह नहीं कर सकता। विकारको अपना मानता है किन्तु वह उसरूप नहीं हो जाता। परसे लाभ-हानि होती है—ऐसी विपरीत मान्यता बना रखी है उसे सम्यक्-मान्यताके द्वारा नष्ट करना पड़ेगा।

अब आत्माके एकत्वस्वभावका वर्णन करते हैं। आत्मा ज्ञायक है, स्वपरप्रकाशक है, फिर भी उसका ज्ञान परके अवलम्बनसे रहित है। आत्माके सहज स्वभावको समझे बिना जीव नववें ग्रैवेयकमें अनन्तबार हो आया, शुभभावके द्वारा जो व्रतादि पुण्य क्रिया हुई उसमें अटक गया, मात्र बाह्य क्रियाके ऊपर लक्ष रखा, बहुत ऊँचा पुण्य बांधकर अनन्तबार देव हुआ, किन्तु मैं निरालंबी, ज्ञायकमात्र हूँ, परका कर्ता-भोक्ता नहीं, अखण्ड स्वतंत्र ध्रुवस्वभावी हूँ, इसप्रकार नहीं माना। वर्तमानमें भी शक्तिरूपसे पूर्ण हूँ, निरपेक्ष हूँ, कृतकृत्य हूँ, ऐसा नहीं माना। बाह्य शुभ प्रवृत्तिके ऊपर लक्ष रहा, परलक्षसे कषाय मंद की, पुण्य बांधकर देवलोकमें गया, किन्तु भव कम नहीं हुए। मैं विकारी-अवस्थामात्र नहीं हूँ, मैं तो अनन्त ज्ञानानन्दकी मूर्ति हूँ, ऐसा विश्वास नहीं हुआ, स्वलक्षको भूलकर मात्र शुभभाव किया, उसके फलस्वरूप नाशवान संयोगोंकी प्राप्ति हुई, वह अल्पकालमें छूट जाती है। परसे भिन्न आत्मस्वभावको अन्तरंगसे न तो विचारा है और गुरुज्ञान-से समझा है। परका थोड़ा सा आश्रय चाहिये, जिसने ऐसा माना उसने आत्मामें स्वतंत्र गुण नहीं है ऐसा माना है। किन्तु यदि आत्मामें गुण न हो तो आयगा कहाँसे? प्रत्येक जीवमें ज्ञान-आनन्द स्वभावसे विद्यमान है, उस पर लोग लक्ष नहीं देते, मात्र शुभाशुभ प्रवृत्तिको ही देखते हैं। द्रव्यस्वभाव पूर्ण है, परमें सर्वथा अक्रिय है, उसकी महिमा-को नहीं जानते। जीव खूँटेसे बँधी हुई भैंसको जो खूँटेके इधर-उधर घूमा करती है, उसकी क्रियाकी शक्तिको देखते हैं, किन्तु दृढ़तापूर्वक

करेगा, ऐसी प्रतीति धर्मात्माके पहलेसे ही होती है। गुण आत्मामें हैं, ऐसा न मानकर परकी सहायताके द्वारा गुण प्रगट होते हैं, ऐसा जो मानता है वह निमित्ताधीन दृष्टिवाला है और वही अनादिकी स्व-हिंसा है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आत्माका शुद्ध स्वरूप कैसा है? क्या उसे जानना ही चाहिये? क्या उसे जाने बिना मुक्ति नहीं होती?

आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि हे भाई! सुनो, तुम प्रभु हो, सिद्ध परमात्माके समान हो, शक्तिसे मुझमें और तुममें सिद्धत्व स्थापित करता हूँ। किन्तु जिसके अभिप्रायमें यह बात है कि मैं रंक हूँ, कोई मेरी सहायता करे तो उसके अन्तरंगमें यह महिमा कहाँसे आ सकती है कि परमात्मत्व मुझमें विद्यमान है? तू वर्तमानमें भी परिपूर्ण है, विकारका नाशक है, ऐसी प्रतीति तो कर। उसके बाद यदि परके ऊपर लक्ष जानेसे अल्पराग हो जाय और यदि उस समय देव, शास्त्र, गुरुकी उपस्थिति हो तो उस पर शुभभावका निमित्तारोपण किया जाता है। अपने भावके अनुसार संयोगमें निमित्तका आरोप होता है। स्वयं पापभाव करे स्त्री, धन, देहादि पर राग रखे तब उन वस्तुओंको अशुभभावका निमित्त कहा जाता है, किन्तु निमित्त परका कुछ करता-कराता नहीं है। धर्मात्माकी दृष्टि शुभभाव पर नहीं है, फिर वह शुभभाव चाहे देव, गुरु, शास्त्रकी भक्तिका हो या व्रतादिका हो, किन्तु वह उसे परमार्थसे तो हेय ही मानता है। शुभभावका निमित्त आत्मस्वभावमें सहायक नहीं हैं, अपना निर्मल स्वभाव ही सहायक है, इस प्रकारकी मान्यताका बल मोक्षका मूल है। निर्मल स्वभावकी प्रथम अन्तरंग रुचिसे हाँ कह; फिर विशेष दृढ़ताके लिये बारंबार उसका ही श्रवण-मनन और मनन-मन्थनसे उसीकी रटन होनी चाहिये।

संसारमें भी जब पहले बालक स्कूलमें पढ़नेके लिये बैठता है तब अध्यापक पर ही विश्वास किया जाता है। पहले शब्दोंको अनेक बार लिखने पर बहुत परिश्रमके बाद उसीको ठीक बनावट आ पाती है किन्तु हाथ जम जानेके बाद फिर दूसरे अक्षरोंके सीखनेमें बहुत

सेठजी (उसके मालिक) उसकी शोभा देखकर प्रसन्न हो रहे हों, इतनेमें अचानक झूमर टूटकर नीचे गिर पड़े और उसके टुकड़े होजायें तथा उस समय घरमें कोई दूसरा व्यक्ति उपस्थित न हो, तब सेठजी विचार करते हैं कि इन टुकड़ोंको जल्दी बाहर फेंक देना चाहिये, नहीं तो बच्चोंको लग जांयगे। ऐसा विचार कर स्वयं कांचके टुकड़े हाथमें लेते हैं और उन्हें बाहर फेंकने जाते हैं, किन्तु सेठजीका मकान बहुत बड़ा है, इसलिये बाहर तक पहुंचमें काफी समय लग जाता है; उतने समयके लिये वह उन कांचके टुकड़ोंको अपने हाथमें लिये रहते हैं, फिर भी उन्हें अपने पास रखनेका भाव नहीं है, अर्थात् उन्हें पकड़े रखनेमें उत्साह या चाह नहीं है; जिस झूमरकी शोभाको देखकर वह स्वयं प्रसन्न होते थे उसके प्रत्येक टुकड़ेको अब बाहर फेंक देना चाहते हैं। यह तो मात्र दृष्टांत है; इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि अज्ञानदशामें जीव विकारको-पुण्यके संयोगको अपना मानकर उसमें फूलाफूला फिरता था-आनन्द मानता था, किन्तु जब उसे भान हुआ कि 'विकार मेरा स्वरूप नहीं है, पुण्यके संयोगमें मेरी आत्मशोभा नहीं है, मैं तो अनन्त आनंदका रसकन्द हूं' तब उसे शुभभावका-पुण्यका भाव नहीं होता। पुरुषार्थकी हीनतासे राग-द्वेष; पुण्य-पापके निकालनेमें समय लगता है, तथापि वह अल्प रागादिमें लगा हुआ दिखाई देने पर भी उनमें उसका स्वामित्व नहीं होता। उसकी तुच्छता उसे मालूम होती है, इसलिये वह उसे रखनेकी इच्छा नहीं करता। तीन काल और तीन लोकके समस्त पदार्थोंको जाननेका मेरा स्वभाव है; इसप्रकार स्वभावकी महत्ता प्रतीत होने पर परका कर्तृत्व और स्वामित्व दूर हो जाता है। स्वभावका बल आनेके बाद रागका भाव अल्पकाल रहता है, किन्तु वह रखनेके लिये नहीं, निकालने-दूर करनेके लिये ही है। यद्यपि राग दूर करनेमें विलम्ब होता है, फिर भी एक-दो भवमें तीव्र पुरुषार्थ उत्पन्न करके पूर्ण मोक्षदशा प्रगट कर ही लेगा। वस्तुका निर्मलस्वभाव जाना कि

तत्काल ही त्यागी हो जाय, ऐसा सभीसे नहीं बनता; किन्तु दृष्टि अखंड शुद्ध स्वभाव पर गई है, उस दृष्टिके बलसे तीव्र स्थिरता करके, अल्पकालमें समस्त विकार दूर करके पूर्ण शुद्ध हो जायगा।

अज्ञानी बाह्य संयोगसे, पुण्यादिसे अपनी शोभा मानता है और विकारको अपना करना चाहता है, किन्तु विकारके शोथसे कुछ मोटा दिखाई देता हो तो वह वास्तवमें निरोगतासे पुष्ट हुआ नहीं माना जाता, इसीप्रकार पुण्यबन्ध और विकारके शोथसे आत्मपुष्टि नहीं होती, पुण्यबंध और विकारके शोथसे रहित आत्माकी निरोगता ही सच्ची निरोगता है।

इस गाथामें आत्माको शुद्ध, ज्ञायक कहकर मोक्षका माणिकस्थम्भ स्थापित किया है। जैसे विवाहसे पूर्व माणिक-स्तंभ रोपा जाता है, उसीप्रकार जिसे मोक्षकी लगन लगी है उसे इस गाथामें आत्माका जैसा यथार्थ स्वरूप बताया है वैसा ही प्रारम्भमें जानना चाहिये।

समयसारमें कहा है कि आत्माकी महत्ता ज्ञात होनेसे परकी महत्ता चली जाती है।

आत्माकी जो स्वतंत्र, शुद्ध, पूर्ण दशा प्रगट होती है, वही मोक्ष है। वह मोक्ष बाहरसे नहीं आता. किन्तु स्वभावमें ही वह पूर्ण, निर्मलदशा शक्तिरूपसे विद्यमान है। उसका मूल एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है। उसके बिना जीव धर्मके नाम पर व्रत, क्रिया, तपश्चर्या इत्यादि सभी कुछ अनन्तबार कर चुका है। बाह्य प्रवृत्तिके द्वारा आत्मामें गुण प्रगट होगा, शुभ विकल्पकी सहायतासे गुण होगा, ऐसा मानकर इस जीवने अनन्तकालमें जितना जो कुछ किया है उसका फल संसारभ्रमण ही हुआ है।

कोई अज्ञानी प्रश्न करता है कि—"क्या हमारे व्रत-तपादिकका कुछ भी फल नहीं है?" उसका उत्तर यह है कि—व्रत-तपादिमें यदि कषाय मन्द हो, दया, दान, भक्तिमें राग-तृष्णा घटाये तो पुण्य बँधता है, किन्तु वह विकार है, इसलिये अविकारी आत्माका धर्म नहीं है, और इसीलिये उससे मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता।

प्रश्नः—प्रभो ! उस शुद्धात्माका स्वरूप समझाइये कि जिसकी रुचि होनेसे पुण्य-पाप बन्धकी सहजरूप तुच्छता ज्ञात हो ?

उत्तरः—खीरका स्वाद चखनेके बाद बासी खिचड़ीका स्वाद लेनेकी वृत्ति छूट जाती है; उसकी तुच्छता मालूम होने पर उसमें रस नहीं रहता। इसीप्रकार आत्माके शुद्ध स्वभावका अनुभव होने पर आत्मिक सुखका संवेदन होकर सांसारिक विषय-सुखोंकी तथा पुण्य-पापकी तुच्छता प्रतिभासित होने लगती है, इसलिये उसमें रस नहीं पड़ता।

अशुभको छोड़कर शुभभाव करनेका निषेध नहीं है, किन्तु उस शुभभावको भी अभिप्रायमें आदरणीय न माने तो वह सहज ही तुच्छ भासित हो, और उसकी महिमा अन्तरंगसे छूट जाय। वह हठसे नहीं छूटती।

प्रश्नः—आत्माको ज्ञायक कहनेमें जैसे ज्ञातृत्व आता है, उसमें परवस्तुके जाननेका स्वभाव है, तब क्या परके अवलम्बनसे उसका ज्ञान होता है ?

उत्तरः—जैसे दाह्य जो सोना है, तदाकार होनेसे अग्निको दाहक कहा जाता है, किन्तु अग्नि सोनेके रूपमें (सोनेके आकारमें) परिणत नहीं हो जाती,—सोना अलग पड़ा रहता है और अग्नि निकल जाती है, इसीप्रकार ज्ञायक आत्मामें परवस्तुका आकार ज्ञात होता है, सो वह तो अपनी ज्ञानकी ही निर्मलता दिखाई देती है। जैसे दर्पणकी स्वच्छतामें परवस्तुकी उपस्थिति जैसी है वैसी स्वच्छ झलकती तो है किन्तु उसमें परवस्तुका आश्रय नहीं है। इसीप्रकार ज्ञानमें शब्द, रस, रूप, गन्ध, स्पर्श इत्यादि मालूम होते हैं, उन्हें जानते समय भी ज्ञान ज्ञानको ही जानता है परको नहीं जानता; क्योंकि ज्ञान ज्ञेयोंमें नहीं जाता, किन्तु वह सतत ज्ञायकरूपमें रहता है। पर (ज्ञेय) सहज जाना जाता है, ज्ञानका ऐसा स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। ज्ञान ज्ञानमें रहकर अनेक ज्ञेयोंका ज्ञान करता है। यह ज्ञानकी स्वच्छताका वैभव है।

ऊपरके दृष्टांतमें अग्निके साथ लकड़ीको न लेकर सोना लेनेका कारण यह है कि सोना अग्निसे नाशको प्राप्त नहीं होता लकड़ी नाशको प्राप्त हो जाती है। ज्ञानमें ज्ञात होनेसे ज्ञेय पदार्थ कहीं नाशको प्राप्त नहीं होते, किन्तु वे ज्योंके त्यों बने रहते हैं। इसीप्रकार सोना भी ज्योंका त्यों बना रहता है, इसलिये उसे दृष्टांतमें लिया है।

जैसे सोनेकी अशुद्धता अग्निमें नहीं आती, इसीप्रकार परज्ञेयोंको जाननेसे वे परज्ञेय स्वभावमें नहीं आते। जैसा निमित्त उपस्थित होता है वैसा ही ज्ञान होता है, इसलिये परके अवलम्बनसे ज्ञान हुआ मालूम होता है, परन्तु उस समय भी ज्ञान तो ज्ञानसे ही हुआ है। निमित्तसे ज्ञान होता हो तो सबको एक सा ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये ज्ञान परावलम्बी नहीं है। ज्ञानमें जब ज्ञेय जाना जाता है तब ज्ञान अखण्ड–भिन्न ही रहता है और प्रस्तुत ज्ञेय-पदार्थ भी उसके अपने भिन्नस्वरूपसे अखंड रहता है। यथा—

(१) ज्ञेय पदार्थ खट्टा हो तो ज्ञान उसे खट्टा जानता है, किन्तु इससे ज्ञान खट्टा नहीं हो जाता।

(२) पच्चीस हाथका वृक्ष ज्ञानमें आनेसे ज्ञान उतना लम्बा नहीं हो जाता।

(३) ज्ञान पुण्य–पाप और रागको जानता तो है, किन्तु वह उस-रूप नहीं हो जाता।

ऊपर मात्र थोड़े दृष्टांत दिये हैं, इसीप्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

यद्यपि ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ कहलाता है, तथापि उसके ज्ञेयकृत-अशुद्धता नहीं है। ज्ञान ज्ञेयके आकाररूप होता है—ऐसा अर्थ ज्ञेयाकार-का नहीं है; किंतु जैसा ज्ञेय हो, ज्ञान उसे वैसा ही जानता है, इस-लिये उसे ज्ञेयाकार कहा है। ज्ञान सदा ज्ञानगुणसे ही होता है और वह ज्ञातास्वरूपसे ही प्रवृत्ति करता है।

अज्ञानीकी मान्यता परके ऊपर है, इसलिये वह मानता है

यदि मैं परके ऊपर लक्ष्य होनेसे कुछ करूँ तो गुण प्रगट हो; वह ऐसा मानता है इसलिये ऐसी महत्ता उसे प्रगट नहीं होती कि 'मैं पूर्ण प्रभु हूँ', और ऐसा नहीं माननेसे परमें महत्ता मानकर उसमें ही भटकता रहता है। मैं शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, अकेला हूँ—ऐसी श्रद्धा स्वतंत्रताका उपाय है।

यह वस्तु अचिंत्य है। तीर्थंकर भगवानने जगत्‌के समक्ष अपूर्व वस्तु स्पष्टरूपमें रखी है, उसे कुन्दकुन्दाचार्यने अमृतके पात्रमें भरकर समयसारमें प्रवाहित किया है। यदि वस्तुतत्त्व जल्दी समझमें न आये तो उसका पुनः पुनः परिचय करना चाहिये। समझनेवाला अपनेको बराबर समझ सकता है। मन–इन्द्रियोंसे परे अरूपी ज्ञाता होनेसे आत्मा सूक्ष्म है, वह वाणीसे नहीं पकड़ा जाता—अरूपी ज्ञानके द्वारा ही पकड़ा जाता है। जिसका स्वभाव अरूपी है, जिसके गुण-पर्याय अरूपी हैं जिसका सर्वस्व अरूपी है, उसे रूपीके द्वारा जानना चाहे तो सत्य स्वरूप नहीं जाना जा सकता। मन, वाणी, देहादिक रूपीकी प्रवृत्तिमें अरूपी ज्ञानमय आत्मा नहीं जाना जा सकता।

रागादि पर विकारको जाननेसे आत्मा रागरूप, पररूप, परके गुणरूप, परकी किसी अवस्थारूप नहीं हो जाता। परवस्तुकी उपस्थिति ज्ञानमें ज्ञेयरूपसे ज्ञात हुई कि अज्ञानी यह मानता है कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं देह–इन्द्रिय–जड़की क्रिया करनेवाला हूँ, पर मेरे आधारसे है, मैं परके आधारसे हूँ, किन्तु परमार्थसे उसरूप कभी भी नहीं होता। जैसे दीपक घट–पट इत्यादि परको प्रकाशित करते समय भी प्रकाशसे अभिन्न और घट–पटादिसे भिन्न, दीपक ही रहता है। उसी प्रकार आत्मा परको जानते समय भी ज्ञानसे अभिन्न और परसे भिन्न ज्ञायक ही रहता है दीपकको ज्ञान नहीं है, जब कि आत्माको ज्ञान है। अज्ञानी आत्मा अपनेको भूलकर यह मानता है कि अपना ज्ञान परसे आता है, किन्तु दीपककी तरह ज्ञायकका कर्ता–कर्म ज्ञायकसे अभिन्न होनेसे और परभावोंसे भिन्न होनेके कारण शरीर, मन, वाणी तथा राग–द्वेषकी जितनी अवस्था होती है

उसके ज्ञायकरूपमें आत्मा सदा उससे भिन्न ही रहता है।

जो स्वतंत्ररूपसे रटकर करे सो कर्ता है। ज्ञायकस्वभावसे शरीरादिक भिन्न हैं, जहाँ ऐसा जाना कि जाननेवाला स्वयं कर्ता है और ज्ञायकरूपमें अपनेको जाना इसलिये स्वयं ही कर्म है तथा कर्ताको ज्ञायकभावकी परिणति ज्ञाताकी क्रिया है। वे तीनों (कर्ता–कर्म–क्रिया) ज्ञायकरूपसे अभिन्न हैं।

सम्यग्दृष्टि जाननेकी क्रिया निजमें करता है। अज्ञानी मानता है कि मैं परसे जानता हूँ, किन्तु मात्र ज्ञानमें ही कर्ताका कार्य है, परमें नहीं, तथा परके आधारसे भी नहीं है। परवस्तुके कार्य आत्माके आधीन नहीं हैं। परका बहुत ध्यान रखूँ तो ऐसा हो, इस प्रकार अज्ञानी मानता है, किन्तु उसकी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। यदि पुण्यके संयोगसे कभी अपना इच्छित होता हुआ देखता है तो उसका वह अभिमान करने लगता है।

आत्माका कर्ता–कर्मपना दीपकके प्रकाशकी भाँति अनन्य है। जैसे दीपक घट–पट आदि परवस्तुको प्रकाशित करनेकी अवस्थामें भी दीपक ही है, और अपनेको–अपनी ज्योतिरूप शिखाको प्रकाशित करनेकी अवस्थामें भी दीपक ही है, इसीप्रकार ज्ञायकके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये।

ये तो सूत्र हैं, इनमें गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। जैसे खुले हुये पत्रमें दो पंक्तियोंमें लिखा हो कि वैशाख सुदी द्वितीयाके वायदेकी ४५०) से ४५५) तकमें एक लाख गाँठ रुईकी लेना है। यद्यपि यह बहुत संक्षेपमें लिखा है तथापि उसमें खरीद देने वाले और उसकी प्रतीति रखनेवाले आढ़तियाकी हिम्मत, विश्वास, रकम और प्रतिष्ठा कैसी और कितनी है यह सब उसका जाननेवाला समझ लेता है। शब्दोंमें यह सब नहीं लिखा है, किन्तु जाननेवाला दोनों व्यापारीका भाव, वैभव और उनकी प्रतिष्ठा इत्यादिको जान लेता है, इसीप्रकार आत्माके पूर्ण केवलज्ञान स्वभावसे कहे गए शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य डेढ़ पंक्तिमें सूत्ररूपमें लिखा हो तथापि उसे जाननेवाला सम्यग्ज्ञानी उतनेमेंसे

सब भाव समाप्त होता है। इस प्रकार इसकी गाथामें अर्थकी बहुत गम्भीरता भरी हुई है।

परनिमित्तसे रहित ज्ञानकी आराधनामें होनेवाला जो है सो कर्ता, और ज्ञायकरूपमें जो अवस्था निजमें हुई सो कर्म है। इसीप्रकार स्वसे एकत्व और परसे भिन्न ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसा अन्तरंगमें निश्चय करना सो सम्यग्दर्शन है। इसीप्रकार निजको निजमें ही देखना सो धर्मका अंश है।

भावार्थः—जैसे अकेले स्वर्णमें अशुद्धता नहीं कही जा सकती, किंतु किसी दूसरी धातुका संयोग हो तो उसके आरोपसे अशुद्धता कही जाती है, उसीप्रकार जीवमें जो अशुद्धता अर्थात् विकार होता है, वह परद्रव्यके संयोगसे होता है। जैसे तांबेके संयोगमें रहने पर भी सोना सोनेरूपसे बदलकर तांबेके रूपमें नहीं हो जाता, उसीप्रकार वर्तमान अवस्थामें परके संयोगसे विकारी होने पर भी आत्मा सम्पूर्ण विकाररूप नहीं हो जाता। मूल ज्ञायकस्वभावसे निरपेक्ष, अविकारी, शुद्ध ही रहता है।

जैसे यदि सुवर्णको परके संयोगके समय सर्वथा अशुद्ध ही माने तो वह शुद्ध नहीं हो सकेगा। वर्तमानमें भी मूल स्वरूप तो सौटंची शुद्ध ही है, ऐसे लक्षसे सोना शुद्ध हो सकता है; इसीप्रकार चैतन्य-भगवान आत्मामें वर्तमानमें कर्माधीनतासे होनेवाली मलिनता दिखाई देती है तथापि वर्तमान अवस्थामें भी मूलस्वभाव अखण्ड ज्ञायकरूपसे शुद्ध ही है। इसप्रकार वर्तमानमें पूर्ण वस्तुस्वभावरूपसे देखनेसे और उसमें एकाग्रता करनेसे चैतन्यभगवान आत्माकी पूर्ण निर्मलता प्रगट होती है।

प्रश्नः—भगवान आत्माका लक्ष करनेके लिये किससे कहा जाता है।

उत्तरः—जो भगवान हो गये हैं उन्हें तो कुछ करना शेष है नहीं, इसलिये उनके लिए यह कथन नहीं है; किन्तु जो भगवान होना चाहते हैं, वैसे साधकोंके लिए यह कथन है। पूर्ण दशा होनेसे पूर्व

र्ण शुद्धको पहचान करना आवश्यक है। जिसे स्वाधीन होना है उसे र्ण स्वाधीनताके उपायको शुद्धदृष्टि बताई जाती है, और यही सर्व थम धर्मका उपाय है।

जैसे सफेद वस्त्र मलिन अवस्था वाला दिखाई देता है, उस समय ालक भी जानता है कि जो मैलका भाग है सो वह वस्त्रका नहीं, केन्तु परका संयोग है। वस्त्रका मूल स्वरूप वर्तमानमें भी सफेद है, ऐसी दृष्टि पहलेसे रखकर मैल दूर करनेका उपाय करता है, इसीप्रकार आत्मामें वर्तमानमें जो मलिनता मालूम होती है वह क्षणिक और नैमित्ताधीन है, स्वभावसे तो वह निर्मल ही है। इस प्रकार नित्य-अविकारीके लक्षसे क्षणिक विकार दूर किया जा सकता है, इसलिये भेदज्ञान वाली शुद्ध ज्ञानदृष्टि सर्वप्रथम प्रगट करना चाहिए।

भेदज्ञान साबू भयो, समरस निर्मल नीर।
धोबी अन्तर आतमा, धोवे निजगुण चीर॥

(बनारसी कृत समयसार नाटक)

मैं राग अथवा विकाररूप नहीं हूँ, ऐसी निर्मलताकी दृष्टिके द्वारा ध्रुवस्वभावके ऊपर अभेद लक्ष करने पर स्थिरता प्रगट होती है। भगवान आत्मा ऐसा निर्मल-आनन्दघन है।

आत्मामें होनेवाली वर्तमान क्षणिक अवस्थाको गौण करके आत्माका जैसा शुद्धस्वभाव है वैसा अखण्डरूपसे लक्षमें लेना सो सम्यग्दर्शन है।

जो निर्मल, एकरूप-ज्ञायकरूपमें रहे वही मेरा स्वभाव है, क्षणिक मलिनता मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार मानना ही प्रारंभिक धर्म है।

पुण्य-पाप विकारसे भिन्न, अनन्त ज्ञानानन्दमूर्ति प्रत्येक क्षणमें पवित्र है, ऐसे भगवान आत्माको सतसमागमके द्वारा अन्तरंगमें समझे बिना धर्मका प्रारम्भ भी नहीं होता और आत्माकी शुद्ध प्रतीतिके बिना

अमूल्य अवसर छोड़कर वह अनन्तानन्त काल तक एकेन्द्रिय, निगोदमें जानेकी तैयारी कर रहा है। फिर अनन्तकालमें भी वह मनुष्य तो क्या लट (दो इन्द्रिय जीव) इत्यादि त्रस पर्यायको भी प्राप्त नहीं कर सकेगा।

आत्माका स्वभाव ज्ञायकमात्र है और उसकी अवस्था पुद्गलकर्मके निमित्तसे रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्यायकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह मलिन ही दिखाई देता है और यदि द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञायकतत्त्व ही है, वह कहीं जड़रूप नहीं हो गया है। यहाँ द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतासे कथन है। त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव आत्मा परसे भिन्न ही है, ऐसी निर्मल गुणदृष्टिमें वर्तमान क्षणिक अवस्था मुख्य नहीं गिनी गई है, इसलिये जो प्रमत्त-अप्रमत्तका भेद है वह तो परद्रव्यके संयोगजनित पर्यायरूपसे है। वह क्षणिक अशुद्धता द्रव्यदृष्टिमें गौण है।

एक वस्तुमें दो प्रकार होते हैं, एक क्षणिक निमित्ताधीन भाव और दूसरा ध्रुव सामान्य स्वभाव है। उस सामान्य स्वभावको देखें तो जो त्रिकाल ज्ञायक है वह ज्ञायक ही है, पररूपमें तथा क्षणिक विकाररूपमें वह नहीं होता, इसलिये शुद्ध है।

किसी बड़ी लकड़ीके थोड़ेसे भागमें अच्छी कारीगरी की गई हो और उसका शेष सम्पूर्ण भाग सादा हो तो सादा भागको देखते समय कारीगरीका थोड़ा सा भाग मुख्य नहीं होता, इसीप्रकार आत्मामें वर्तमान अवस्था प्रत्येक समयकी स्थितिरूपसे, पर-निमित्ताधीन अनादिसे विद्यमान है, वह पुण्य-पापका क्षणिक विकार वर्तमान मात्रका है। उसे गौण करके पर-निमित्तसे रहित एकरूप सामान्य त्रिकाल निर्मल दृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा पहले शुद्ध ज्ञायकरूप था, वर्तमानमें और भविष्यमें भी वैसा ही रहेगा।

जैसे पहाड़ पर चढ़ते समय ऊपरका ध्यान मुख्य होता है और तलहटीका ध्यान गौण होता है, इसीप्रकार साध्य जो शुद्ध आत्मा है उसे मुख्य ज्ञायकस्वभावरूपसे लक्षमें लेनेसे, ऊर्ध्व ज्ञानानंदस्वभावको देखनेसे वर्तमान मलिनता गौण हो जाती है।

आत्माका स्वभाव जड़से, विकारसे, रजकणके स्वभावसे तथा अन्य सबसे पृथक् ही है। विकार क्षणिक अवस्थामात्रको ही होता है। विकारके दो क्षण कभी इकट्ठे नहीं हुए। प्रथम समयमें विकार किया, उसे दूसरे समयमें नवीन विपरीत पुरुषार्थसे ग्रहण करके दूसरे समयमें दूसरा नया विकार करता है। इसीप्रकार जीव परंपरासे प्रत्येक समयका भिन्न-भिन्न विकार करता करता चला आ रहा है, उसे नित्य-अविकारी स्वभावके लक्षसे तोड़ा जा सकता है।

लोगोंने यह बात नहीं सुनी। मुझमें क्या हो रहा है, स्वभाव क्या है विभाव क्या है, इसकी कुछ खबर नहीं है। जिससे हित होता है उसकी खबर न रखे और जिससे अपना कुछ भी हित नहीं होता ऐसे पर पदार्थोंकी (जैसे कि घरमें कितना पैसा है, घरकी खिड़कीमें कितनी छड़ें हैं, फर्नीचर कितना है, इत्यादि परकी) खबर रखता है।

स्फटिकमणि परके संयोगसे रंगीन दिखाई देता है, किन्तु उसे वर्तमानमें स्वभावसे स्वच्छ देखा जा सकता है। सफेद वस्त्र भी परनिमित्तसे मैला दिखाई देता है, किन्तु उसे वर्तमानमें स्वच्छ देख सकते हैं। यह तो दृष्टान्त है। उसमें देखनेवाला दूसरा है, वह यों कहता है; किन्तु आत्मामें जो वर्तमान मलिन अवस्था है वह मूल स्वभाव नहीं है, इसलिये वर्तमानमें मलिन अवस्थावाला जीव भी उसका निर्मल स्वभाव देख सकता है।

प्रश्नः—अशुद्ध अवस्थामें स्थित जीवको शुद्ध अवस्थामें स्थित जीव मूल शुद्ध स्वरूपसे देख सकता है यह तो संभव है, किन्तु निचली (अशुद्ध) अवस्थामें स्थित जीवको शुद्ध स्वभाव कैसे ज्ञात हो सकता है?

उत्तरः—आत्मामें ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण हैं। उसमें चारित्र और श्रद्धागुण मलिन परिणमित होता है, किन्तु ज्ञानगुण त्रिकाल ज्ञानरूपसे रहता है, रागरूपसे नहीं। इसलिये ज्ञान ज्ञायक-स्वभावसे स्व-परको जानता है। इससे अशुद्ध अवस्थाके समय भी पूर्ण शुद्धस्वभाव कैसा है, उसे आत्मा जान लेता है। अज्ञानीके भी

मात्र ही नहीं हूँ किन्तु वर्तमानमें पूर्ण ध्रुवस्वभाव निर्मल हूँ, ऐसे बलसे आंशिक निर्मलता-निरोगता तो प्रगट हुई और उसी स्वभावके बलसे अल्पकालसे साक्षात् मोक्षदशा प्रगट होनी है; इसप्रकार वर्तमान निर्मल अंशमें सम्पूर्ण निर्मल मोक्षको जानता है। किन्तु जिसके आत्मामें भवकी भ्रान्तिरूप, परमें स्वामित्व, कर्तृत्व माननेका रोग दूर नहीं हुआ, उसे पुण्यके शोथसे निरोगीपन प्राप्त नहीं होता।

आत्मभ्रांति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान॥
(आत्मसिद्धि)

श्रीमद् राजचन्द्रने भी सबसे पहले भावनिद्रा और भावरोगको दूर करनेका उपाय करनेको कहा है। अपनेको ज्ञाता-साक्षीरूपसे भूलकर परको अपना माननेरूप आत्मभ्रांतिके समान जगतमें कोई रोग नहीं है। पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं परका काम कर सकता हूँ, पर मुझे सहायता करता है, देहादिकी क्रिया मेरे आधीन है, इत्यादि प्रकारकी विपरीत मान्यतारूप रोग अनादिका है, उसे दूर करनेके लिये 'सद्गुरु चतुर वैद्य है' अर्थात् सुज्ञानी गुरु होना चाहिये; और 'गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान।' औषधिमें पथ्यकी विशेषता है, सर्वज्ञके कहे हुये आशयके अनुसार अपना हित-अहित क्या है इसका विवेक अंतरंगमें लाना चाहिये, यही सच्चा पथ्य है, उस पथ्य सहित औषधिरूपी सुविचारको लेकर ध्यान करते करते स्वरूपकी महिमामें स्थिर होना सो चारित्र है। सम्यक्चारित्रके होने पर पूर्ण वीतरागता होकर निर्मल मोक्षदशा अवश्य प्राप्त होगी।

ज्ञान और ज्ञानकी क्रिया, निश्चय-व्यवहार निजमें होता है। अशुद्धि द्रव्यदृष्टिमें गौण है, व्यवहार (पराश्रितभाव) है, अभूतार्थ (जो त्रिकाल न रहे ऐसा क्षणिकभाव) है, असत्यार्थ (त्रिकाल रहने वाले स्वभावसे विपरीत) है, उपचार (जो परनिमित्तसे होता है) है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद (ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये समस्त

गुण जिसमें एक साथ अभेद) है, निरपेक्ष (परनिमित्तकी अपेक्षासे रहित, स्वाश्रित) है, भूतार्थ (त्रिकाल रहनेवाला) है, सत्यार्थ (निर्मल स्वतंत्ररूपसे अपना अस्तित्वभाव) है, परमार्थ है; इसलिये आत्मा ज्ञायक ही है, उसमें भेद नहीं है; इसलिये वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है।

उसे 'ज्ञायक' नाम ज्ञेयको जाननेसे दिया गया है। सामने जैसा पदार्थ होता है वैसा ही ज्ञान ज्ञानमें होता है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धि नहीं है।

ज्ञानके द्वारा श्रद्धाका लक्ष होता है, श्रद्धा स्वभावके ऊपर लक्ष करनेसे प्रगट होती है और श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्वको लेकर ज्ञानमें भी सम्यक्पना आता है।

शुद्धनय (सम्यक् श्रुतज्ञानके अंश) के द्वारा आत्माको परसे निराला, अखण्ड ज्ञायकरूपसे लक्षमें लेना और ऐसा मानना कि इसी स्वरूपमें त्रिकाल रहता हूँ सो सम्यक्श्रद्धा है।

जो त्रिकाल एकरूप निर्मल रहे उसे सामान्य द्रव्यस्वभाव कहा जाता है। जो आत्माका स्वभाव हो वह दूर नहीं हो सकता और जो दूर हो जाता है वह (पुण्य-पाप-विकार) उसका स्वरूप नहीं है।

शरीर, मन, वाणीको हटाना नहीं पड़ता क्योंकि वे अलग ही हैं; वे अपने कारणसे अपनेमें रहते हैं, आत्मामें नहीं रहते। वर्तमान अवस्थामें कर्मके निमित्तसे शुभ-अशुभ विकारी भाव होता है सो वह भगवान आत्माका स्वरूप नहीं है। जो भाव नाश होता है उसे अपना मानना सो मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पापका आदर अविकारीका अनादर है। पूर्ण कृतकृत्य आनन्दस्वरूपमें त्रिकाल एकरूप निर्मल ज्ञायकरूपसे रहना ही आत्माका शुद्ध स्वरूप है। यह शुद्धनयके आश्रयका फल है।

जैसे पानीके प्रवाहमें परवस्तु (पुल, नाला) के निमित्तसे खण्ड (भेद) होता है, किन्तु वह पानीके सीधे प्रवाहका स्वरूप नहीं

इसका कारण ज्ञानकी मूढ़ता है। चैतन्य भगवान परसे भिन्न, परके आश्रयसे रहित है। उसकी प्रतीतिके बिना जीव भले ही बहुत सम्पत्तिशाली हो, विशाल भवनमें रहता हो, फिर भी वह वैसा ही है जैसे पर्वतोंकी गुफाओंमें अजगर आदि पड़े रहते हैं; क्योंकि जिसे हित-अहितका परमार्थतः भान नहीं है वह मूढ़ ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यने अष्टपाहुड़में कहा है कि जिन्हें आत्माकी खबर नहीं है वे मानों चलते-फिरते मुर्दे हैं।

जो जड़ आदि जाना जाता है वह जड़में नहीं जाना जाता, किन्तु ज्ञानसे ज्ञानमें जाना जाता है, ज्ञान ज्ञानकी अवस्थामें रहकर जानता है। ज्ञानमें अपनी ज्ञानरूप अवस्था दिखाई देती है।

अज्ञानी जड़में-देह, इन्द्रिय, स्त्री, धन आदिमें सुख मानता है, किन्तु वह कल्पना मात्र है। यदि जड़के टुकड़े करके उसमें देखें तो सुख कहीं भी दिखाई नहीं देगा, फिर भी अज्ञानी मूढ़ताके कारण परमें सुख मानता है। वर्ण, गन्ध, रस अथवा स्पर्शमें किंचितमात्र सुख नहीं है। अज्ञानीने बिना देखे ऊपरसे कल्पना करके उनमें सुख मान रखा है। मैंने किस स्थानसे सुखका निश्चय किया है, इसकी भी उसे खबर नहीं है, फिर भी अज्ञानी उस कल्पनामें ऐसा निःशंक लीन हो गया है कि वह उससे भिन्न कुछ भी निश्चित करनेके लिये तैयार नहीं होता। शरीर, इन्द्रिय, धन, मकान आदि जड़को यह खबर नहीं है कि हम कौन हैं। खबर करने वाला तो स्वयं है, फिर भी कीमत दूसरेकी आंकता है। सम्यग्दर्शनगुणकी विपरीत अवस्थाके द्वारा परका कर्ता-भोक्ता है, परमें सुख-दुःख है ऐसा मानकर परमें निःसंदेह प्रवृत्ति कर रहा है, जहाँ भूल होती है वहाँ यदि सुधार करनेके लिये सुलट जाये तो यह स्पष्ट दिखाई देने लगे कि निराकुल, अतीन्द्रिय सुख-स्वभाव अपनेमें ही है, उसमें कल्पना नहीं करनी पड़ती। अज्ञान अर्थात् अपने निर्मलस्वभावकी असमझसे उस अज्ञानके द्वारा परमें सुखकी कल्पना कर रखी है। जिसमें सुख नहीं है उसमें सुखकी कल्पना करके अज्ञानी

देहमें शुभ-अशुभ विकल्प नहीं होता। अशुद्धता परद्रव्यके आश्रयसे आत्मामें होती है, परमें नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि शरीरका धर्म शरीरमें होता है; रोगादिकी अवस्था देहमें होती है यह सच है, किन्तु आत्मा जो रोग देखकर द्वेष और निरोगता देखकर राग करता है वह आत्मामें होता है, संयोगसे राग-द्वेष, सुख-दुःख नहीं होता। फिर भी संयोगमें ठीक-अठीक मानकर मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, इस प्रकार जीव विकार करता है और इसीसे परमें सुख-दुःखकी कल्पना करता है। उस अशुद्ध अवस्थाको अपनी माननेके रूपमें जो अशुद्धनयका पक्ष है वह त्याज्य कहा गया है, क्योंकि आत्मामें परके आश्रयसे जो पुण्य-पाप विकार होता है वह मेरा है, ऐसी अशुद्धदृष्टिरूप व्यवहारका फल चौरासीके अवतारमें परिभ्रमण करना है।

कोई कहता है कि अभी पापको छोड़कर पुण्य करते हैं, फिर बादमें धर्म करने लगेंगे। उससे कहते हैं कि अभी ही धर्म समझना चाहिये, वर्तमानमें ही सच्ची समझ नहीं करके वह यदि स्वर्गमें जायगा तो भी आकुलताका अनुभव करेगा, अज्ञानी वहाँ भी इन्द्रियोंके विषयकी आकुलतासे अन्तरमें जल रहे हैं।

वीतरागदेव कहते हैं कि भगवान आत्माके लक्षको चूककर जो पुण्य-पापके क्षणिक विकारको अपना मानता है उसे जन्म-मरणके दुःख फलते रहते हैं। जितना परलक्षसे, परमें कल्पनासे सुख माना वह सुख नहीं है। ज्ञानीके सुखके सामने इन्द्रका पद भी सड़े हुए तिनकेके समान है। ज्ञानीके पुण्यकी महिमा नहीं है, आदर नहीं है, वह तो गुणके आदरका फल है। परको, विकारको अपना माननेका व्यवहारका फल संसार है। जो विकार है वही मेरा कर्तव्य है, ऐसा माननेवाला आत्मा संसारमें दुःख भोगता है।

भगवान आत्मा निर्विकार, पवित्र, आनन्दघन है, उसे कभी नहीं किया और पुण्य-पापके रंग राता रहा, तथा विकार और बं

का आदर किया, उसे जन्म, जरा, मरणसे रहितकी श्रद्धाकी खबर नहीं है; इसलिये वह पराश्रयसे अच्छा-बुरा माननेरूप अज्ञानका फल-दुःख भोगता है।

पुण्य-पाप-विकार मेरा स्वरूप नहीं है. मैं पूर्ण शुद्धस्वरूपी हूँ, इस-प्रकार माने तो दुःख दूर होता है। इस दुःखको दूर करनेके लिये शुद्ध-नयका उपदेश मुख्य है। जब शुद्धनयके द्वारा शुद्धस्वरूप जानकर निर्विकारी दशा प्रगट करता है तब जीव सुखी होता है, इसलिये शुद्धनयका उपदेश प्रथमसे ही उपयोगी है। शुद्धस्वभावको बतानेवाला उपदेश खूब सुनना चाहिये।

आत्मा द्रव्यस्वभावसे त्रिकाल निर्मल है, किन्तु वर्तमान अवस्थामें भी पुण्य-पापका विकार उसे नहीं होता, इस प्रकार सर्वथा एकान्त समझनेसे मिथ्यात्व होता है, इसलिये सम्यक् अपेक्षाके भावको बराबर समझकर जो क्षणिक विकार है उस ओरका लक्ष छोड़कर, मैं अविकारी अनन्त ज्ञानानन्दकी मूर्ति हूँ, इस प्रकार अपने पूर्ण ध्रुवस्वभावको लक्षमें लेने वाली शुद्ध दृष्टिका अवलंबन लेना चाहिये। पूर्ण स्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद अर्थात् पूर्ण वीतराग होनेके बाद शुद्धनयका भी अवलम्बन नहीं रहता।

जैसे कोई राजपुत्र राजा होने योग्य हो, किन्तु जब तक वह वर्तमान-में संपूर्ण राज्यका स्वामी नहीं हुआ तब तक उसके विकल्प रहता है; किन्तु जब वह साक्षात् राजा होकर गादी पर बैठ जाता है और अपनी आज्ञा चलने लगती है तब फिर यह विकल्प नहीं रहता कि मैं राजा हूँ, और उसकी भावना भी नहीं रहती। इसीप्रकार प्रारम्भमें जो इतनी अवस्था मलिन है वह मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं तो पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, इस प्रकार निर्मल पक्षकी ओर जानेके लिये झुकना है—उसकी भावना करता है, किन्तु जब वस्तुकी प्रतीति करके निःशंक हो जाता है तब फिर स्वरूपका निर्णय करनेका विकल्प नहीं रहता। निर्णय होने पर सम्यक्-श्रद्धा संबंधी विकल्प नहीं रहता।

प्रश्नः—आत्मा अनन्त गुणमय है, अपने अनन्तगुणसे अभिन्न, निर्मल, पूर्ण और परसे भिन्न बतलाया गया है, उसकी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। उस पूर्ण स्वभावको पुण्य पापादि परसे पृथक् जाननेवाला ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप चारित्र, इन तीनोंको आत्माका धर्म कहा गया है। यह तो तीन भेद हुए; इन भेदरूप भावोंसे आत्माके अशुद्धता आती है या नहीं ?

उत्तरः—वस्तु अभेद है, उसमें भेदरूप लक्ष करने पर राग (विकल्प) होता है और विकल्पमें परकी अपेक्षासे जितनी जितनी अवस्थाके प्रकार होते हैं उतनी अशुद्धता होती है। एकमें अपेक्षा-भेद नहीं होता। जब दूसरी वस्तु, पासमें रखी जाती है तब इसकी अपेक्षासे छोटा और इसकी अपेक्षासे बड़ा-ऐसा कहा जाता है और तब दूसरेकी दृष्टिसे देखने पर परकी अपेक्षा होती है। इसप्रकार चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प है उसमें राग-द्वेष, पुण्य-पाप-विकार, प्रमत्त-अप्रमत्त, बंध-मोक्ष इत्यादि भेद परसंयोगकी अपेक्षासे होते हैं। यदि आत्माको अकेला सामान्यरूपसे लक्षमें लें तो वह ज्ञायक, चिदानन्द, त्रिकाल निर्मल है, और ऐसे उसका एक ही प्रकार होता है।

यहाँ पर एक ही निरपेक्षस्वभावरूपसे आत्मा कैसा है, उसकी पहिचान करनेकी बात चल रही है। जो यह मानता है कि यह कठिन मालूम पड़ रहा है, हमारी समझमें नहीं आ सकता, वह

उसका पात्र होने पर भी अपात्रताकी बातें करता है। आत्माका स्वरूप समझना सहज है, क्योंकि उसमें कष्ट नहीं है। जबकि दो घड़ीमें मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है तब उसे कठिन कैसे कहा जाय? पाँच लाखका बँगला दो घड़ीमें नहीं बँध सकता, क्योंकि वह परवस्तु है और परवस्तु आत्माके आधीन नहीं है, किन्तु आत्मा चिदानन्दमूर्ति है, ऐसी प्रतीति करके जो स्वभावमें स्थिर होता है उसे अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण निर्मल केवलज्ञानदशा प्राप्त हो जाती है इसलिये जो आत्माकी सत्ताकी बात है वह सरल है।

प्रश्नः—यदि आत्माका ज्ञान सरल है तो जीव उसे समझकर शीघ्र स्थिर क्यों नहीं हो जाता?

उत्तरः—यहाँ प्रथम अपनी स्वाधीनताकी निर्मल श्रद्धा करनेकी बात है। सच्ची आन्तरिक पहिचान होनेके बाद उस निर्मल श्रद्धाके बलसे जीव स्थिर हो जायगा और आत्माके सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूपकी श्रद्धा होनेसे वह अल्पकालमें मोक्ष प्राप्त कर सकेगा, इसलिये प्रथम सत्यका आदर करके उसकी रुचि बढ़ाना चाहिये।

जो यह कहता है कि "अभी नहीं," वह मूर्ख है। जहाँ बारह महिनोंमें पाँच लाख रुपये मिलते हों वहाँ यदि एक महिनेमें उतने मिल जायें तो उससे कौन इन्कार करेगा? रुचिकर वस्तु अल्पकालमें मिल जाय तो लोग उसमें आनन्द मानते हैं। एक घन्टेमें पाँच लाख रुपये कमा लिये यह सुनते ही हृदय–उमंगसे भर जाता है। जिसे जिसकी रुचि होती है उसे उसकी प्राप्ति हुई जानकर हर्षका पार नहीं रहता, उसे उसके प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता। किन्तु यह तो मात्र संसारके अनुकूल संयोगकी बात हुई, जिसका फल शून्य है। क्योंकि उससे आत्मलाभ कुछ नहीं होता। आत्माकी अपूर्व बात अल्पकालमें मोक्ष प्राप्त कर लेनेका सुयोग और उसकी महिमाको सुनकर जो हर्षसे उछल पड़े और कहे कि मैं भी दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त करनेकी पूर्ण शक्तिवाला हूँ, वही सच्चा जिज्ञासु है। किन्तु यदि कोई

यह मान ले कि हम भी हाँ कह दें, आचार्योंने भी कहा है कि दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त हो जायगा किन्तु मगजका कोई मेल नहीं बैठता तथा यह न समझना चाहता हो कि चैतन्यकी निर्मलता क्या है और मलिनता क्या है, फिर भी केवलज्ञान चाहिये हो तो यह कैसे हो सकता है?

जैसे किसीको सिपाही होना है किन्तु उसने बन्दूक पकड़नेकी कला प्राप्त नहीं की तो अभ्यासके बिना शत्रुको कैसे मार सकेगा? इसीप्रकार स्वभाव, परभाव हित-अहित क्या है यह जाने बिना तथा उसकी श्रद्धा और सम्यग्ज्ञानके विवेककी कलाको प्राप्त किये बिना राग-द्वेषको कैसे दूर कर सकेगा? शास्त्रोंमें कहा है कि ४८ मिनटमें आत्मा केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह आत्माकी अनन्तशक्तिकी महिमाके लिये कहा है। अनन्त आत्माएँ पूर्ण पुरुषार्थ करके ४८ मिनटमें केवलज्ञानको प्राप्त हो चुकी हैं, मैं भी वैसा ही हूँ, ऐसा निर्णय करके वैसी भावना करना चाहिये।

आत्माके परवस्तुका स्वामित्व त्रिकालमें भी नहीं है, इसलिये परवस्तुमें वह यथेच्छ नहीं कर सकता। कदाचित् पूर्व पुण्यके निमित्तसे उसे अपनी इच्छानुसार संयोग मिलता है, किन्तु उसमें वर्तमानमें पुरुषार्थ किंचित्मात्र भी कार्यकारी नहीं है, तब आत्मामें तो पुरुषार्थ ही कार्यकारी है। इसलिये उसकी प्राप्तिके लिये अनंत पुरुषार्थ करना चाहिये।

जैसे सोना एक है, उसमें पीलापन, चिकनापन और भारीपन ऐसे तीन भेदोंको लक्षमें लेनेसे एकरूप सोना लक्षमें नहीं आता, किन्तु भेदको गौण करके एकाकार सामान्य सुवर्णको देखनेसे उसमें पीलापन, चिकनापन इत्यादिका भेद दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इन तीन गुणोंसे देखने पर एकत्व आत्मस्वरूप लक्षमें नहीं आता किन्तु विकल्प होकर भेद लक्षमें आता है। उसे वर्तमान पर्यायका भेदरूप लक्ष गौण कैसे है? श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनों आत्मामें एकसाथ हैं ऐसे अभेदकी श्रद्धा कैसे होगी? इस प्रकार शिष्य प्रश्न करता है।

समाधानः—आत्मामें दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, इस प्रकार तीनोंका विचार करने पर रागकी रेखा आ जाती है इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्रको पृथक् पृथक् भेदरूप लक्षमें नहीं लेना चाहिये, किन्तु अविकारी, निरपेक्ष, पूर्ण, अपूर्ण भेदरूपको लक्षमें लेना चाहिये, यह सातवीं गाथामें कहेंगे।

अनादिके अज्ञानीको समझानेके लिये यह 'समयसार' शास्त्र है इसलिये सबसे पहले यह समझनेकी आवश्यकता है। यदि कोई ऊपर ही ऊपरसे प्राप्त कर लेना चाहे तो नहीं मिलेगा। यदि दुःखको जाने तो उसे दूर करनेका उपाय भी समझमें आ सकता है।

इस सातवीं गाथाको समझते समय बहुतोंके विपरीत तर्क उठते हैं। कितने ही लोग कहते हैं कि 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आत्माके नहीं हैं,' ऐसा कहा है। किन्तु क्यों नहीं हैं? यह वे नहीं समझते। वास्तवमें तो यहाँ यह कहा है कि इन तीनोंका विकल्प (भेद) आत्मामें नहीं है। इसलिये आचार्यदेवका जो कथन है वह बराबर समझना चाहिये। 'यथार्थ ज्ञान हुए बिना आगम अनर्थकारक हो जाता है।'

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं न चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥ ७॥

अर्थः—ज्ञानीके चारित्र, दर्शन, ज्ञान-यह तीन भाव व्यवहारसे कहे जाते हैं; निश्चयसे ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

मैं परसे भिन्न तथा स्वसे एक अभेदस्वरूप, निरपेक्ष, निरावलम्बी हूँ, यह न समझना मिथ्यात्व है और अनन्त संसारका मूल है।

विकल्प नहीं होते। जैसे कि माल तोलते समय तराजू और बांटकी जरूरत होती है, परन्तु खाते समय तराजू आदि एक तरफ पड़ी रहती है, इसीप्रकार आत्माका निश्चय करनेके बाद एकाग्र अनुभवके समय चारित्र आदिके विकल्प करनेकी आवश्यकता नहीं होती। "मैं ज्ञान हूँ, उसमें स्थिर होऊँ," ऐसे शुभभावके विकल्पमें अटक जाय तो निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। यदि विकल्पके द्वारा ही आत्माने दर्शन, ज्ञान, चारित्र माने तो ऐसे मनके शुभभाव तो आत्मा अनन्तबार कर चुका है। "मैं निर्विकल्प शुद्ध हूँ, अनन्त गुणोंसे अभेद हूँ," ऐसी श्रद्धाका अभेदरूपसे आत्मामें अनुभव होने पर श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रके भिन्न-भिन्न भेद ज्ञानीके नहीं रहते। प्रथम आत्माकी श्रद्धाके समय एकाग्रता होने पर निर्विकल्प आत्माका अनुभव होता है और आगे बढ़ने पर विशेष चारित्रमें इसप्रकार निर्विकल्पताका ही अनुभव होता है। भेद हो तो विकल्प होते हैं। ऐसा समझे बिना कोई एकान्तमें एक जगह बैठ जाय तो मात्र इतनेसे ही आत्मानुभव नहीं हो जाता। प्रथम सत्य-असत्यका निर्णय होनेके बाद अनुभव होता है।

व्यवहार अर्थात् बांट-तराजूके समान शुभभाव आत्माने अनन्तबार किये हैं, किन्तु परसे भिन्न अविकारी चिदानन्द भगवान आत्माको सम्यग्ज्ञानके मापमें लेकर निश्चय नहीं कर सका।

एक आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेद करनेसे क्रमकी अपेक्षा होती है, क्रममें मनकी अपेक्षा होती है, इस प्रकार भेद द्वारा एकाकार गुणदृष्टिका अनुभव प्रगट नहीं होता और अन्तरंगमें अभेद-एकाग्रता नहीं होती।

टीकाः—यह ज्ञायक आत्माकी बंध पर्याय (कर्मोंके सम्बन्धकी अवस्था) के निमित्तसे क्षणिक अशुद्धता होती है, वह तो दूर ही रही, इसे जो अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, परन्तु 'दया पालूं, व्रत धारूं' आदि जो शुभ विकल्प हैं वह अशुभभाव (विकार) है, उसे भी जो अपना मानता है अर्थात् हितकर मानता है तो मिथ्यादृष्टि

है। वह अशुद्धता तो दूर रही परन्तु ज्ञायक आत्माके एकत्वमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी विद्यमान नहीं है, अर्थात् एकवस्तुमें भेद नहीं होते। जो ऐसा नहीं समझते, उन्हें सन्देह उत्पन्न होता है। यदि अपनी कल्पनासे पढ़े तो आगम भी अनर्थकारक हो जाता है। समयसार परम आगम है, इसमें सर्व समाधान हैं। अलौकिक बातें कही हैं, परन्तु गुरुगमके बिना समझमें नहीं आ सकती। समस्त गुणोंका पूर्ण पिण्ड आत्मा है, इसीलिये अभेद जाननेके लिए कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र भिन्न–भिन्न विद्यमान नहीं हैं, परन्तु ऐसा किसने कहा है कि वे गुण ही नहीं हैं।

घी, गुड़ और आटेको मिलाकर लड्डू बनाया हो और फिर उसमेंसे घी, गुड़, आटेको अलग कर डालो तो लड्डू रूप वस्तु ही न रहेगी, इसीप्रकार आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता है। उसके भिन्न–भिन्न भेद करके विचारके द्वारा टुकड़े करना ठीक नहीं है।

गुणका भेद करके विचार करे तो विकल्प उत्पन्न होता है, अभेदका अनुभव नहीं होता। जिसे आत्मानुभवरूपी मोदक खाना हो उसे तीन गुणोंका भेद करके शुभ विकल्प करनेमें अटकना नहीं भायेगा। बाह्य स्थूल आलम्बनकी तो बात ही क्या, परन्तु सूक्ष्म विकल्पोंका भी यहाँ निषेध है। लोगोंको ऐसा उपदेश सुननेको नहीं मिलता और अन्तस्तत्वकी विचारणा बहुत कम होती है। जिससे आत्माका गुण प्रगट हो ऐसा श्रवण–मनन प्राप्त नहीं होता, परन्तु जिस भावसे अनन्तभव बढ़े ऐसी उल्टी मान्यता और परमें कर्ता–भोक्ताकी बातें माननेवाले और मनानेवाले बहुत मिलते हैं।

आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र विद्यमान नहीं हैं अर्थात् जहां अखण्ड निर्विकल्परूप लक्ष करना है वहाँ भिन्न–भिन्न भेद प्रतीत नहीं होते, अपितु अनन्तगुणोंका पिण्ड निर्मल ज्ञायक एकस्वरूप प्रतीत होता है। परमार्थसे एकत्वस्वरूपमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र भेदरूप नहीं हैं।

निकट। बाह्यमें जो साक्षात् ज्ञानीके पास आया है वह क्षेत्रसे निकट है और अन्तरंगमें समझनेकी जिसकी तैयारी है वह भावसे निकट है। एकबार ज्ञानीके समीप पहुँचना चाहिये। इस कथनमें दूसरोंसे भिन्न ज्ञानीकी पहिचान करानेवाला अपना विवेक है। ज्ञानीकी प्राप्ति होनी चाहिये यह कहनेमें पराधीनता नहीं है। जो स्वयं पात्र बन गया है उसे ज्ञानीका योग न मिले ऐसा कभी नहीं होता। इसीलिये श्रीमद् राजचन्द्रने सत्समागम पर बारम्बार भार दिया है।

"मैं स्वयं ही तत्त्व समझ लूँगा," ऐसा नहीं मानना चाहिये, तथा तेरी शक्तिके बिना, किसी निमित्तसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जायगी, ऐसा भी कभी नहीं हो सकता। यदि तू समझे तो निमित्तमें आरोप हो, और तेरी पात्रता हो तो मुझे समझानेमें सद्गुरु निमित्त हुए—ऐसा व्यवहारसे कहा जायगा।

बहुतसे जीवोंको सत्के समझनेकी प्रबल आकांक्षा अंतरंगसे पैदा होती है, तब वे संसारमेंसे उन्नति क्रमसे आगे बढ़े हुए ज्ञानी तीर्थंकर-रूपसे जन्म लेते हैं। उनके निमित्तसे जो योग्य जीव होते हैं, वे सत्यको समझ लें ऐसा मेल हो ही जाता है। तीर्थंकर किसीके लिए अवतार नहीं लेते तथा कोई ईश्वर अवतार नहीं लेता।

कितने ही कहते हैं कि समयसारमें बहुत सूक्ष्म अधिकार हैं, परन्तु अनन्तकाल बीतने पर भी जिसकी प्रतीतिके बिना जीव जन्म-मरणके दुःख भोग रहा है, उन दुःखोंके दूर करनेके लिये ही यह वस्तु कही जाती है। दुनियादारीके लिए चौबीसों घण्टे मजदूरी करता है, जिसके फलमें सुख नहीं है। अनन्त जन्म-मरण किये उसमें एक क्षण भी आत्माका भान नहीं किया। यदि कोई व्यावहारिक संसारकी कला आ जाय तो वह पूर्वजन्मके पुण्यका फल समझना चाहिये, वर्तमान पुरुषार्थका नहीं। पूर्वजन्ममें सत्य, दान, ज्ञानके कुछ शुभभाव किये थे, उससे ज्ञान सम्बन्धी आवरण कम हो

गया और पुण्यबंध हुआ था, उसीके फलरूप वर्तमानमें बुद्धि और पुण्यके संयोग मिले हैं, इसलिये यदि कोई कहे कि हमने सांसारिक चतुराई बहुत की, इससे पैसा, बुद्धि आदिकी प्राप्ति हुई है तो यह बात मिथ्या है।

संयोग मिलनेसे कोई सुख-सुविधा नहीं होती। परवस्तु आत्मतत्त्वको किंचितमात्र लाभकारक या हानिकारक नहीं है। 'मैंने ऐसा किया इसलिए ऐसा हुआ' यह मान्यता मिथ्या है। संयोगसे जो वर्तमान जानकारी हुई है व अनित्य बोध है, वह ज्ञान पांच इन्द्रियों और मनके क्षणिक संयोगके आधीन होनेसे इन्द्रिय आदि संयोगका नाश होने पर, नाश हो जाता है।

प्रश्न:—यदि पढ़ने न जाय तो ज्ञान कैसे प्रगट हो ?

उत्तर:—जो पूर्वकी प्रगटता लेकर आया है उसे पढ़नेकी इच्छा हुए बिना नहीं रहेगी।

पैसा कमानेकी इच्छा या सांसारिक पढ़ाई (कुशलता) प्राप्त करनेकी इच्छा नए अशुभभाव हैं। पैसेकी प्राप्ति और लौकिक ज्ञानकी प्राप्ति वर्तमानके पुरुपार्थका फल नहीं है, परन्तु पूर्वका फल है। वर्तमानमें स्वकी ओर रुचि करके प्रतीति करे यह वर्तमान नये पुरुपार्थसे ही हो सकता है। बाह्य संयोगोंकी प्राप्ति होना पूर्व पुण्यके आधीन है, परन्तु अंतरंगमें सच्ची समझकी रुचिका पुरुपार्थ करना पूर्व कर्मके आधीन नहीं है। संसारके लिये जितना राग करता है, वह विपरीत पुरुपार्थ है, उसका फल नया बंध है। यदि बाह्य सामग्री प्राप्त करनेके लिये राग, द्वेप, मोह करे तो उस वर्तमान विपरीत पुरुपार्थका फल नया बंध होता है। राग-द्वेप स्वयमेव नहीं हो जाते या कोई बलात् नहीं कराता, परन्तु स्वयं बुद्धिपूर्वक उसे करता है, इसलिए जो वर्तमान राग-द्वेष होते हैं वे विपरीत पुरुपार्थसे होते हैं।

इस प्रकार दो बातें हुईं:-(१) पूर्व कर्मके फलरूप बाह्य संयोगकी प्राप्ति और (२) उसके प्रति नई खटपट अर्थात् राग-द्वेपकी प्रवृत्ति करनी (जो कि नवीन बंध है)।

कसाई हजारों प्राणीको मारकर पैसा कमाता है और आनन्द करता हुआ दिखाई देता है, वकील झूठ बोलकर हजारोंकी आमदनी करते हैं, व्यापारी धोखा करके कमाई करते हैं तो विचार करो कि वर्तमानमें जो यह सब पाप करते हैं, तो क्या पापके फलसे सुविधा, बुद्धि या पैसा मिल सकता है? कदापि नहीं। फिर भी मनुष्य "वर्तमान पुरुषार्थसे हमने यह प्राप्त कर लिया या बुद्धिमान बन गये" ऐसा मानते हैं। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है। जिसके कारणमें पाप है उसका फल तो पापबन्ध ही होता है। वर्तमानमें तो पूर्वके संग्रह किये हुऐ पुण्यका फल भोगता है।

अनन्तकालमें आत्मा कौन और कैसा है यह नहीं समझा है, इसलिये उसका समझना अपूर्व है। उसमें वर्तमान नया पुरुषार्थ काम करता है। उसे समझे बिना अनन्तबार पुण्य-पाप करके उसके फलरूप अनंत भव किये; अनंतबार धर्मके नामसे पुण्य किया; उसके फलसे उच्च देव और राजा हुआ; महान् बुद्धिशाली मंत्री हुआ; परन्तु अपूर्व तत्त्वको नहीं समझा। यथार्थ समझके लिए एकबार ज्ञानीसे सत्का उपदेश सुनना चाहिये।

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका)

जिस जीवने प्रसन्नचित्तसे इस चैतन्यस्वरूप आत्माकी बात

भी सुनी है, वह भव्य पुरुष भविष्यमें होनेवाली मुक्तिका अवश्य भाजन होता है। प्रसन्नचित्तसे अर्थात् अंतरंगके उत्साहसे कि 'अहो! सत्समागम द्वारा पहले ऐसा कभी नहीं सुना'। अपने आप पढ़कर समझ ले सो बात नहीं है परन्तु जो साक्षात् ज्ञानीसे शुद्ध आत्माकी बात सुनकर अन्तरंगमें निर्णय करता है वह भावी मुक्तिका भाजन होता है। चारों गतिमें फिरते हुए सबसे कम मनुष्यभव किये, (कोई जीव शुभभावोंको टिका रखे तो लगातार अधिकसे अधिक मनुष्यके आठ भव होते हैं) तो भी जीव अनन्तवार मनुष्य हुआ। मनुष्यभवसे असंख्यगुने नरकके भव धारण किये। (पंचेन्द्रियका वध, शिकार, गर्भपात इत्यादि तीव्र पापोंका फल नरक गति है। यह बात बहुतवार कही जाती है। मनुष्योंको दुःखका भय दिखानेके लिए यह कल्पना नहीं की है), इन नरकके भवोंसे भी असंख्यगुने स्वर्गके भव धारण किये, और वे भी अनन्तवार किये। इन स्वर्गके भवोंसे भी पशु, तिर्यंचोंमें एकेन्द्रिय (वनस्पति इत्यादि) में अनन्तानन्त भव धारण किये हैं; ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं। पूर्वमें तीव्र कपट, वक्रता इत्यादि की, उसके फलस्वरूप तिर्यंचोंके टेढ़ेमेढ़े शरीर मिले हैं।

प्रश्नः—पूर्वभव कैसे माना जाय?

उत्तरः—आत्मा वर्तमानमें है और जब कि है तो उसका आदि नहीं है तथा अन्त भी नहीं है। जब कि यह भव है तो पूर्वभव भी था ही। जैसे घीका फिर मक्खन नहीं बन सकता उसीप्रकार यदि मोक्षदशा प्रगट कर ली हो तो फिर अवतार नहीं हो सकता। आत्मा अनादिसे संसारदशामें अशुद्ध है। शुभ-अशुभरूप अशुद्धभावका फल चार गतिका भ्रमण है। अनन्तकालसे अपनेको नहीं समझा इसलिए आत्मा संसारमें भ्रमण करता है।

जैसे डिबियामें रखा हुआ हीरा डिबियासे अलग है उसीप्रकार मन, वाणी, देह और पुण्य-पाप-विकार आदिसे भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा अलग है, वह देहरूपी डिबियासे अलग है।

यह सातवीं गाथा जिसे बराबर समझमें नहीं आती वह विरोधमें कहता है कि इस गाथामें तो कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्माके नहीं हैं, तो क्या आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र रहित अर्थात् जड़ है? विकल्प और गुणके भेद उस अभेद आत्माका स्वरूप नहीं हैं, यह कहा है, ऐसा लक्षमें न लेकर वे ऐसा कुतर्क करते हैं कि गुणोंको तो उड़ा ही दिया; है पहला घड़ा उल्टा रखा जावे तो उसके ऊपर जितने घड़े रखे जावेंगे वे सब उलटे ही रखे जावेंगे। इसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मा परसे भिन्न और अपने अनन्तगुणोंसे अभिन्न है। इस बातको जो वास्तविकरूपसे नहीं समझे तो उसके जितने भी तर्क होंगे वे सब विपरीत ही होंगे।

बाह्यसे धर्म होता है ऐसा लोगोंने अनादिसे मान रखा है, उससे यह जुदी बात है। कोई आत्मा परकी क्रिया नहीं कर सकता। ज्ञानी पुण्य–पाप-विकारका स्वामी नहीं है, इसलिए वह उसका कर्ता नहीं होता किन्तु वह अपने अविकारी स्वभावका कर्ता होता है। अविकारीकी श्रद्धा द्वारा विकारका निषेध होने पर भी पुरुषार्थकी मन्दता है इसलिये पुण्य–पापका भव होता है, परन्तु उसका स्वामी या कर्ता ज्ञानी नहीं होता। जो अपनेको विकारोंका और शरीरादि जड़की क्रियाका कर्ता मानता है उसे अविकारी ज्ञायक स्वरूपका भान नहीं है।

यह सच्ची श्रद्धाका विषय है। मुनित्व, श्रावकत्व और चारित्रकी योग्यता तो सच्ची श्रद्धाके बाद ही आ सकती है। आचार्य कहते हैं कि जिसे सच्ची श्रद्धा नहीं है उसे सच्चा मुनित्व, श्रावकत्व या चारित्र नहीं हो सकता।

अविकारी निरावलम्बी वीतरागस्वभावकी यथार्थ श्रद्धा और अंशरूप स्थिरता होने पर भी निम्नदशामें पुण्य–पापका विकार होता है, तो परन्तु उसे अखण्ड प्रतीति है मेरा ज्ञायकस्वभाव पुण्य-पापका नाशक है, रक्षक नहीं। जब तक पहले ऐसी श्रद्धा न करे

तब तक आत्मस्वभाव समझनेकी और उसे प्राप्त करनेकी योग्यता भी नहीं आती।

यहाँ कहते हैं कि चिदानन्द भगवान आत्माको क्षणिक-विकार कहनेकी बात तो दूर रही, परन्तु गुण-गुणीके भेदका लक्ष भी छोड़ो। आत्मा स्वरूपसे अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड है, उसमें अभेद लक्ष न करे, और ज्ञान, दर्शन, चारित्रके विकल्पोंके द्वारा तीन भागों पर दृष्टि रखे तो उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं होती। जिसका परमार्थ स्वरूप निर्मल है, वैसा उसका भान न करे और पुण्य-पापकी प्रवृत्तिमें समय बिता दे तो उस जीवनका क्या मूल्य है? मात्र लोगोंमें दिखावट "हास्य और स्पर्धा" करके धर्म मानता है, कोई बाह्य लौकिक नीति द्वारा ही सब कुछ मान लेता है, परन्तु यह कोई अपूर्व बात नहीं है।

किसी बड़े-बूढ़ेके मरने पर लोग कहते हैं कि बेचारा बूढ़ा हरी-भरी वाटिका (घर-परिवार) छोड़कर चला गया है, परन्तु ममताको लेकर और पूर्व-पुण्यको जलाकर आत्मा दुर्गतिमें गया है, यह कोई नहीं विचारता। अहो! जो ऐसे परम सत्यकी महिमा एक-बार सुने, अन्तरंगसे प्रतीति करे, उसके लिए मोक्षकी फसल पक सकती है। अपूर्व श्रद्धा द्वारा जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया उसे बहुमूल्य मनुष्य भव मिला, परन्तु वह व्यर्थ ही गया।

लोग कुनैन पीनेसे पूर्व ही यह विश्वास कर लेते हैं कि कुनैन पीनेसे बुखार उतर जाता है, इसीप्रकार पहलेसे ही यह विश्वास करना चाहिये कि मैं राग-द्वेष-अज्ञानसे रहित ज्ञायक हूँ।

कोई कहे कि कुनैनसे बुखार उतरता है, तब परमाणुओंमें होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनको हम नहीं देख सकते, परन्तु उससे बहुतोंका बुखार उतरा है, इसलिये ऐसा मान लेते हैं। इसीप्रकार विकारका सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण निर्विकारी शुद्ध स्वरूप अनन्त आत्माओंने प्रगट किया है, इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा राग-द्वेष, अज्ञान-रहित मात्र ज्ञायक है—ऐसा मानना चाहिये।

व्यवहारसे कहा जाता है कि ज्ञानीको दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, परन्तु परमार्थसे देखा जाय तो अनन्त पर्यायोंको एक द्रव्य अपनेमें समा गया है, इसलिये एकरूप किंचित् एकमेक मिला हुआ आत्मा तो अभेद ज्ञायकतत्व ही है। आत्मामेंसे गुण नया प्रगट नहीं होता, परन्तु पर्याय प्रगट होती है, ज्ञानीका अखण्ड द्रव्य पर लक्ष है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्माकी पर्याय है, व्यवहार है, उस भेदको गौण करके आत्मा अखण्डानन्द, पूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्रसे अभिन्न है, उसे श्रद्धामें (लक्षमें) लेना ही धर्मका मूल है। गुणके भेदरूप विकल्पको छोड़कर आत्मामें एकाग्रतासे उसको लक्षमें ले तो बुद्धिपूर्वक विकल्प छूटकर परमार्थस्वरूप निर्विकल्प अभेद स्वादरूप मालूम होता है। [illegible] [illegible] भी नहीं है, इसलिये मनुष्यको ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन बहुत मँहगा कर दिया है। लोगोंने अपनी कल्पनामें [illegible] [illegible] रखा है।

करके भीतरसे मिथ्या तर्क उठावे तो "पापकी मुट्ठीमें तो बस केवल शंख समायें !" एकमात्र समयसार शास्त्रकी पात्रता धारण करके सत्समागमसे सुने और परमार्थको समझे तो अनन्त भवोंकी तृष्णाकी भूख भाग जाये।

जिसकी महिमा तीनों कालमें अनन्त सर्वज्ञ परमात्माओंने गाई है, उसकी बात साक्षात् सुननेको मिलने पर भी अविकारी ध्रुवस्वभावकी श्रद्धा न करे, यह कैसे हो सकता है ?

कच्चे चनेमें स्वाद भरा हुआ है, यह जानकर चनेको भून डाले तो फिर वह बोने पर नहीं उगता किन्तु स्वाद देता है, वैसे आत्मामें अखण्ड आनन्द भरा है, वर्तमान अवस्थामेंसे भूलरूप कचास और अशुद्धता निकाल दे तो उसका स्वाद प्रगट आवे; इसलिये पहले मैं अखण्डानन्द पूर्ण हूँ, अविकारी हूँ, इस बातको अन्तरंगमें श्रद्धा करनी चाहिए। पूर्ण निर्मल स्वभावकी श्रद्धा होते ही राग-द्वेष सब टल नहीं जाते, परन्तु अखंड गुणकी प्रतीतिके बलसे क्रमशः स्थिरता होने पर विकारका नाश होता है।

जैसे चनेमें स्वादकी उत्पत्ति, कचासका व्यय और उसके मूल स्वरूपकी स्थिरतारूप ध्रौव्यत्व विद्यमान है, उसीप्रकार आत्मामें मैं राग-द्वेषरहित निर्मल स्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धाके अपूर्व स्वादका उत्पाद, अज्ञानका व्यय और सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ध्रुवरूप है ऐसी श्रद्धाकी महिमा सुने और माने तो आत्माका यथार्थ स्वरूप समझमें आ जाये।

ज्ञानमूर्ति आत्मामें भिन्न-भिन्न अनन्त गुण हैं, परन्तु उनका भिन्न-भिन्न विचार करनेसे एक अखण्ड वस्तु नहीं जानी जा सकती। गुण-गुणीके भेद करनेमें लगे रहना रागका विषय है, इसलिए उसके द्वारा निर्विकल्प अनुभव नहीं हो सकता। अखण्ड स्वरूपके लक्षके बिना निर्मल, निरपेक्ष वस्तु ध्यानमें नहीं आती और यथार्थ प्रतीतिके बिना आत्मामें स्थिर नहीं हुआ जाता।

जैसे राजाको उसके योग्य अधिकार और मानसे न बुलाएँ तो वह उत्तर नहीं देता; वैसे ही भगवान आत्माके सर्वज्ञको न्यायके अनुसार

अनन्तकालकी भूल जिसे नाश करनी हो उसे सत्समागमसे सुनकर अविकारी आत्माको अखण्डरूपसे लक्षमें लेना चाहिये।

मनके संबंधसे किंचित् पृथक् होकर गुण-गुणीके भेदका लक्ष छोड़कर अभेदरूपसे आत्माका अनुभव करना चाहिये।

प्रश्नः—यदि आंख, कान बन्द कर लें तो क्या विकल्प रुक सकते हैं?

उत्तरः—'भीतर कौन है' इस बातको समझे और उसमें स्थिर रहे तो नाक-कानके कार्यकी ओर लक्ष न जाय, और तब वे बन्द हुए ही हैं, बन्द नहीं करने पड़ते। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवोंको भी तो इन इन्द्रियोंके चिन्ह नहीं हैं, तो क्या इसमें उन्हें राग-द्वेष नहीं है? उन जीवोंके तो अनन्त मूढ़ताकी विकलता विद्यमान है।

आत्मा अपने अनन्त गुण-पर्यायोंका पिण्ड है। पहले उसे यथार्थ जाने और जाननेके बाद रागसे दूर रहकर स्वभावमें एकाग्र हो जाय तो संकल्प-विकल्पकी आकुलता सहज ही टल जाती है। सत्‌के लक्षसे असत् (राग-द्वेषादि) टलता है। आत्मा परसे भिन्न है, यह जाने बिना परमार्थतः राग दूर नहीं होता। एकान्तमें जाकर अपनी कल्पनासे माने कि मुझे संसारका राग नहीं है, विकल्प नहीं है, परन्तु परमार्थसे आन्तरिक अभिप्रायमें राग-द्वेष घटा नहीं है, तो इसके परिणामस्वरूप यह जीव मूढ़ हो जायगा।

आत्माका निर्विकल्प, निरावलम्बी, सहजस्वरूप समझे बिना जैन साधु होकर कषायकी इतनी मंदता की है कि अगर कोई जला भी दे तो उस पर क्रोध न करे, फिर भी भव कम नहीं हुए, धर्म नहीं हुआ क्यों कि 'मैं सहन करता हूँ' ऐसा जो विकल्प है सो राग है, धर्म नहीं। पहले राग-द्वेष पर लक्ष न करते हुए 'स्वाभाविक अस्ति' वस्तु त्रिकालमें क्या है यह जानना चाहिये। उसे जाने बिना ही रागादिका अभाव चाहता है, इसलिये नास्ति पक्ष (रागादिका नाश) नहीं हो सकता।

'यह तो बहुत सूक्ष्म है' समझमें नहीं आ सकता। ऐसा मत मानो। यह बात सत्य है, त्रिकालमें सत्य है, अनन्तकालमें कभी नहीं

सुनी थी ऐसी यह बात है। तेरी महिमा बताकर तेरी लोरियां गाई जा रही हैं। "मेरा पुत्र बड़ा सयाना है, चौकी पर बैठकर नहा रहा है, मामाके घर जायगा, खाजा, जलेबी खाएगा" ऐसी गीत बालकको सुलानेके लिए माता प्रशंसा करती हुई गाती है; किन्तु तुझे अनादिकी नींदमेंसे जागृत करनेके लिये सर्वज्ञ भगवान गीत गाते हैं कि 'तू आत्मा चिदानंद प्रभु है, परके आधीन नहीं है। तुम तीनों कालमें स्वाधीन है'। यह तेरे स्वभावरूप धर्मकी जागृतिके गीत हैं। अनन्त-कालसे तू अपनेको नहीं पहचान रहा है। गुणी-गुणीके भेदके विचारमें या शुभरागमें अटका हुआ है, तब धर्म कहांसे हो सकता है।

इस सातवीं गाथामें यह बताया है कि परमार्थस्वरूपका आत्मामें अभेद अनुभव कैसा है। उसे नहीं समझने वाले अनेक कुतर्कोंसे शंका उठाते हैं। जिसे खोटी प्राप्ति हुई है वह उसको (खोटेपनको ही) प्रगट करता है। यहां श्री कुन्दकुन्दाचार्यने त्रिलोकनायक तीर्थंकर भगवानके पाससे जो सनातन सत्य प्राप्त किया है उसे जगतके समक्ष प्रगट किया है कि प्रत्येक वस्तु परसे भिन्न और स्वसे एकरूप है। आत्माके कोई गुण भिन्न नहीं हैं, तीनों कालकी पर्यायोंको अभेद करके अंतरंगके अनुभव द्वारा कहते हैं कि ज्ञानीको दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हैं, अर्थात् वे भिन्न-भिन्न नहीं हैं, वे सम्पूर्ण द्रव्यस्वरूपमें समा जाते हैं।

दर्शन, ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य, अस्तित्व, द्रव्यत्व इत्यादि समस्त गुण वस्तुस्वरूपसे एक हैं तथापि कार्यरूपसे कथंचित् भिन्न हैं। जैसे कि श्रद्धाका कार्य प्रतीति करना है, ज्ञानका कार्य जानना है, आनन्दका कार्य आह्लाद अनुभव करना है, दर्शनका कार्य सामान्य प्रतिभास है, अस्तित्वका कार्य होनेरूप है। ज्ञान द्वारा समस्त गुण भिन्न-भिन्न और किंचित् एकरूप हैं, ऐसा ज्ञात होता है। समस्त गुणों-का आनंद भिन्न-भिन्न है, तथापि ज्ञान सब गुणोंका एकरूप कैसे है, यह समझकर एकत्वको लक्षमें लेनेकी यह बात है। इस समझनेकी

करता है तब वहाँ एक पक्षका राग रहता है। पहले श्रद्धामें निर्विकल्प होनेके बाद जब चारित्रमें विशेष स्थिर नहीं रह सकता तब अशुभसे बचनेके लिए शुभमें लगता है, किंतु दृष्टि तो अखण्डस्वभाव पर ही रखता है, और उस अभेददृष्टिके बलसे चारित्रको पूर्ण कर लेता है।

छठवीं गाथामें क्षणिक वर्तमान अवस्थामें विकारका लक्ष छोड़कर अभेद स्वरूपका लक्ष करनेको कहा है और इस सातवीं गाथामें गुण-गुणीके भेदका लक्ष छोड़कर अभेद अखण्ड ज्ञायक स्वरूपका लक्ष करनेको कहा है। इस अभेददृष्टिके बलसे क्रमशः रागका नाश और निर्मलताकी वृद्धि होकर केवलज्ञानकी पूर्णता प्रगट होती है।

प्रश्नः—ज्ञानीके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्यों नहीं हैं?

उत्तरः—श्रद्धाका विषय त्रिकाल निरपेक्ष द्रव्य है और सामान्य ध्रुवस्वभाव अभेदरूपमें निर्मलरूपमें लेना है; तथा निश्चयका विषय भी अभेद निर्मल है, किन्तु निश्चयका विषय श्रद्धा-सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन पर्याय है और सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र भी पर्याय हैं। एवं पर्यायके जो भेद हैं, वह व्यवहारका विषय है। ज्ञानीके दर्शन, ज्ञान, चारित्र विद्यमान नहीं हैं, क्योंकि वह पर्याय है, खंड है, व्यवहारनयका विषय है और अभेददृष्टिमें-निश्चयमें बंध-मोक्ष, साध्य-साधक इत्यादि सब पर्यायें गौण हो जाती हैं। सामान्य-विशेष एक ही समयमें होते हैं उनमेंसे निश्चयके विषय पर दृष्टि करने वाला सम्यग्दृष्टि है, एक समयमें एक पर्याय प्रगट होती है, पर्यायका भेद व्यवहारका विषय होनेसे अभूतार्थ है अर्थात् त्रिकाल विद्यमान नहीं है, अतः शुद्धनयके द्वारा भेदको गौण किया जाता है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी पर्यायके ऊपरका जो लक्ष है वह निर्मलताका कारण नहीं है, उसमें शुभराग होता है; किंतु रागका अभाव नहीं होता। अखण्ड द्रव्य-सामान्यके ऊपरकी जो दृष्टि है,

वह सम्यग्दर्शन, चारित्र और केवलज्ञानका कारण है। सम्यग्दर्शनका विषय अखण्ड निर्मल सामान्य एकरूप है, इसलिये निर्मल पर्याय प्रगट होकर सामान्यमें मिल जाती है। सामान्य निर्मलके लक्षसे निर्मलता प्रगट होती है और भेदके लक्षसे राग रहता है। अखण्डके बलसे चारित्र प्रगट होता है, वह व्यवहार है, गौण है। व्यवहार मात्र ज्ञान करनेके लिए और उपदेशमें समझानेके लिए है। 'पूर्ण निर्मल हूं' ऐसी अखण्डकी दृष्टि ही मोक्ष देनेवाली है। दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी निर्मल पर्याय अखण्डके बलसे प्रगट होती है, वह पर्याय सद्भूत-व्यवहार है और वह भी दृष्टिमें गौण है। दृष्टिमें साध्य-साधकका भेद नहीं है। संसार और मोक्ष पर्यायें हैं, वे भी अभूतार्थके विषय हैं इसलिये गौण हैं।

सम्यग्दर्शन और शुद्ध आत्मा एक नहीं हैं, क्योंकि शुद्ध आत्मा अनन्त गुणोंका अभेद पिण्ड है और सम्यग्दर्शन श्रद्धागुणकी पर्याय है, वह निश्चयदृष्टिमें गौण है। ज्ञानी अभूतार्थको अर्थात् जो त्रिकाल विद्यमान नहीं रहता उस भेदको मुख्यतासे लक्षमें नहीं लेते।

अखण्ड द्रव्यदृष्टिके बलसे—निजके अस्तित्वके बलसे—निर्मल पर्याय अवश्य होती है, ऐसी श्रद्धाका होना सो सम्यग्दर्शन है और ऐसी श्रद्धा भेदके लक्षसे अथवा विकल्पसे नहीं होती।

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो एक परमार्थका ही उपदेश करना चाहिए, उपदेशमें व्यवहारका आश्रय क्यों लिया जाता है? इस प्रश्नका उत्तर आठवीं गाथामें बड़े ही अद्भुत ढंगसे दिया गया है।

आठवीं गाथाकी भूमिका

छठवीं गाथामें विकारसे भिन्न अभेद ज्ञायक आत्माका वर्णन किया गया है। उसमें यह लक्षमें लेनेको कहा गया है, कि आत्मा ज्ञानादि गुणोंका अखंड पिंड है, आत्मा क्षणिक एक अवस्थामात्रके लिए नहीं है, इसलिये उस भेदको गौण करके एक आत्माको निर्मल असंयोगी,

मिथ्यात्व है। शुभ-अशुभभाव जो कि विकार है वह मुझे गुण करता है, इस प्रकार वह विकार और गुणको एक मानता है। तू निर्विकार है, तूने अपने परम माहात्म्यकी बातको कभी नहीं सुना, अन्तरंगमें तुझे महिमाका कभी उद्भव नहीं हुआ। वीतराग सर्वज्ञ प्रभुने तेरी अनन्त महिमा गाई है, परन्तु तूने उसे अंतरंगसे परमार्थतः कभी नहीं सुना।

समयसारकी छठवीं-सातवीं और आठवीं गाथायें आत्मधर्म-रूपी वृक्षकी जड़े हैं। जिसने यह माना है कि आत्मा परवस्तुको ग्रहण कर सकता है अथवा छोड़ सकता है उसने परको और अपनेको एक माना है। परवस्तु मेरे आधीन नहीं है, उसका स्वामित्व मेरे नहीं है, विकार भी मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार एकके बाद दूसरे गुणके भेदका विचार करे तो भी अभेदकी श्रद्धा प्रगट नहीं हो सकती। इसलिये अभेद-निर्मलकी श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है। जहाँ सम्यग्दर्शनरूपी बीज नहीं है वहाँ व्रतरूपी वृक्ष कहाँसे उग सकता है? समझे बिना व्रत और तप बालव्रत और बालतप हैं। देह, मन, वाणीकी प्रवृत्ति आत्माके लिए लाभ या हानिकारक नहीं है। रागकी प्रवृत्ति आत्माके लिए लाभकारक नहीं परन्तु हानिकारक है। आत्मा जब अन्तरंग-दृष्टिकी प्रतीतिको प्राप्त होता है तब "मैं रागका नाशक हूँ" इस प्रकारकी प्रतीतिके बलसे परवस्तुका राग छूट जाता है। रागके छूट जाने पर परवस्तु अपने निजके कारण छूट जाती है। मैं परवस्तुका त्याग कर सकता हूँ इस प्रकार परके स्वामित्वकी मान्यता अनन्त-संसारका मूल है। त्याग सहज है, स्वभावमें हठाग्रह नहीं होता, लोग तत्त्वको नहीं समझे इसलिये तत्त्व दूसरा नहीं हो सकता, वह जैसाका तैसा बना रहता है।

वस्तुके सहज स्वभावकी पहचानसे निजमें स्थिरता बढ़ती है और रागका अभाव होता है। अभेददृष्टिसे, अखण्ड स्वभावको लक्षमें न ले किन्तु गुण-गुणी भेदको लक्षमें ले तो दृष्टिमें राग रहता है और इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। मैं परसे भिन्न हूँ, ऐसा

विचार करे अथवा "मैं रागको दूर करूँ–मैं रागको दूर करूँ" इस प्रकार कहा करे तो वह भी राग है। जहाँ रागकी ओर झुकाव होता है वहाँ वीतरागस्वभावका निर्विकल्प लक्ष नहीं होता। किन्तु रागसे पृथक् होकर "मैं निर्मल हूँ" इस प्रकारकी दृष्टिके बलसे यदि आगे बढ़ता चला जाय तो पूर्ण निर्मल हो जाता है। अविरोधरूपसे तत्त्वको जान लेनेके बाद "मैं अखण्ड पूर्ण निर्मल हूँ" ऐसे स्वलक्षके बलसे निर्विकल्प स्वरूपस्थिरता (चारित्रकी निर्मलता) सहज प्रगट हो जाती है। अखण्डदृष्टिका बल अल्पकालमें मोक्षको प्राप्त करा देता है। रागको दूर करनेका विचार नास्तिपक्षकी ओर झुकाव है। यदि शुद्धदृष्टि सहित रागको दूर करनेका विचार हो तो भेददृष्टि होनेसे शुभभाव होता है, किन्तु रागका अभाव नहीं होता।

यहाँ तो पहले ही शुद्ध अखण्डकी दृष्टि करनेको कहा है, उसमें शुभ करनेकी तो कोई बात ही नहीं है, किन्तु आन्तरिक स्थिरतारूप चारित्रको भी गौण कर दिया है। दृष्टिमें निरावलम्बी अभेदभावको लक्षमें लेनेके बाद उसीके बलसे निरालम्बी निर्मल चारित्र प्रगट होता है।

प्रश्नः—क्या यह ठीक है कि पहले सरागचारित्र और उसके बाद उससे वीतरागचारित्र होता है?

उत्तरः–नहीं, राग तो विकार है, उससे चारित्रको कोई सहायता नहीं मिलती। चारित्र तो अकषायस्वरूप है, अकषायदृष्टिके खुलने पर जो व्रत आदिका शुभराग रहता है उसे उपचारसे व्यवहारचारित्र कहा जाता है, तथापि जो यह मानता है कि शुभभावका करनेवाला मैं हूँ और वह मेरा कार्य है, वह धर्मको अविकारी वीतरागरूप नहीं मानता, और अपनेको अविकारी नहीं मानता इसलिये वह दृष्टि मिथ्या है। चारित्र आत्माका वीतरागभाव है, और व्रतादिका शुभराग विकारी बन्धनभाव है, चारित्र नहीं है।

आत्मा तो सदा अरूपी ज्ञाता है, ज्ञातास्वरूप है, उसमें परका लेना-देना कुछ नहीं है। मैं इसे दूर कर दूँ, इसे छोड़ दूँ, इसे

रखूं छोड़ूँ-इत्यादि शुभाशुभभाव कषाय हैं, इसलिए वे आत्मगुणरोधक हैं। चारित्र तो अकषायदृष्टिके बलसे प्रगट होता है। 'मैं अखण्ड हूँ, निर्मल हूँ' ऐसे विकल्प, दृष्टिके विषयमें लगनेके लिये और पूर्ण स्थिर होनेसे पूर्व आते तो हैं किन्तु वे स्थिरतामें सहायक नहीं होते। निर्मल अभेददृष्टिके बलसे वीतरागता होती है, किन्तु 'मैं पूर्ण हूँ' ऐसे विकल्पसे चारित्र प्रगट नहीं होता और शुद्ध दृष्टि भी नहीं खुलती। अभेद निर्मलके आश्रयसे वर्तमान पर्याय निर्मल होकर सामान्यमें मिल जाती है, इसलिये भेददृष्टिको गौण करनेको कहा है।

प्रश्नः—हे प्रभु! जब आपने भेदरूप व्यवहारको बिलकुल गौण कर दिया तो फिर एकमात्र परमार्थका ही उपदेश देना था, व्यवहारके उपदेशकी क्या आवश्यकता थी?

इसका उत्तर आठवीं गाथामें देते हुए कहा है किः—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥ ८॥

अर्थः—जैसे अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्यको अनार्य भाषाके बिना किसी भी वस्तुका स्वरूप ग्रहण करनेके लिये कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश करनेको कोई समर्थ नहीं है।

यहाँ शिष्यने (परमार्थसे ही लाभ होता है इतना समझकर) प्रश्न किया है, जिसका उत्तर यह है—जैसे अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्यको अनार्य भाषाके बिना किसी भी वस्तुका स्वरूप समझाना शक्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहारके बिना (समझानेके लिये भेद-कथनरूप उपदेशके बिना) परमार्थको कोई समझ नहीं सकता। जैसे कोई अंग्रेजी भाषा ही समझता हो तो यदि उसे उसकी भाषामें

कहो तभी वह समझता है, इसीप्रकार अनार्यको अर्थात् परमार्थसे अनभिज्ञ व्यवहारी पुरुषको व्यवहारसे गुण-गुणीका भेद बतलाकर समझाया जाता है।

जैसे किसी म्लेच्छसे कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' शब्द कहे तो वह म्लेच्छ शब्दके वाच्य-वाचक सम्बन्धके ज्ञानसे रहित होनेसे कुछ भी न समझकर ब्राह्मणके सामने मेंढ़ेकी भांति आंखें फाड़कर टुकुर-टुकुर देखता ही रहता है (मेंढ़ेकी भांतिका अर्थ अनुसरण करनेकी सरलता है। इतना ही लेना चाहिये) 'स्वस्ति' क्या कहता है यह समझनेका आदर है, जिज्ञासा है, आलस्य नहीं है; आंखें बन्द करके नहीं सुनता, किन्तु समझनेकी पूर्ण तैयारी-पात्रता है। अन्धश्रद्धा वाले और सत्य समझनेकी अपेक्षासे रहित श्रोता नहीं हो सकता, यह ऊपरके कथनसे समझना चाहिये।

वह म्लेच्छ 'स्वस्ति' का अर्थ समझनेके लिये ब्राह्मणके सामने टकटकी लगाकर देखता रहता है, बाह्यमें मनको दूसरी ओर नहीं दौड़ता। किन्तु मनको स्थिर रखकर भीतरमें 'स्वस्ति' को समझनेकी जिज्ञासा है, लापरवाह नहीं है, निरुत्साह नहीं है। जैसे मेंढ़ेको अनुसरण करनेकी आदत होती है, उसीप्रकार ब्राह्मण क्या कहता है यह समझनेका म्लेच्छका भला भाव है, इसलिए आंखें फाड़कर (प्रेमसे आंखें खुली रखकर) ब्राह्मणके सामने वह टकटकी लगाकर देखता ही रहता है। उसके अन्तरंगमें एक ही आकांक्षा है कि ब्राह्मण जो कहता है उसका अर्थ धीरजसे समझ लूँ; लौकिकमें भी इतनी विनय है।

जैसे प्रधानमंत्री, राजा और प्रजाके बीचमें मेल कराने वाला है उसीप्रकार गणधरदेव, तीर्थंकर भगवान और श्रोताओंके बीच संधि कराने वाले धर्ममंत्री हैं। वे तो सबको हित ही सुनाते हैं (किसीको तीर्थंकर भगवानका सीधा वचन भी सुननेको मिलता है।) इसी प्रकार दोनोंकी (ब्राह्मण और म्लेच्छकी) भाषाका जाननेवाला अन्य कोई तीसरा पुरुष अथवा वही ब्राह्मण म्लेच्छको 'स्वस्ति' का

अर्थ उसकी म्लेच्छ भाषामें समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ यह है कि 'तेरा अविनाशी कल्याण हो।'

व्यवहारके उपदेशमें भी 'सु + अस्ति' का लक्ष करने वालेका अविनाशी कल्याण हो ऐसा आशीर्वाद है। 'तेरी पवित्रस्वरूप लक्ष्मी प्रगट हो' ऐसा उस आशीर्वादका भावार्थ है।

'स्वस्ति' शब्दका ऐसा अपूर्व अर्थ सुनते ही (वह पात्र था इसलिये) अत्यन्त आनन्दमय आंसुओंसे उसके नेत्र भर आते हैं। यदि हम हर्ष प्रगट न करें तो उसे समझानेकी उमंग न हो, ऐसी उसमें कृत्रिमता नहीं है। किन्तु यहां म्लेच्छके तो "अहो! तुम्हारा ऐसा कहना है" ऐसे अपूर्व आदरके साथ हर्षाश्रुओंसे नेत्र भर जाते हैं। ऐसा यह म्लेच्छ स्वस्तिका अर्थ समझ जाता है। इसीप्रकार व्यवहारी मनुष्य भी वाणीके व्यवहारसे परमार्थको कैसे समझ लेते हैं यह आगे कहेंगे।

जब कोई मनुष्य म्लेच्छको म्लेच्छकी भाषामें 'स्वस्ति' अर्थात् 'तेरा अविनाशी कल्याण हो' ऐसा अर्थ सुनाये तब म्लेच्छ 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ जैसा कहा वैसा समझ जाता है। अब इस परसे यह सिद्धान्त घटित होता है कि:—

जिस जीवने, सर्वज्ञ भगवानने जैसा आत्मा कहा है उसीप्रकार आत्माको कभी नहीं जाना, ऐसे व्यवहारी पुरुषको "आत्मा" शब्द कहने पर जैसा "आत्मा" शब्दका अर्थ है उस अर्थके ज्ञानसे रहित होनेसे, कुछ भी न समझकर मेंढेकी भांति आंख फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है।

[illegible]

क्रिया करते हैं, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करते हैं, देहकी कुछ क्रिया करें चलें बोलें उसे ही वे आत्मा मानते हैं किन्तु देहादि हलन-चलन करता है, स्थिर रहता है, बोलता है, या खाता है, यह समस्त क्रिया जड़ करता है। भीतर पुण्य-पापका संवेदन होता है उस क्षणिक विकाररूप भी आत्मा नहीं है। वीतरागने जैसा आत्माका स्वरूप कहा है वैसा लोग नहीं समझे। आत्माके धर्ममें उपाधिका नाश है, आत्माका भान होने पर जीव वर्तमानमें पूर्ण शान्ति और भविष्यमें भी निराकुल पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है। आत्मा अखण्ड, ज्ञायक है, पूर्ण आनन्दघन है, परसे भिन्न है-ऐसी जिसे खबर नहीं है वह व्यवहारी पुरुष है; उसे 'आत्मा' ऐसा शब्द कहने पर उसके अर्थके ज्ञानसे अनभिज्ञ होनेसे वह मेंढ़ेकी तरह आँखें फाड़कर 'आत्मा' शब्द कहने वाले ज्ञानीके सामने कुटुरमुकुर देखता ही रहता है। ज्ञानी क्या करते हैं, वही उसे समझना है, अभी कुछ भी अर्थ समझना नहीं है, इसलिये समझनेके लिये ज्ञानीके सामने आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, समझनेकी तैयारी है, न समझनेका आलस्य नहीं है। इसमें प्रारंभमें तत्त्व सुनने-वाला जिज्ञासु कैसा होना चाहिये यह भी आ गया। तत्त्वश्रवणमें जागृति और समझनेकी उमंग तथा पात्रता चाहिये।

"आत्मा अभेद है, सिद्ध भगवानकी तरह पूर्ण है, उसमें पुण्य-पापका विकार नहीं है, वह परका कर्ता नहीं है," इस प्रकार जब ज्ञानी कहता है तब व्यवहारी पुरुष उसका मतलब समझ लेना चाहता है। किन्तु 'यह बकवाद कर रहा है, हम समझ सकें इस तरह कहता नहीं इस प्रकार जो वक्ताका दोष निकाला करे वह पात्र नहीं है, सत्य समझनेके योग्य नहीं है। यहाँ टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, उसमें आलस्य नहीं है, किन्तु क्या कहता है यह समझनेका आदर है। मुझे 'आत्मा' कहनेमें उसकी भूल है, यह न मानकर मुझे समझमें नहीं आता यह मेरा दोष है, ऐसा मानना चाहिये। जिसे निजको समझनेकी रुचि नहीं है वह "इसे समझाना

देखादेखीसे हर्ष करता है वह भी बालक ही जैसा ही है। तत्त्वज्ञानका विरोध करनेवाला उसके अपने भावका ही विरोध करता है।

यहाँ तो ऐसे योग्य जीव लिये हैं कि जो आत्माकी बात अपूर्व उमंगसे सुनें और समझकर तुरंत ही आनन्द प्राप्त करें, जो विलम्ब करते हैं उन्हें यहाँ नहीं लिया है।

आचार्य ऐसा कहते हैं कि सुननेवालेको उसी समय स्वतंत्रसुखका भान हो। दर्शन-ज्ञान-चारित्रको जो नित्य प्राप्त है ऐसे आत्माको उसमें प्राप्तकी प्राप्ति है, बाहरसे कुछ प्राप्त नहीं करना है।

सांसारिक बातोंमें कैसा खुश होता है! जब पांच लाखकी लोटरी लग जाती है तब वह ऐसी सुहाती है कि उसीकी महिमा गाया करता है और कहता है कि आज मिष्टान्न उड़ने दो। इसप्रकार बाह्यमें अपने हर्षको व्यक्त किया करता है। लड़का मेट्रिककी परीक्षामें पास हो जाय तो उसमें हर्ष करता है, किंतु यह तो दुनियामें परिभ्रमण करनेकी बातका हर्ष है जो कि नाशवान-क्षणिक है।

आत्माकी अचित्य महिमा सुनकर उसके बहुमानसे उछल पड़े और कहे कि अहो! अनन्त ज्ञानानन्दरूपी रिद्धि मेरे पास ही है, उसमें किसी संयोग, किसी क्षेत्र, किसी काल अथवा विकारकी कोई उपाधि नहीं है। 'मैं पूर्ण अखण्ड अविनाशी हूं, ऐसा सुना और उसका ज्ञान किया कि तुरन्त ही अत्यन्त आनन्दसे उसका हृदयकमल खिल जाता है। आचार्य महाराज तत्काल मोक्ष हो ऐसी अनोखी बात कहते हैं कि जिसे सुनते ही पात्र जीवके तुरन्त ही सम्यग्दर्शन हो जाता है, अपूर्व देशनालब्धिको प्राप्त करनेके बाद बीचमें कोई अन्तर नहीं रह जाता, समझनेके लिये तैयार होकर आया और समझाने पर न समझे ऐसी बात यहाँ नहीं है।

जैसे शुभ्र मधुर समुद्रकी तरंगे उछलती हैं और ज्वार-भाटा आ जाता है, इसीप्रकार पहले कुछ नहीं समझता था और उसे समझा कि तत्क्षण ही निर्मल सम्यग्ज्ञानज्योतिका आनन्द प्रगट होकर वृद्धि

त्रिकाल रहनेवाला अखण्ड गुण जो सामान्यस्वभाव है सो परमार्थ है। भेददृष्टि गौण करने पर भी अभेद समझाने पर बीचमें यह व्यवहार आता ही है, क्योंकि इस भेदके द्वारा समझे बिना अभेद समझमें नहीं आता।

भेदके लक्ष्यसे निर्मलता अथवा सम्यग्दर्शन नहीं होता। भेदके लक्ष्यसे (मोक्षमार्गकी पर्यायके लक्ष्यसे) मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता और मोक्षमार्गके लक्ष्यसे मोक्ष प्रगट नहीं होता। क्योंकि वह हीन अवस्था है और हीन अवस्थाके द्वारा पूर्ण अवस्था (मोक्ष) प्रगट नहीं होती।

अवस्था क्षणिक होती है, एक समयमें एक अवस्था प्रगट होती है; जब हीनता होती है तब पूर्ण अवस्था नहीं होती। अधूरी पर्याय कारण और पूर्ण पर्याय कार्य यह परमार्थसे नहीं होता। आत्मा निर्मल अखण्ड परिपूर्ण है, उस पूर्णताके बलसे पूर्ण मोक्षदशा प्रगट होती है। वर्तमानमें भी प्रत्येक समय द्रव्यमें अनन्त अपार सामर्थ्य विद्यमान है, त्रिकाली अखण्ड आत्मा अनन्त गुण प्राप्त है ही। उसमें "प्राप्त करूँ" यह भेद नहीं है, और श्रद्धाके विषयमें भेद नहीं है।

इस जीवने अनादिसे भेदके ऊपर लक्ष्य किया है, भेददृष्टिका अर्थ है व्यवहारका अवलम्बन। उससे शुभ विकल्प होता है किन्तु अभेद निर्मलका लक्ष्य नहीं होता। परमार्थ स्वरूपको जानकर भेदको गौण करके अखण्ड वस्तुकी महिमा करनेसे, अखण्ड निर्मलके लक्ष्यसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

'जो पीला है वह सोना है' यह कहा जाता है, किन्तु मात्र पीला ही सोना नहीं है, लेकिन पीले गुणका भेद करके उस पीलाशके द्वारा बताया हुआ जो पूर्ण सोना है, वही सोना है, ऐसा खयालमें आता है। इसीप्रकार अखण्ड परमार्थ स्वरूप आत्माको पहचाननेके लिये-भेद करके कहना पड़ता है। उस भेदका लक्ष्य छोड़कर अभेद निर्मल पर जो जीव लक्ष्य करता है उसे व्यवहार निमित्तरूपसे कहा

जाता है। निश्चयसे मोक्षमार्गसे मोक्ष नहीं होता, अखण्डके आश्रयसे मोक्षमार्ग और मोक्ष होता है, यह मोक्षमार्ग और मोक्ष भी व्यवहार है। मोक्षका अर्थ है पूर्ण अवस्था, उसका कारण मोक्षमार्गकी हीन अवस्था नहीं है किन्तु उस पूर्ण पर्यायको प्रगट करनेका कारण अखण्ड द्रव्य ही है।

भेदका आश्रय तो अज्ञानीके अनादिसे था और वह भेदको ही जानता था, उसे इसप्रकार भेदके द्वारा अभेदत्व समझाया; इतना व्यवहार बीचमें आता है, किन्तु 'ब्राह्मणको म्लेच्छ नहीं होना चाहिये' अर्थात् व्यवहारसे समझनेके लिये भेद किया है, किन्तु भेद ही वस्तु है, ऐसा नहीं समझना चाहिये और समझाने वालेको भी विकल्पके भेदमें नहीं पड़ा रहना चाहिये।

पूर्ण त्रिकाली स्वभावमें कुछ अन्तर नहीं पड़ा किन्तु अपनी मानी हुई विपरीतदृष्टिसे अन्तर दिखाई देता है, यदि सत् समागमके द्वारा विपरीतदृष्टिको बदल डाले तो स्वयं त्रिकाल सर्वज्ञस्वरूप है। उसकी निर्मल अवस्थाको प्रगट करनेका मार्ग अपूर्व है यदि उसे समझना चाहे तो मुश्किल नहीं है। जिसे अपना हित करनेकी इच्छा है वह कठिन-कठिन नहीं पुकारता, जिसे समझनेकी रुचि है उसे सत्य समझानेवाले मिले बिना नहीं रहते, जो अपनेमें तैयारी और सामर्थ्यको नहीं देखता वह निमित्तको याद करता है, वास्तवमें तो निमित्त उपस्थित होता ही है। निमित्तकी प्रतीक्षा करनी पड़े ऐसी कुछ परतन्त्रता नहीं है। जो अंकुर बीजमेंसे बढ़नेके लिये प्रस्फुटित हुये हैं तो वहाँ वर्षा हुये बिना नहीं रह सकती, उगनेकी शक्ति उसमें थी वही प्रगट हुई है, वह पानीसे नहीं आई। यदि पानीके द्वारा उगनेकी शक्ति आती हो तो अकेला पत्थर भी उसके ऊपर पानी पड़नेसे उगना चाहिये किंतु वैसा नहीं होता। इसप्रकार सच्ची जिज्ञासाके अंकूर फूटें (पात्रता हो) और पूर्ण सत्यकी दृष्टिके समझनेकी तैयारी हो तो उसे समझानेवाला मिले बिना नहीं रहता। बाह्य संयोग, पुण्यके आधीन हैं। पुरुषार्थ करनेमें परकी प्रतीक्षा नहीं की जाती, परकी अपेक्षासे रहित अपनी

सामग्रीकी तैयारी देखी जाती है।

अखण्ड निर्मल दृष्टि होनेके पहले, विकल्पका व्यवहार नहीं छूटता। अभेददृष्टि होते व्यवहार छूट जाता है। पहले परसे पृथक् आत्माको जानना चाहिये, फिर क्षणिक विकारकी ओर नहीं देखना चाहिये, निर्मल पर्यायके विचारमें नहीं रुकना चाहिये, अभेददृष्टिके लिये भी गुणके भेद पर लक्ष्य नहीं करना चाहिये, भेदको गौण करके अखण्ड पर दृष्टि करनी चाहिये यह सब पहले समझना होगा।

भावार्थः—लोग शुद्धनयको नहीं जानते क्योंकि शुद्धनयका विषय अभेद-एकरूप वस्तु है। एकरूप निर्मल पूर्ण स्वभावको देखने पर वर्तमान अवस्थाका विकार गौण हो जाता है। संयोग, विकार और गुणके भेदके लक्ष्यको गौण करके अखण्ड पूर्ण वस्तुको लक्ष्यमें लेनेकी शुद्ध दृष्टिको अज्ञानी जन नहीं जानते, वे तो भेदके द्वारा भेद-विकारको ही जानते हैं। वे मानते हैं कि जो बोलता है, चलता है सो आत्मा है, जो राग करता है सो आत्मा है, इसके अतिरिक्त अन्य अरूपी आत्मा कैसा होगा यह वह नहीं जानते।

देहादि परकी क्रिया कोई आत्मा कर नहीं सकता, किन्तु अज्ञानभावसे जीव राग-द्वेषका कर्ता होता है, फिर भी राग-द्वेष नित्य स्वभावरूप नहीं है। अज्ञान और राग-द्वेष क्षणिक अवस्थामात्रके लिये होनेसे अविनाशी आत्माके स्वभावके लक्ष्यसे दूर होने योग्य हैं।

लोग अशुद्धनयको ही जानते हैं क्योंकि उसका विषय भेद-रूप अनेक प्रकार है, इसलिये वे व्यवहार द्वारा ही परमार्थको समझ सकते हैं, इसलिये व्यवहारको परमार्थका कथन करनेवाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि व्यवहारका अवलम्बन कराते हैं। लोग यह मानते हैं कि यदि व्यवहारकी प्रवृत्ति अर्थात् बाह्यमें कुछ क्रिया करें तो धर्म हो किंतु यह बात गलत है। जब समझनेवाला स्वका अभेद लक्ष्य करके

समझे तब भेदरूप व्यवहारको परमार्थके समझनेमें निमित्त कहा जाता है।

समझानेके लिये जो भेद किया सो व्यवहार है, वह कहीं परमार्थका सच्चा कारण नहीं है, क्योंकि भेद-अभेदका कारण नहीं होता, खण्डदृष्टि अखण्डका कारण नहीं होता, भेददृष्टिका विषय राग है और राग विकार है, तथा विकारके द्वारा अविकारी नहीं हुआ जा सकता।

जहाँ परमार्थके समझनेकी तैयारी होती है वहाँ व्यवहार होता है अर्थात् अखण्ड निर्मल परमार्थको समझानेमें वह बीचमें आता है, इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि व्यवहार आदरणीय है। यहाँ तो यह समझना चाहिये कि व्यवहारका आलम्बन छुड़ाकर परमार्थमें पहुँचाना है।

छठवीं गाथामें कहा है कि सिर्फ अकेला ज्ञायक आत्मा है, उसमें सम्यग्दर्शन-मिथ्यादर्शन, विरत-अविरत, प्रमत्त-अप्रमत्त, सकषाय-अकषाय, बन्ध-मोक्ष ऐसे पर्यायके भेद नहीं हैं। छद्मस्थके निर्मल पर्याय पर दृष्टि जाने पर अशुद्धता (विकल्प) आती है। पर्यायके (भेदके) लक्ष्यसे अशुद्धता दूर नहीं होती।

पर्यायके भेद पर लक्ष करना सो अभूतार्थ है, उसके लक्ष्यसे विकल्प उत्पन्न होता है। और स्वभाव एकरूप, अखण्ड, निर्मल, ध्रुव है। उसके (स्वभावके) लक्ष्यसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी निर्मल पर्याय प्रगट होती है। उस निर्मल पर्याय पर लक्ष्य करनेसे अशुद्धता-राग होता है इसलिये निर्मल अवस्था पर भी अशुद्धताका आरोप कर दिया है।

सातवीं गाथामें अखण्डस्वभावकी दृष्टिका एकरूप विषय अखण्ड ज्ञायक पूर्णरूप आत्मा बताया है, उसमें गुण भेदको व्यवहार-अभूतार्थ कहा है। वस्तुस्वरूप तो अनन्तगुण मय अखण्ड है, पृथक् तीन गुणरूप नहीं है। आत्मा एक गुण जितना नहीं है, विकारके भेदसे रहित एक-रूप विषय करना सो ज्ञायक ही है।

विना नहीं रहता, इस अपेक्षासे 'जो सर्वश्रुतज्ञानको जानता है वह श्रुतकेवली है,' ऐसा जो व्यवहार है वह परमार्थमें स्थिर होनेसे बीचमें अपनेको दृढ़रूपसे स्थापित करता है। परमार्थका प्रतिपादन सविकल्पसे होता है इसलिये दृढ़रूपसे व्यवहार आये विना नहीं रहता। सर्वज्ञके न्यायके अनुसार नय–प्रमाण और निक्षेपके द्वारा नव तत्त्व तथा द्रव्य–गुण–पर्यायका स्वरूप जानकर, परमार्थरूप अखण्डको ध्यानमें लेकर उसकी ओर एकाग्र पकड़ होनी चाहिये; जैसा है वैसा जाने विना पूर्ण आत्मा लक्षमें नहीं आता, इसलिये आत्माको परमार्थ स्वरूपसे जैसा है वैसा कहनेवाला सर्वश्रुतरूप व्यवहार दृढ़रूपमें आता है।

श्रुतरूप चौदहपूर्वका ज्ञान भी मात्र आत्मानुभव करनेके लिये है। जिस कार्यके लिये श्रुतकेवलीका ज्ञान काम करता है। वही कार्य अपूर्ण श्रवज्ञान करता है इसलिए वह सर्वश्रुत है। आत्माको प्राप्त करनेके लिये नव तत्त्वका यथार्थ स्वरूप थोड़ा या बहुत चाहे जो विचार हो तो भी उसे व्यवहारसे सर्वश्रुत कहा जाता है।

अहो! श्री अमृतचन्द्राचार्यने इस समयसार शास्त्रकी अद्भुत टीका करके यथार्थ वस्तुस्वरूप बतलाया है। अद्भुत अमृत प्रवाहित किया है और इस समयसारजीमें महामोक्षको अवतरित कर दिया है।

यह ऐसा अपूर्व विषय है जिसे अनन्तकालसे नहीं सुना है। जैसे किसीके इकलौते पुत्रका विवाह हो रहा हो तब उसमें यदि पच्चीस हजार रुपये खर्च करना हो तो वह कितना हर्ष करता है, उस हर्षमें विभोर हो जाता है। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा परसे भिन्न, निर्मल, त्रिकाली, अखण्ड, ज्ञायकस्वरूप है उसे सर्वज्ञ भगवानने जैसा कहा है वैसा यदि सुननेको मिले तो योग्य जीवके हर्षका पार नहीं रहता, समझनेमें विरोध नहीं आता; किन्तु जिसे अनादिसे अन्यथा मान रखा है, और उसका दृढ़ आग्रह होता है, वह सत्यको नहीं सुनना चाहता। तत्त्वज्ञानका विरोध करनेवाला जीव अनन्तकालसे लट,

करनेवाला भीतरसे निश्चय करके परमें कल्पना करता है। ऊपरकी दृष्टिसे मानता है कि मैंने इतने जीवकी दया पाली, [illegible] पढ़ा, पूजन की, दान किया, उठ-बैठ करके वंदना की, [illegible] अनेक नानाक्रियासे गुण हुआ मानता है; किन्तु भीतर आत्मा अक्रिय अनन्तगुणका पिण्ड है, उसमें अन्तर्मुख अभेददृष्टि करके आत्माको कभी भी नहीं देखा।

प्रश्नः — क्या नहीं करनेसे धर्म होता है? क्रिया तो होनी चाहिये। यदि आत्मा वर्तमानमें पवित्र हो तो फिर कुछ [illegible] [illegible] हो।

श्रुतज्ञानसे वह सिर्फ शुद्ध आत्माको ही जानता है वह श्रुतकेवली है, वही परमार्थ है। केवलज्ञान होनेसे पहले आत्माके स्वभावभावका ज्ञाता होनेसे श्रुतकेवली है।

भीतर अभेदस्वरूपके लक्षसे गुणके द्वारा गुणीको जानकर उसमें एकाग्र हुआ है इसलिये यह परमार्थ श्रुतकेवली है।

जैसे 'मिश्री' शब्दका ज्ञान मतिज्ञान है। फिर जब यह जाना कि मिश्री पदार्थ ऐसा है सो वह श्रुतज्ञान है इसीप्रकार 'आत्मा' शब्दका जो ज्ञान है सो मतिज्ञान है और 'आत्मा' अखण्ड, निर्मल, एकरूप, ज्ञायक वस्तु है ऐसा जो ध्यान किया सो श्रुतज्ञान है उसमें बाहरका कोई साधन नहीं है, अकेले ज्ञानने ही उसमें कार्य किया है। जैसे मिश्रीका स्वाद लेते समय दूसरेके स्वादका लक्ष नहीं है, उसीप्रकार मनके संयोगके बुद्धिपूर्वकके विकल्पसे जरा छूटकर एकरूप आत्माको जब अन्तर लक्षमें लिया और स्थिर हुआ तब अन्तरंगमें निराकुल शांति होती है, यह उस समयकी 'परमार्थ श्रुत' की बात है।

जैसे श्रुतसे मिश्री पदार्थको जाना था, (मिश्री पृथक् वस्तु है, उसीप्रकार स्वोन्मुखताके द्वारा भावश्रुतमें अखण्ड वस्तुको ख्यालमें लेने पर 'आत्मा ऐसा ही है' ऐसे अभेदके लक्षसे जब स्थिर होता है तब अखण्ड आनन्द आता है, ऐसी अवस्था चतुर्थ गुणस्थानमें भी होती है।

यदि कोई कहे कि यह बात केवलज्ञानकी-तेरहवें गुणस्थानकी है तो उसका कहना ठीक नहीं है। समयसारमें यह सम्यग्दर्शनकी ही बात कही है; इसमें परमार्थसे जो स्थिर हुआ उसके भावश्रुत उपयोग निम्न अवस्थामें है, तथापि पूर्णके कारणरूप है इसलिये परमार्थसे श्रुतकेवली है।

अरे भाई! अनन्तकालकी महामूल्य जो यह बात कही जा रही है उसे समझनेका उत्साह होना चाहिये। जैसे उन्मत्त सांड घूरेको बखेरकर उसकी धूल, राख, मिग आदि फूहा अपने ही मस्तक पर

[illegible] निषेध न करे, और [illegible] कि ज्ञानी क्या करता है, [illegible] तो पुण्य-[illegible] होता है [illegible] पुण्यके [illegible] हो जाते हैं। तथापि मानने [illegible] जाता है, [illegible] पुण्यसे [illegible] माननेका योग मिले, किन्तु [illegible] निर्णय न करे तो व्यर्थ है।

पुण्यसे धर्म होता है, अथवा अन्तरंग गुणमें वह सहायक होता है, इस मान्यताका निषेध अवश्य होता ही है! पुण्यभाव विकार है, उसे धर्म माननेका निषेध त्रिकालके ज्ञानियोंने किया है। पुण्य विकार है, उससे अविकारी आत्मधर्म नहीं हो सकता, इसलिये पुण्यका निषेध किया गया है, किन्तु उसका यह आशय नहीं है कि पुण्यको छोड़कर पाप किया जाय। अज्ञानीके भी अशुभसे बचनेके लिये शुभ भाव होता है, किन्तु यदि कोई यह माने कि उससे धर्म होगा और इसलिये शुभ-भाव करे तो उससे अविकारी आत्माको कदापि लाभ नहीं हो सकता।

ऐसा उपदेश सुननेकी कभी भी आन्तरिक इच्छा नहीं हुई, अं दुनियाँमें पुण्य-पाप करनेकी बातें सुनता रहा, ऐसी स्थितिमें ज्यों-त्यों कर यहाँ धर्म श्रवण करने आया तब उसे यहाँकी बातें अतिसूक्ष्म लग हैं, इसलिये पहलेसे ही ऐसी धारणा बाँध लेता है कि यह तत्त्वच अपनी समझमें नहीं आ सकती। तथापि वह लौकिककलामें तो किंचि मात्र भी अजान नहीं रहता।

लोक-व्यवहारमें भले ही देशकालानुसार कायदे-कानून बद जाते हैं, किन्तु यह तो परमार्थकी बात है, साक्षात् सर्वज्ञसे समाग बात है, उसके कायदे-कानून तीन लोक और तीन कालमें नहीं फि सकते।

अमूल्य तत्त्व बतलाकर, अनन्त कालमें दुर्लभ वस्तुको कहक और आत्माकी महिमा बतलाकर अभ्यास करनेको कहा है। उसकी

पहिचानकी महिमाका वर्णन करके उसमें स्थिर होनेकी बात कही जा रही है। यदि सच पूछा जाय तो स्वभावमें यह मँहगा नहीं है।

जैसे स्वप्नके समय यह नहीं कहा जा सकता कि यह स्वप्न है; और जब कहा जाता है तब स्वप्न नहीं होता, इस प्रकार अभेदके अनुभवके समय विकल्पसे नहीं कहा जा सकता, और जब विकल्प होता है तब केवल परमार्थका अनुभव नहीं होता। परमार्थका लक्ष तो अखण्डके लक्षसे ही होता है। यद्यपि बीचमें भेद-विचार होता है किन्तु उस भेदसे अभेदका लक्ष नहीं होता। अभेदके लक्षसे भेदका अभाव करने पर अभेद परमार्थ हस्तगत होता है। भेदसे अभेद पकड़ा जा सकता है, यह तो मात्र उपचारसे कहा है।

गुणकी निर्मल अवस्थाके भेद मात्र व्यवहारनयका विषय होनेसे अभूतार्थ हैं। भेदरूप व्यवहार परमार्थमें सहायक नहीं होता। परमार्थका लक्ष करके जब उसमें स्थिर होता है तब व्यवहार छूटता है। पश्चात् अन्तरंगमें जितना स्थिरताका झुकाव रहता है, उतना भेद क्रमशः दूर होता जाता है।

भावार्थः—जो विकल्पको मिटाकर भावश्रुत ज्ञानके द्वारा अभेद-रूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय) कथन है। जो सर्वश्रुतरूप ज्ञानको जानता है, अभेद आत्माको जाननेके विचारमें प्रवर्तमान रहता है वह सब ज्ञान भी आत्मोन्मुख होनेसे आत्माको ही जानता है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसलिए ज्ञान-ज्ञानीके भेदको कहनेवाला जो व्यवहार है उसे भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा।

परमार्थका विषय तो कथंचित् वचनगोचर भी नहीं है। परमार्थके कहनेमें व्यवहार निमित्त होता है, इसलिये अभेदका लक्ष करने वालेके व्यवहारनय ही प्रगटरूपसे आत्माको समझनेके लिये निमित्त है।

ग्यारहवीं गाथाकी भूमिका

यह ग्यारहवीं गाथा अद्भुत है। अनन्तकालसे परिभ्रमण करने

करनेवाला भले ही आत्माका विश्वास न करे किन्तु वह अप्रगटरूप पूर्व कर्मका अस्तित्व स्वीकार करता है और इस प्रकार उसमें अप्रगटरूपमें यह भी स्वीकार हो जाता है कि आत्माका अस्तित्व भी पहले था।

पहले कोई पापके भाव किये हों तो प्रतिकूलता होती है, यद्यपि अभी कोई प्रतिकूलता न तो देखी है और न आई है तथापि उसका विश्वास करता है। जड़ कर्मोंको कुछ खबर नहीं है कि हम कौन हैं और हमारा कैसा फल आयेगा, किन्तु अज्ञानी जीव आत्माको भूलकर परमें अपनी अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता मान बैठा है। आत्मा ध्रुव है, स्वतन्त्र तत्त्व है, पर-संयोगाधीन नहीं है, उसे किसी संयोगकी आवश्यक्ता नहीं होती, चाहे जब स्वभावका विश्वास करना हो तो कर सकता है, उसे कोई कर्म बाधक नहीं होते। जो पहले विश्वास करता था वह अपने गुणको समझनेके बाद अपने निज स्वभावका विश्वास करता है।

। जाता है कि जो दर्शन, ज्ञान और चारित्रको नित्य-प्राप्त है वह त्मा है। यद्यपि इस प्रकार मुख्य तीन गुणोंसे भेद करके समझाया ता है, किन्तु परमार्थतः वस्तुमें भेद नहीं है।

यह कहना कि आत्मा, शरीर, मन, वाणीकी प्रवृत्ति करता है, सो व्यवहार भी नहीं है और मात्र शुभराग भी सद्भूत व्यवहार नहीं । आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दमय परमार्थस्वरूप, निर्विकल्प, अभेद है, ने गुणके नामोंसे भेद करके समझना सो व्यवहार है।

'मैं ज्ञायक हूँ, निर्मल हूँ' ऐसे विचारमें मनके सम्बन्धका शुभराग आता है, वह शुभराग आदरणीय नहीं है किन्तु अखण्ड वीतरागी रूप ज्ञायक वस्तु जो अपना आत्मा है वही परमार्थ वस्तु आदरणीय । उस परमार्थरूप अभेद स्वरूपका अनुभव करते समय व्यवहारके कल्प छूट जाते हैं।

चाहे जैसे उग्र-पुरुषार्थके साथ अभेद आत्मामें स्थिर होने जाय ो भी अन्तर्मुहूर्त मात्रके लिये बीचमें छद्मस्थके व्यवहार आए विना हीं रहता।

शरीरके द्वारा लेना-देना और खाना-पीना इत्यादि शरीरकी सभी वृत्तियाँ शरीरके ही परमाणु करते हैं। जड़की शक्ति जड़से प्रवृत्त ोती है, तथापि जो ऐसा अज्ञानभाव करता है कि 'मैं करा दूँ' वह मेथ्यादृष्टि है, यही मिथ्यादृष्टि संसारकी जड़ है। जीव व्यवहारसे ी किसी परवस्तुके किसी कार्यका कर्ता नहीं है तथापि अज्ञानी कर्तृत्व ानता है। जड़-देहादि किसी भी वस्तुमें आत्माका व्यवहार नहीं हो तकता।

प्रश्नः—तब फिर भगवानके द्वारा कहा गया व्यवहार कौनसा है?

उत्तरः—आत्मा अनन्त गुणका अखण्ड पिंड, त्रिकाल स्थिर, ध्रुवस्वरूप है, उसे सत्समागमके द्वारा ठीक जाननेके बाद अभेद दृष्टि करके उसमें स्थिर होते समय बीचमें जो विकल्पसहित ज्ञानका विचार आता है सो व्यवहार है। अभेदमें स्थित होते समय वह भेदरूप

व्यवहार बीचमें आता तो है; किन्तु वह भेद, अभेदका कारण नहीं है। अभेदका लक्ष ही अभेद स्थिरताको लाता है, तब उस व्यवहारको निमित्त कहा जाता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—

पहले यह कहा था कि व्यवहारको अंगीकार नहीं करना चाहिये किन्तु यदि वह परमार्थके समझानेमें तथा स्थिर करनेमें निमित्त सिद्ध होता है तो ऐसे व्यवहारको क्यों न अंगीकार किया जाय? परसे भिन्नरूप एक अखण्ड वस्तुमें लक्ष करना और मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, ऐसे भेद करना सो व्यवहार है। ऐसा भेदरूप व्यवहार उस अभेदरूप परमार्थमें निमित्त कैसे होता है?

उत्तरः—पहलेसे ही भेदको हेय जानकर अखण्ड तत्त्वको दृष्टिमें लिया जाय तो बीचमें समागत व्यवहार निमित्त होता है। शुभ विचार निमित्तरूपसे पहले उपस्थित होता है किन्तु उसके अवलम्बनसे कार्य नहीं होता। अवलम्बनसे दूर हटता है, (व्यवहारका अवलम्बन छोड़ता है) तब अभेदके लक्षसे परमार्थको प्राप्त होता है। जैसे कोई वृक्षकी ऊँची डालीको पकड़ना चाहता हो, तो वह डाली नीचेके आधारको छोड़कर कूदने पर ही पकड़ी जा सकती है, वहाँ पर आधारकी उपस्थितिको निमित्त कहा जाता है। किन्तु यदि आधार पर ही चिपका रहे और कूदे नहीं तो डाली नहीं पकड़ी जा सकती और उस आधारको निमित्त भी नहीं कहा जाता। इस प्रकार आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, वह भेद किये बिना ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिये सर्वप्रथम यदि अखण्ड वस्तुको समझना चाहे तो प्रत्येक गुणका विचार आता है, सो व्यवहार है।

लोग कहते हैं कि 'समयसारमें व्यवहारको उड़ा दिया है' किन्तु वह किस अपेक्षासे? व्यवहार असत्यार्थ है उसे भूतार्थको जानने वाले ही समझ सकते हैं, यही बात यहाँ कही जा रही है यह बात ऐसी अपूर्व है कि जीव अनन्तकालमें भी नहीं समझ पाता यदि आन्तरिक तयारीके साथ एकबार समझले तो मोक्ष हुए बिना न

रहे, परमार्थको जानते हुए वीचमें जो ज्ञानादिके भेद होते हैं सो व्यवहार है। लोगोंने वाह्यक्रियामें व्यवहार मान रखा है किन्तु वह सव धर्मसे भिन्न है। यदि अन्तरंगके अपूर्व धर्मको धीरज धरके समझना चाहे तो समझा जा सकता है। वर्तमानमें तो सर्वज्ञ भगवानका आशय लगभग भुला ही दिया गया है, पक्षापक्षीके कारण जिनशासन छिन्न-भिन्न हो रहा है, परम सत्य क्या है, यह सुनना दुर्लभ हो गया है, इस सवका कारण अपनी पात्रताकी कमी है और इसलिये लोग परमार्थमें वीचमें आने वाले व्यवहारको नहीं समझते और विरोध करते हैं। गुणमें विचारके द्वारा भेद करके अखण्डको समझना सो व्यवहार है, दूसरा कोई व्यवहार नहीं है, यही बात आचार्यदेव यहां पर कहते हैं। वह व्यवहार भी अभूतार्थ है यह वात ग्यारहवीं गाथामें कहेंगे।

संसारमें जो वात अपनेको अनुकूल पड़ जाती है उसकी महिमा सव गाते हैं। पिताजी सव हरा भरा छोड़कर गये हैं, हमें सव चिंताओंसे मुक्त करके गये हैं; यों मानकर दुनियाँ अपनी अनुकूलताकी प्रशंसा करती है, किन्तु उसमें आत्माका किंचित्मात्र भी हित नहीं है। मरने वाला तो अपनी ममताको साथ लेकर गया है। संसारमें जिस वस्तुके प्रति प्रीति होती है उसमें वुराई दिखाई नहीं देती। जिसमें प्रीति होती है उसका विश्वास करता है। छोटा वच्चा अच्छा दिखाई देता है तो प्रशंसा की जाती है कि लड़का वहुत होशियार है, यह कुटुम्वका दारिद्र्य दूर कर देगा। यह सव प्रीतिके वश कहा जाता है, किन्तु रागके वशीभूत होकर यह कभी नहीं सोचता कि यह भविष्यमें यदि हमारी सेवा नहीं करेगा और लकड़ी लेकर मारने दौड़ेगा तो क्या होगा? संसारकी जो संयोगी (अनित्य) वस्तु है उसका विश्वास करता है, उसे पलटकर अन्तरंगमें एकवार श्रद्धा कर कि तुझमें सभी गुण पूर्ण शक्तिके साथ भरे हुये हैं। मैं तो ज्ञाता-साक्षी ही हूँ। राग-द्वेप, ममताके रूपमें नहीं हूँ, ऐसी अन्तरंगमें श्रद्धा करके वास्तविक पूर्ण तत्त्वको यथार्थ जाने तो वर्तमानमें ही निश्चय हो जाता है कि अव संसारमें परिभ्रमण नहीं

करना होगा, एक–दो भवमें ही मोक्ष प्राप्त कर लूँगा।

ज्ञान अपना स्वभाव है। यदि पचास-साठ वर्ष पहलेकी बात याद करना हो तो उसे स्मरण करनेके लिये क्रम नहीं बनाना पड़ता। जैसे कपड़ेके सौ–पचास थान एकके ऊपर एक रखे हों और उनमेंसे नीचेका थान निकालना हो तो ऊपरके थान क्रमशः उठाने पर ही नीचेका थान निकलता है, इसीप्रकारका क्रम ज्ञानमें नहीं होता। पचास वर्ष पहलेकी बात याद करनेके लिए बीचके उनचास वर्षोंकी बात याद नहीं करनी पड़ती, क्योंकि ज्ञान सदा जाग्रत ही रहता है। जिस प्रकार कलकी बात याद आती है उसीप्रकार ज्ञानमें पचास वर्ष पूर्वकी बात भी याद आ सकती है। ज्ञानमें काल-भेद नहीं होता। कालसे परे अरूपी, ज्ञानमूर्ति आत्मा है। ज्ञानमें अनन्त शक्ति है इसलिए पचास वर्ष पहलेकी बात भी फौरन याद आ सकती है, उसमें न तो क्रम होता है और न बाह्यावलम्बनकी आवश्यकता होती है, अनन्तकालसे स्वयं ज्ञानस्वरूप ही रहा है, ज्ञान ताजाका ताजा बना रहता है, ज्ञानके लिए किसी भी समय परसंयोग, परक्षेत्र अथवा परकालका आश्रय नहीं लेना पड़ता।

ज्ञान अरूपी है इसलिये वह चाहे जितना बढ़ जाय तो भी उसका वजन मालूम नहीं होता, पचास वर्षमें बहुत पुस्तकें पढ़ डाली इसलिए ज्ञानमें भार नहीं बढ़ जाता। इस प्रकार ज्ञानका वजन नहीं है इसलिए वह अरूपी है।

ज्ञान शुद्ध अविकारी है, ज्ञानमें विकार नहीं है। युवावस्थामें क्रोध, मान, माया, लोभका खूब सेवन किया हो, विकारी भावोंसे परिपूर्ण काले कोयलेके समान जिन्दगी व्यतीत की हो, किन्तु बादमें जब वह अपने ज्ञानमें याद करता है तब ज्ञानके साथ वह विकार नहीं आता; इससे सिद्ध है कि ज्ञान स्वयं शुद्ध अविकारी है। यदि वह विकारी हो तो पूर्व विकारका ज्ञान करते समय वह विकार भी साथमें आना चाहिए अर्थात् ज्ञानके करते समय आत्मा विकारी

हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा स्वयं शुद्ध अवस्थामें रहकर विकारका ज्ञान कर सकता है। अवस्थामें परके अवलम्बनसे क्षणिक विकार होता है, उसे अविकारी स्वभावके ज्ञानसे सर्वथा तोड़ा जा सकता है। जिसका नाश हो जाय वह आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये विकार आत्माका स्वभाव नहीं है।

इस प्रकार ज्ञानमें तीन शक्तियाँ कही गई हैं। १–ज्ञानमें काल–भेद नहीं है, २–ज्ञानका वजन नहीं होता, ३–ज्ञान शुद्ध अविकारी है। ज्ञानका यह स्वरूप समझने योग्य है।

शिष्यका पहलेका प्रश्न है कि—ज्ञानमें भेदरूप व्यवहार आत्माको अखण्डरूपमें समझनेके लिए निमित्त होता है; तब फिर उसे क्यों न अंगीकार करना चाहिये? उसका उत्तर ग्यारहवीं गाथामें कहा है:—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥११॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः॥११॥

अर्थ:—व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ, है, यह ऋषीश्वरोंने बतलाया है। जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है, वह निश्चयसे सम्यग्दृष्टि है।

त्रिलोकीनाथ परमात्माके कथनानुसार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य जगत पर अपार करुणा करके जगतका महान दारिद्र (अज्ञान) दूर करनेके लिये सच्ची श्रद्धा और उसका सर्व प्रथम उपाय बतलाते हैं।

कोई कहता है कि समयसारमें तो सातवें गुणस्थान और उससे ऊपरकी भूमिकावालेके लिए बात कही गई है, किन्तु ऐसी बात नहीं है, इसका स्पष्टीकरण ग्यारहवीं गाथामें किया गया है।

मोक्षमार्गमें सर्व प्रथम क्या आवश्यक है? इसका उत्तर यही है कि सर्वज्ञके न्यायानुसार शुद्ध आत्माकी यथार्थ श्रद्धा सम्यग्दर्शन है–

कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीरकी कोई प्रकृति तथा कोई बाह्यक्रिया आत्माके आधीन नहीं है क्योंकि परवस्तु स्वतंत्र है वह किसीके आधीन नहीं है।

यहाँ सब न्याय पूर्वक कहा गया है। कोई यह नहीं कहता कि बिना समझे ही मान लो, यदि विचार करें तो दो तत्त्व एक-दूसरेसे बिल्कुल भिन्न हैं।

आत्मामें एक-एक समयकी वर्तमान अवस्थामात्रका जो परसंयोगाधीन विकार है वह भी पर है, क्योंकि जब तक आत्मा रहता है तब तक वह नहीं रहता है। इसलिये पुण्य-पाप-विकार होनेके कारण अभूतार्थ हैं। इसीप्रकार आत्माका विचार करते हुए गुण-गुणीके भेदरूप विचार विकल्प और अधूरी अवस्थाके जो भेद हैं वे भी व्यवहारनयका अस्थाई विषय होनेसे अभूतार्थ हैं, और त्रिकाल एकरूप स्थिर रहनेवाली वस्तु जो शुद्ध ज्ञायक आत्मा है वह भूतार्थ है। उसीको ग्रहण करके उसीकी श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है वह मोक्षकी सर्वप्रथम सीढ़ी है, आत्माके मोक्षकी नींवकी ईंट है, ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है।

जैसे मंजिल पर चढ़ते समय बीचमें जो जीनेकी सीढ़ियाँ आती हैं वे छोड़नेके लिए हैं, पैर रखे रहनेके लिए नहीं हैं। यह पहलेसे ही ध्यानमें रहता है कि जो मैं पैर रख रहा हूं वह उठानेके लिए है, इसीप्रकार जो अनादिसे अज्ञानी है, उसे परसे भिन्न अखण्ड परमार्थ-स्वरूप आत्माका स्वरूप समझाते हुए बीचमें जो भेद आता है वह छोड़ देनेके लिये है रखनेके लिए नहीं है। समझनेवालेको अभेद परमार्थकी ओर पहलेसे ही यह लक्ष रखना चाहिये कि अपनेको भी जितने विकल्प हैं उनका आदर नहीं है। जिसकी परमार्थ पर दृष्टि नहीं है वह पुण्यमें अथवा भेदमें ही रुक जाता है। वह त्रिकाल नहीं है, अभूतार्थ है। अभूतार्थ भूतार्थका काम नहीं करता, शुद्धनयका विषय भूतार्थ है इसलिये अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायक निर्मल स्वभावको प्रथम ज्ञानमें ग्रहण करना चाहिये।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब अरूपी आत्मा आंखोंसे दिखाई नहीं देता तब उसे कैसे माना जाय ? समाधानः—स्त्री, धन, पुत्र, प्रतिष्ठा इत्यादिमें जो सुख माना जाता है वह किसमें देखकर माना जाता है ? वह परमें देखकर निश्चय नहीं किया गया है, सुख आंखोंसे दिखाई नहीं देता फिर भी उसे मानते हैं । 'इनमें सुख है, ऐसी कल्पना किसने की ? जिसने निश्चय किया वह निश्चय करनेवाला ही आत्मा है । मुझे अपनी खबर नहीं है, यह किसने जाना । यह जाननेवाला सदा ज्ञातास्वरूप है, अरूपी साक्षीके रूपमें है, किन्तु स्वयं अपनी परवाह नहीं की इसलिये जानता नहीं है । यदि समझनेकी तत्परता हो तो अपना सत्व स्वयं ही है वह अवश्य समझमें आ सकता है ।

ज्ञानी कहते हैं कि कल लड़का बड़ा हो जायगा फिर यह बहुत बड़ा वेतन लायगा, इस प्रकार परके क्षणिक संयोगका आश्रय करता है, उसे छोड़कर भीतर जो पूर्ण सुखस्वभाव है उसमें लक्ष करके स्थिर हो जा, तो सिद्ध परमात्माके गुणोंका अंश प्रगट होकर पूर्णके लक्षसे तू भी परमात्मा बन जायगा ।

परको माननेमें विकारसे पराधीनता आती है । निजको माननेमें विकारकी पराधीनता नहीं है । विकारहीन दृष्टिका विषय त्रिकाल ज्ञायक अखण्ड आत्मा है, वह निर्मल एकरूप ध्रुवस्वभाव ही आदरणीय है, जिसे ऐसी श्रद्धा है वह धर्मी जीव सम्यग्दृष्टि है ।

आज (अषाढ़ वदी एकम) भगवान महावीरस्वामीकी दिव्यध्वनिका प्रथम दिन है । उन्हें वैशाख शुक्ला दसवींको केवलज्ञान प्रगट हुआ था, उस समय इन्द्रोंने समवसरणकी अद्भुत रचना की थी, उसे धर्मसभा कहते हैं । वहाँ (समवसरणमें) एक ही साथ अनेक देव-देवियाँ, मनुष्य, तिर्यंच धर्म सुननेको आते हैं—ऐसी धर्मसभाकी रचना तो हो गई, किन्तु (केवलज्ञान होनेके बाद) छयासठ दिन तक भगवानके मुखसे वाणी नहीं खिरी । भगवानकी दिव्यध्वनि

विना इच्छा खिरती है; होठ बंद रहते हैं, सर्वांगसे ओंकारस्वरूप एकाक्षरी वाणी निकलती है, उसे सुननेवाले अपनी-अपनी भाषामें अपनी योग्यतानुसार समझ लेते हैं। तीर्थङ्कर भगवानके तेरहवें गुणस्थानमें दिव्यध्वनिका सहज योग होता है। उन्हें ऐसा अखण्ड ज्ञान होता है कि वे तीन काल और तीन लोकके सर्व पदार्थोंको एक ही साथ एक ही समयमें जानते रहते हैं।

'मैं पूर्ण होऊँ और दूसरे धर्मको प्राप्त करें' ऐसे अखंड गुणके बहुमानकी भूमिकामें (शुभरागमें) तीर्थङ्कर नामकर्मका बन्ध होता है। तीर्थङ्कर होनेके पूर्व तीसरे भवमें उस कर्मका बन्ध होता है।

भगवान महावीरको केवलज्ञान प्रगट हो गया था, फिर भी छयासठ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी; इसका कारण यह था कि उस समय सभामें भगवानकी वाणीको झेल सकनेवाला कोई महान पात्र उपस्थित नहीं था। धर्मसभामें उपस्थित इन्द्रने विचार किया तो मालूम हुआ कि भगवानकी वाणीको झेलनेके लिए समर्थ सर्वोत्कृष्ट पात्र जीव इस सभामें उपस्थित नहीं है, और उनने अपने अवधिज्ञानसे निश्चय किया कि ऐसा पात्र जीव इन्द्रभूति है, इसलिए वे ब्राह्मणका रूप धारण करके इन्द्रभूति (गौतम) के पास गये। उनमें (गौतममें) तीर्थंकर भगवानके मंत्री अर्थात् गणधर होनेकी योग्यता थी, किन्तु उस समय उन्हें यथार्थ प्रतीति नहीं थी। वे हजारों शिष्योंके बीच यज्ञ करते थे, वहाँ पर इन्द्रने ब्राह्मण वेशमें जाकर कहा कि पंचास्तिकाय क्या है? आदि प्रश्न पूछे, उनका उत्तर वे नहीं दे सके तब इन्द्रने कहा कि भगवान महावीरके पास चलो, गौतमने इसे स्वीकार कर लिया, और वे भगवान महावीरके पास जानेके लिये निकल पड़े। मानस्तंभके पास पहुँचते ही उनका मान गलित हो गया, मानस्तंभको पार करके गौतम जहाँ धर्मसभामें प्रविष्ट हुए कि तत्काल ही भगवानकी वाणी खिरने लगी। गौतमको आत्मभान हुआ, निर्ग्रन्थ मुनिपद प्रगट हुआ, और साथ ही मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया और गणधर

विषय है, और आत्माके स्वभावकी ओर लक्ष करके विकल्प–भेदरहित त्रिकाल अखण्ड ज्ञानानन्द आत्माको मानकर उसीमें स्थिर होना सो स्व–विषय है, वह स्व–विषय करनेवाली दृष्टि भूतार्थदृष्टि अर्थात् सच्ची दृष्टि है। अज्ञानभाव और पुण्य–पाप भाव आत्माका स्वभाव नहीं है, यह जानकर श्रद्धामेंसे सर्वप्रथम वे भाव छोड़ने योग्य हैं, इतना ही नहीं किन्तु अंतरंगमें स्थिर होनेके लिए जो शुभ–विकल्प होते हैं, वे भी छोड़ने योग्य हैं। आत्माके अखण्ड–स्वभावमें जो भेद हो जाता है वह भी अभूतार्थ है, मलिनभाव है इसलिये वह आदरणीय नहीं है। आत्माका जो त्रिकाल एकरूप निर्मल ज्ञायकस्वभाव है, वह भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है और इसीलिए वह ग्रहण करने योग्य है।

बन्ध और मोक्ष तो अवस्था-दृष्टिसे हैं, उसमें पर-निमित्तके संयोगके होने न होनेकी अपेक्षा रहती है। उसकी ओर लक्ष करने पर राग हो जाता है। मैं उस विकाररूप नहीं हूँ, किन्तु अनादि, अनंत, ध्रुव, अखण्ड, निर्मल स्वभावरूप हूँ, इस प्रकारकी दृष्टिका होना सो शुद्धनय है, और उसके द्वारा पूर्ण अभेद आत्माकी श्रद्धा होती है। ऐसी दृष्टि गृहस्थदशामें प्रगट की जा सकती है।

पहले व्यवहारकी क्रिया होनी चाहिए, इस प्रकार लोग भेदके चक्करमें धर्म मानकर अटक जाते हैं, इसीलिये अन्तरंगका परमार्थ दूर रह जाता है। आत्मा तो परके कर्तृत्व, भोक्तृत्वसे रहित अरूपी आनन्दघन भगवान है, सदा ज्ञातास्वरूप है, परमें अच्छा-बुरा करनेवाला नहीं है। आत्मामें कौनसा भाव प्रवर्तमान है, यह जानने–देखनेकी खबर नहीं है, इसीलिए बाहरसे निश्चय करता है। मैं धर्म करता हूँ, इस प्रकार धर्मके बहाने अनादिकालसे अभिमान कर रखा है। किन्तु धर्मका अर्थ तो पर–निमित्त रहित आत्माका पूर्ण स्वाधीन स्वभाव है, इस प्रकारका ज्ञान आत्माने अनन्तकालमें कभी नहीं किया। यदि किया होता तो पूर्ण पवित्र स्वभावकी प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। अखण्ड पूर्ण स्वभावका यथार्थ लक्ष करनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

जैसे दूज समस्त चन्द्रका अंश है, वह तीन प्रकार बतलाता है:-

(१) दूज समस्त चन्द्रमाको बतलाती है, (२) दूज दूजको बतलाती है अर्थात् यह बताती है कि कितनी निर्मलता है, (३) यह भी बतलाती है कि कितना आवरण शेष है; इसीप्रकार आत्मप्रतीति होने पर सम्यग्ज्ञानकी कलारूपी दूज (१) समस्त ध्रुवस्वभावको इस प्रकार बतलाती है कि मैं पूर्ण निर्मल परमात्माके बराबर (२) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, श्रद्धाकी शक्ति और स्व-परकी भिन्नताको बतलाती है और (३) यह भी बतलाती है कि आवरण तथा विकारभाव कितना है।

व्यवहारमें भेददृष्टिका आश्रय होनेसे राग उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप संसारमें जन्म-मरण होता है; अखण्ड ज्ञानानन्दकी पूर्ण पवित्र दशास्वरूप मोक्ष उस भेदके अवलम्बनसे प्रगट नहीं होता। व्यवहारके सभी भेद अभूतार्थ हैं, राग तो असद्भूत व्यवहारका विषय है। वर्तमान दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी अपूर्ण पर्याय सद्भूतव्यवहार है। बन्ध-मोक्ष भी पर्याय है, उसका लक्ष करनेसे पुण्य-पापके भेदरूप विकल्प उत्पन्न होते हैं। पूर्ण अखण्डको जानने पर बीचमें शुभ विकल्परूप व्यवहार आए बिना नहीं रहता, किंतु वह शुभराग विकार है। उससे आत्माको कोई लाभ नहीं होता, इसलिए वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। गुण-गुणीके भेद प्रारम्भमें समझनेके लिये आते तो हैं, किन्तु अभेदकी दृष्टिमें वे गौण हो जाते हैं। भेदका लक्ष छोड़कर अभेदका लक्ष न करे और मात्र व्यवहारमें ही रुका रहे तो अखण्ड चिदानन्दके लक्षको लेकर ज्ञान स्थिर नहीं होता।

अनादिकालसे आत्माको नहीं जाना। वहाँ पहले पात्रताके लिए तत्त्वका विचार करनेके योग्य चित्तशुद्धि तो होनी ही चाहिये। आत्माने वैसे शुभभाव तो अनन्तबार किये हैं, किन्तु वे सब पुण्यभाव हैं, आत्मधर्मके भाव नहीं हैं, इसलिए वह त्याज्य हैं। इस प्रकार पहलेसे ही जानना चाहिए।

प्रारम्भमें शुभभाव होते हैं, और ज्ञान होनेके बाद भी

निम्नदशामें शुभभाव रहते हैं, किन्तु वे परसंयोगाधीन क्षणिक भाव हैं, अभूतार्थ हैं, इसलिए आदरणीय नहीं हैं। आत्माका स्वभाव त्रिकाल एकरूप, ज्ञायकरूप रहनेवाला ध्रुव है और वही आदरणीय है।

जैसे अधिक कीचड़के मिलनेसे पानीका एकरूप सहज निर्मल स्वभाव ढँक जाता है, किन्तु नाश नहीं हो जाता। पानी स्वभावसे तो नित्य हलका पथ्य और स्वच्छ ही है, किन्तु कीचड़के संयोगसे वर्तमान अवस्थामें मैला दिखाई देता है। जिसे पानीके निर्मल स्वभावकी खबर नहीं है और जिसे यह श्रद्धा नहीं है कि मैलके संयोगके समय भी पानीमें पूर्ण स्वच्छ स्वभाव विद्यमान है, ऐसे बहुतसे जीव हैं जो पानी और कीचड़की भिन्नताका विश्लेषण नहीं कर सकते और वे मलिन जलका ही अनुभव करते हैं। इसीप्रकार प्रबल कर्मके मिलनेसे आत्माका सहज एक ज्ञायकभाव ढँक गया है, नाश नहीं हो गया। आत्मा स्वभावसे तो परसे भिन्न, ज्ञायक, स्वतंत्र, निर्मल ही है किन्तु कर्मके संयोगसे वह वर्तमान अवस्थामें मलिन प्रतीत होता है। जिन्हें आत्माके सहज निर्मल एक ज्ञायकस्वभावकी खबर नहीं है और जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है कि क्षणिक विकारी अवस्थाके समय भी आत्मामें पूर्ण निर्विकारी स्वभाव विद्यमान रहता है, ऐसे बहुतसे अज्ञानी जीव हैं जो पुण्य–पाप, राग-द्वेष देहादिको अपना स्वरूप मानते हैं। उन्हें परसे भिन्न आत्माका विवेक नहीं होता इसलिये वे परको आत्मस्वरूप मानते हैं।

जैसे एक आदमी बहुतसे आदमियोंके बीचमें खड़ा रहकर भी ऐसी शंका नहीं करता कि यदि मैं सर्वरूप हो गया तो क्या होगा? इसी प्रकार परमाणु अन्ध–अचेतन हैं, तू उनके साथ एकरूप नहीं हो गया। जब तू अपनेको भूलकर अज्ञानसे रागमें लीन हो जाता है तब तुझे जड़के संयोगसे बन्धका आरोप आता है, किन्तु तू उस विकारका नाशक है। जैसे अग्नि सबको जला देती है, उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा सर्व विकारका नाश कर देता है।

कोई कहता है कि 'सौ सौ चूहोंको मारकर बिल्ली तपको

उस मूलरूप विपरीतभावमें अनन्तभाव तैयार ही समझना चाहिये।

जैसे जलको मलिनरूप ही माननेवालेका स्वच्छ-मीठे जलका अनुभव नहीं हो पाता और वह मैला जल ही पीता है, इसीप्रकार आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति परसे भिन्न है, किन्तु वह अपनी स्वाधीनताको भूलकर पुण्य-पाप-विकारको अपनेरूप या हितकर करने योग्य मानता है, और उस मलिनभाव तथा उसके फलस्वरूप भव-भ्रमणकी आकुलताका ही अनुभव करता है।

अकेली वस्तुमें स्वभावसे विकार नहीं होता, किन्तु उसमें यदि निमित्तरूप दूसरी वस्तु हो तो उस निमित्तकी ओर झुकाव करनेसे विकार होता है। आत्माके विकारमें निमित्तरूप दूसरी वस्तु जड़कर्म हैं। उन जड़कर्मोंके सम्बन्धका अपनेमें आरोप करके जीव राग-द्वेष करता है।

जड़कर्म और बाह्य-संयोगी वस्तुके अनेक प्रकार हैं। उस बाह्य-वस्तुके आश्रयसे पूजा, भक्ति, व्रत, तप, दान इत्यादि अनेक प्रकारके शुभभाव तथा हिंसा, चोरी, असत्य इत्यादि अनेक प्रकारके अशुभ भाव होते हैं। यह शुभ और अशुभ दोनों बंधनभाव हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि पुण्यको छोड़कर पाप किया जाय। यहाँ तो यह बात न्याय-पुरःसर जाननेके लिए कही गई है कि पुण्य-पापकी मर्यादा कितनी है। क्योंकि ऐसा माननेवाले और मनवानेवाले बहुतसे लोग हैं कि पुण्यसे धर्म होता है अर्थात् विकारसे-बंधनभावसे आत्माका अविकारी धर्म होता है। यहाँ तो अविरोधरूपसे यह कहता जा रहा है कि जन्म-मरण कैसे दूर हो और स्वाधीन आत्मसाक्षात्कार कैसे हो।

वर्तमान त्रिकालीनाथ तीर्थंकर भगवान श्री सीमंधरस्वामीके पाससे जो [illegible] तत्त्व श्री कुन्दकुन्दाचार्य लाये थे उसकी अद्भुत रचना समयसार [illegible] की गई है, उसी अविरोधी तत्त्वको यहाँ कहा जाता है।

[illegible] आत्मज्ञान कर भाई! जब अपूर्व समझका सुयोग मिला [illegible] नहीं समझेगा तो फिर अनन्तकालमें भी ऐसा उत्तम सुयोग [illegible] दुर्लभ है। जैसे पिता पुत्रको कहता है कि भाई, यह

दो महीने सच्चे मौसमके हैं; इसलिये कमानेके बारेमें सावधानी रख। इसीप्रकार आचार्यदेव संसार पर करुणा करके कहते हैं कि अनन्त भवोंका अल्पकालमें ही नाश करनेका यह अवसर मिला है, इसलिये सावधानी-पूर्वक आत्मस्वरूपको यथार्थ पहचान ले। यदि अब चूक गया तो फिर उत्तम अवसर नहीं मिलेगा।

अशुभभावको दूर करनेके लिये शुभभावके अवलम्बनका निषेध नहीं है किन्तु जीवने आत्माका निर्मल चिदानन्द अखण्डानन्द स्वतंत्रत्व सच्चे गुरुज्ञानसे पहले कभी नहीं सुना था और न माना था, न कभी अनुभव किया था इसलिये यहाँ पर उस अपूर्व तत्त्वकी बात कही जाती है।

बाह्य सुधार करो, व्यवहार सुधारो—ऐसी लौकिक बातें इस जगत्में अनादिकालसे कही जा रही हैं वह अपूर्व नहीं हैं किन्तु यहाँ तो आचार्य-देव कहते हैं कि जो पुण्य–पापके विकारी भावोंको अपना स्वरूप मानता है, उनसे अपना भला मानता है, शुभमें और पुण्यमें उत्साह दिखाता है, उसका आदर करता है, उसे अविकारी भगवान आत्माके प्रति आदर नहीं है, किन्तु अनादर ही है। उसे परमार्थ साक्षीस्वरूप आत्माकी खबर नहीं है, इसलिये परका आश्रय लेकर अभूतार्थ व्यवहारको अपना मानता है, तब भूतार्थदृष्टि–सम्यग्दृष्टि अपनी बुद्धिसे प्रयुक्त शुद्धनयके अनुसार बोध होने मात्रसे स्वभावका अनुभव करता है। यहाँ पर जिसने स्वयं पुरुषार्थ किया उसीको अंतरंग साधन कहा है, देव–गुरु–शास्त्र तो दिशा बतलाकर अलग रह जाते हैं। देव–गुरु–शास्त्र भी परवस्तु हैं उसके आधीन तेरा अन्तरगुण नहीं है।

'हे भगवान! मुझे तार देना' यों कहने वालेने अपनेमें सामर्थ्य नहीं है ऐसा माना अर्थात् अपनेको परमुखापेक्षी माना। परमार्थसे मैं नित्य स्वावलम्बी हूँ, इस प्रकार यथार्थ समझनेके बाद यदि व्यवहारसे भगवानका नाम लेकर कहे कि तू मुझे तार देना तो यह जुदी बात है। किन्तु जो अपनेको शक्तिहीन मानकर 'दीन भयो प्रभु

पद जपे मुक्ति कहाँसे होय ?' मुझमें शक्ति नहीं है तू मुझे तार दे, इस प्रकार बिल्कुल रंक होकर प्रभु-प्रभु ! रटा करे तो मुक्ति कहाँसे होगी ? भगवान् तो वीतराग हैं, उन्हें किसीके प्रति राग नहीं है तथा कोई किसीको तार नहीं सकता । मैं स्वावलम्बी पूर्ण हूँ ऐसे स्वभावकी प्रतीतिसे अज्ञानको दूर करके जिसे स्वयं भगवान होनेकी श्रद्धा नहीं है वह दीनहीन रंक बनकर दूसरेके पाससे मुक्तिकी आशा रखता है । वह भगवानसे कहता है कि हे भगवान ! तू मुझे तार देना, इसका अर्थ यह हुआ कि तू ही मुझे अभी तक चक्करमें डाल रहा है और तूने ही अभीतक मुझे दुःखी किया है । इस प्रकार वह उल्टा भगवानको ही गालियाँ देता है; वह वास्तवमें भगवानकी स्तुति नहीं करता किन्तु उसे रागी मानकर उनकी अस्तुति करता है अर्थात् वह रागकी ही पूजा और रागकी ही भक्ति करता है ।

वह कहता है कि 'हे भगवान ! तू भूल दूर कर, मुझे तार दे, तू मुझे मुक्ति दे' इसका अर्थ यह हुआ कि मैंने तो भूल की ही नहीं, मुझे राग-द्वेष दूर नहीं करना है; तू मुझे तार दे या तू मुझे मुक्ति दे दे, इस प्रकारके भाव उसमें अप्रगटरूपसे आ जाते हैं । भगवान किसीको तार दें अथवा राग-द्वेषका नाश कर दें ऐसा त्रिकालमें कदापि नहीं हो सकता ।

लौकिक व्यवहारमें विनयकी दृष्टिसे कहा जाता है कि हम तो बड़े-बूढ़ोंके पुण्यसे खा रहे हैं, किन्तु कहनेवाला अपने मनमें यह भी समझता है कि वह बड़े-बूढ़ोंके पुण्यको स्वयं नहीं भोगता । इसीप्रकार ज्ञानी सर्वज्ञ वीतरागको पहचानकर 'बोहिदयाणं' तरण-तारण हो इस प्रकार विनयसे, व्यवहारसे, उपचारसे कहता है । किंतु वह समझता है कि मैंने अपनी ही भूलसे परिभ्रमण किया है और मैं ही अपनी भूलको दूर करके स्वतंत्र स्वभावकी प्रतीतिसे स्थिर होकर वीतराग हो सकता हूँ । यदि देव-गुरु-शास्त्रसे तर सकते होते तो उनका योग तो प्रत्येक व्यक्तिको अनन्तबार मिल चुका है तथापि

मुक्ति नहीं हुई। इससे सिद्ध हुआ कि निमित्तसे किसीका कार्य नहीं हो सकता।

हे भाई! यह समझनेकी बात है, उसे ध्यान पूर्वक समझना। ऐसी बातको सुननेका सुयोग बारम्बार मिलना दुर्लभ है। इसे समझनेके लिये अपनी निजकी तैयारी होनी चाहिये। जैसे 'मिश्री' शब्द सुननेसे अथवा किसीको मिश्री खाते हुये देखनेसे मीश्रीका स्वाद नहीं आ जाता किन्तु स्वयं मिश्रीका टुकड़ा लेकर अपने मुँहमें डाले और उसके स्वादका अनुभव करे तो मिश्रीका यथार्थ स्वाद ध्यानमें आता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञाता–दृष्टा साक्षीरूप है, उसकी बात सुननेसे अथवा उसका अनुभव करने वाले किसी ज्ञानीको देखनेसे स्वभावका निराकुल सहज आनन्द नहीं आ सकता; किन्तु सत्समागमसे स्वयं जानकर और फिर नित्य असंयोगी पूर्णस्वरूपको ज्ञानमें दृढ़ करके अंतरंगमें स्वाश्रय शुद्धनयसे अभेदस्वभावका अनुभव करे तो विकल्प–भेदरहित एकाकार शुद्ध आत्मस्वरूपके आनन्दके स्वादका अनुभव होता है।

त्रिकालके ज्ञानियोंने यही सूक्ष्म तत्त्व कहा है, उसकी प्राप्तिके लिये किसी बाह्य साधनका अवलम्बन है ही नहीं, ऐसा निरपेक्ष तत्त्व वीतरागके मार्गमें है। उसका विरोध करनेवालोंको तत्त्वकी खबर नहीं है। जो अनन्त शुद्धतासे विपरीत हुआ वह अशुद्धतामें अनन्त है और जो अनुकूल होता है वह स्वभावकी शक्तिमें अनन्त है। जो विकारमें अनन्तगुनी विपरीतता करता है वह भी स्वतंत्र है, उसकी पात्रताके बिना अनन्त तीर्थंकरोंका साक्षात् उपदेश भी उसके लिये निमित्त नहीं हो सकता। यदि दूसरेके आधारसे समझमें आ सकता हो तो स्वतंत्रता ही न रहेगी। तत्त्वका स्वरूप भले ही ज्ञानीके पाससे ही सुननेमें आये किन्तु अपनी निजकी तैयारीके बिना समझमें नहीं आ सकता।

पर–संयोगके आश्रयसे उत्पन्न शुभभाव क्षणभरमें बदल-

निर्मलता प्रगट कर'—इस प्रकार विकारको दूर करनेकी बात ही क्योंकर कही जा सकेगी?

शुद्ध परमार्थदृष्टिका विषय अभेद है—यह कहनेमें समस्त द्रव्यको परसे भिन्न और निजसे अभिन्न कहनेकी अपेक्षा है; किन्तु वर्तमान अवस्थामें भेदवस्तुत्व तथा विकारमें पर-निमित्तकी उपस्थिति यदि कोई वस्तु ही न हो तो जैसे वेदांत मतवाले भेदरूप अनित्यको देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्मको वस्तु कहते हैं वैसा सिद्ध हो जायगा। और ऐसा होनेसे सर्वथा एकांत शुद्धनयके पक्षरूप मिथ्यादृष्टिका ही प्रसंग आ जायगा।

सर्वज्ञ वीतरागने पूर्वापर विरोध रहित, परसे भिन्न अविकारी स्वरूप भेद-अभेदरूपसे कहा है, उसे मध्यस्थ-शांतदृष्टि करके अविरोधी सत्यको स्वीकार करके उसका न्यायसे आदर करके अन्तरंगमें पचाना चाहिये।

एक कूटस्थ ब्रह्मको माननेमें क्या दोष है सो यहाँ बतलाते हैं:—

(१) यदि वस्तु एक ही हो और दूसरी वस्तु न हो तो समझनेवाला और समझानेवाला इस प्रकारका भेद नहीं रह सकता। भेद तो प्रत्यक्ष है फिर भी भेदको यदि भ्रम माने तो जाननेवालेका ज्ञान मिथ्या है।

(२) क्षेत्रसे यदि सब सर्वव्यापक हो तो भी उपरोक्त दोष आता है।

(३) कालसे आत्मा नित्य ही हो और वर्तमान अवस्थासे बदलना न होता हो अर्थात् यदि एकांत नित्य ब्रह्म वस्तु हो तो अशुद्धताको दूर करके शुद्धताको प्रगट करना ही नहीं बन सकेगा।

(४) भावसे यदि सभी आत्मा सदा एक शुद्ध ब्रह्मरूप पूर्ण ज्ञानगुण मात्र हो और प्रगट अवस्थामें कर्म-शरीरादिका संबंध

न हो अर्थात् सर्वथा भेदरहित, कार्य–कारण रहित हो तो इस प्रकार एकांत माननेसे मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञानका प्रसंग आयगा।

सर्वज्ञ वीतरागका निर्दोष उपदेश अपेक्षा पूर्वक यथार्थ धर्मोंको कहनेवाला है। एक–एक वस्तु परसे भिन्न और अपनेसे अभिन्न है। उसमें नित्य–अनित्य, भेद–अभेद और शुद्ध–अशुद्ध इत्यादि जो प्रकार हैं उसप्रकार मानना सो अनेकांत है। एक वस्तुमें वस्तुत्वकी निष्पादक (उपजाने वाली) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना सो अनेकांत है।

आत्माको अविकारी कहने पर उसमें विकारकी अपेक्षा आ जाती है। विकार और अविकार दोनों एक भाव नहीं हैं किन्तु दो हैं। वास्तविक त्रिकाली स्वभावमें राग–द्वेष विकार नहीं है किन्तु अवस्थामें निमित्ताधीन विकार है। यदि अवस्थामें भी विकार न हो तो संसारके दुःख कौन भोगे? देह–इन्द्रियोंको सुख–दुःखकी खबर नहीं होती इसलिये प्रत्येक आत्मा भिन्न है और जड़ परमाणु भिन्न हैं। यदि जीवको विकृत होनेमें निमित्तरूपसे अन्य वस्तु है ऐसा न माने और वस्तुरूपसे सबको मिलाकर एक आत्मा माने, क्षेत्रसे सर्वव्यापक जड़में भी माने, कालसे एकांत नित्य कूटस्थ माने, गुणसे नित्य ब्रह्मरूप अभेद माने, भावसे बिल्कुल शुद्ध वर्तमान अवस्थामें भी विकार रहित माने तो ऐसे एकांतवादीसे पूछना चाहिये कि राग–द्वेषकी आकुलता कौन करता है?

यदि कोई कहे कि 'भाग्य ही सुखी–दुःखी करता है, वही बनाता–बिगाड़ता है तथा इन्द्रियोंके विषयोंको इन्द्रियाँ ही भोगती हैं; उससे हमें क्या लेना–देना है?' तो उसे शरीर पर अग्निका डमा देकर देखना चाहिये कि कैसा समभाव रहता है? दोष (राग–द्वेष) तो करे स्वयं और उसका आरोप लगाये दूसरे पर? भाग्य और ईश्वर ही सब कुछ करता है तथा बनाना–बिगाड़ना भी उसीके आधीन है ऐसा मानना सो मूढ़ता है, अविवेक है।

जैसे पानी स्वभावसे गरम नहीं है, वह वर्तमान अवस्थामें अग्निके निमित्तसे गर्म है, वह उष्णता पानीका वास्तविक स्वभाव नहीं है, इस प्रकार विश्वास करे तो पानीको शीतल करनेका पुरुषार्थ करके ठण्डा पानी प्राप्त किया जा सकता है। अग्निके निमित्तसे पानी गरम होता है यह न माने और अग्निको भी न माने तथा यह भी न माने कि पानीकी उष्ण अवस्था पर-संयोगसे हुई है जो कि दूरकी जा सकती है तो कहना होगा कि उसे पानीके वास्तविक शीतल-स्वभावकी खबर नहीं है। जो पानीको गरम ही मानता है वह उसे ठंडा करनेका उपाय नहीं करेगा, किन्तु पानीका शीतलस्वभाव उष्ण अवस्थाके समय भी बना रहता है यह जान ले तो वर्तमान अग्निके संयोग और उष्ण अवस्थाका लक्ष्य गौण करके सम्पूर्ण शीतलस्वभाव पर दृष्टि कर सकता है। उष्ण अवस्था वर्तमान मात्रके लिये है उसका ज्ञान करे और उष्ण अवस्थाके समय भी पानीमें शीतलता भरी हुई है यों दोनों प्रकार मानकर गर्म पानीको ठण्डा करे तो शीतलस्वभाव ही रहता है। इस प्रकार पानीके शीतल स्वभावको जानना सो परमार्थ दृष्टि है और अग्निके निमित्तसे पानी वर्तमानमें उष्ण है, इस प्रकार परकी अपेक्षासे जानना सो व्यवहार है।

भगवान आत्मा वीतराग ज्ञानानन्दघन है वह स्वयं उसकी वर्तमान अवस्थामें कर्मके संयोगाधीन होता है तब अज्ञानी यह मानता है कि मैं राग-द्वेष पुण्य-पापका कर्ता हूँ, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है किन्तु जो स्वाश्रयी दृष्टिके द्वारा वर्तमान निमित्ताधीन विकारका लक्ष्य गौण करके त्रैकालिक एकरूप निर्मल ध्रुवस्वभावको वर्तमानमें भी पूर्ण सामर्थ्यरूपसे अभेदरूपसे जानता है सो परमार्थदृष्टि है। इस प्रकार द्रव्यदृष्टिसे आत्मा शुद्ध है. स्वाश्रित स्वभावसे त्रिकाल (वर्तमानमें भी) शुद्ध है और पराश्रय-रूप व्यवहारमें वर्तमान अवस्थामें अशुद्ध भी है। इस प्रकार एक वस्तुमें दो प्रकार मानना सो स्याद्वाद है। यदि सब एक ही हो-शुद्ध ही हो और वर्तमान अवस्थामें (संसारी जीवोंकी) भूल-अशुद्धता न हो तो

ऐसे उपदेशकी आवश्यकता ही न रहे कि समझको प्राप्त कर, भूलको दूर कर अथवा रागको दूर करके निर्मल हो जा।

व्यवहारनय अभूतार्थ है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान अवस्था सर्वथा अयथार्थ है। जो वस्तु है उसका सर्वथा नाश नहीं होता किन्तु मूल वस्तुरूपमें स्थिर रहकर प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्थाको बदला करती है। अवस्थाके परिवर्तनको प्रतिक्षण देखकर यदि कोई उसे भ्रम–माया कहे तो वह गलत है। जो यह कहता है कि रस्सीमें सर्पकी मान्यता कर लेना भ्रांति है उसे यह भी स्वीकार करना ही होगा कि रस्सी अलग है, उसमें सर्पकी कल्पना करने वाला अलग है और सर्प अलग है। इस प्रकार तीन भिन्न वस्तुएँ हैं।

प्रत्येक वस्तु भिन्न–भिन्न है। राग-द्वेप करनेमें पराश्रयरूप अन्य वस्तुकी उपस्थिति होती है। एकसे अधिक वस्तु हो तभी भ्रांति होती है और तभी दूसरी वस्तु निमित्त कहलाती है।

जैसे अकेला सोना अपने कारणसे अशुद्ध नहीं है किन्तु अन्य धातुके आरोपसे वर्तमान अवस्थामें वह अशुद्ध कहलाता है। इसी-प्रकार आत्माके सम्बन्धमें अनादिकालसे प्रत्येक समयके प्रवाहरूपसे वर्तमानमें विद्यमान अवस्थामें राग-द्वेप अज्ञानरूप भ्रांति होनेका मूल कारण अपना अज्ञान है और उसके निमित्तरूप कर्म अन्य वस्तु है। इस प्रकार पराश्रयसे होने वाले विकारको अपना स्वरूप मानना सो अज्ञान है। 'पुण्य-पाप, राग-द्वेप वर्तमानमें हैं ही नहीं, इन्द्रियोंके विषयको इन्द्रियाँ ही भोगती हैं' इस प्रकार अपनेको अखण्ड साक्षी-ब्रह्मरूप ही एकान्ततः माने तो भी वह अज्ञानी-स्वच्छन्दी कहलायगा। भेदवस्तु ही नहीं तथा मलिनता आत्माकी अवस्थामें व्यवहारसे भी नहीं है यह कहाँसे निश्चय किया? क्रोध, मान, माया, लोभ, वासना और राग-द्वेप इत्यादि हैं, इसीलिये तो वर्तमानमें दिखाई देते हैं यदि वे सर्वथा न हों, राग-द्वेप आकुलता वर्तमान अवस्थामें भी न हो तो अतींद्रिय आनन्द प्रगट होना चाहिये किन्तु वर्तमान अवस्थामें वैसा नहीं है। स्वभावमें शक्तिरूपसे अनन्त आनन्द है किन्तु

वर्तमानमें वह आनन्द प्रगटरूपमें नहीं है। यदि वर्तमानमें पूर्ण निर्मल आनन्द प्रगट हो तो कोई पुरुषार्थ करनेकी, यथार्थ ज्ञान करनेकी अवस्था राग-द्वेषको दूर करनेकी आवश्यकता ही न रहे अर्थात् ऐसी किसी भी बातके लिये अवकाश न रहे।

बहुतसे जीवोंने अनन्तकालमें कभी भी एक क्षणभरके लिये यथार्थ तत्त्वका विचार नहीं किया। जैसे पर्वत पर बिजली गिरनेसे जो दरार पड़ जाती है वह फिर नहीं जुड़ सकती, इसी प्रकार यदि एकबार अपना अनादिकालीन अज्ञान दूर करके ध्रुववस्तुकी प्रतीति करे तो ग्रन्थिभेद हो जाय अर्थात् मिथ्यागाँठका नाश हो जाय। राग-द्वेषरूप विकार, परका कर्तव्य और देहादिकी क्रियाका स्वामित्व मानना सो मिथ्यात्व है उसका स्वाश्रयके द्वारा नाश करके त्रैकालिक निर्मल निरपेक्ष अखण्ड स्वभावके लक्षसे सम्यग्ज्ञानका प्रकाश करे तो फिर कदापि अज्ञान न हो अर्थात् फिर यह कभी नहीं माना जायगा कि आत्मा और राग-द्वेष एक हैं।

यदि वस्तुदृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा ध्रुवरूपसे स्थिर रहता है इस अपेक्षासे वह नित्य है। यदि वर्तमान पर्यायदृष्टिसे देखा जाय तो क्रमशः अवस्थाको बदलनेका स्वभाव है, इस अपेक्षासे अनित्य है। इस प्रकार समस्त गुणोंको न मानकर एक ही गुणको माने अथवा सभीमें एक ब्रह्मरूप वस्तुकी सत्तासे अभेदभाव माने तो वह एकान्तिक मिथ्या मान्यता है।

सर्वज्ञके उपदेशमें एकपक्षरूप कथन नहीं है अर्थात् सर्वथा एकान्तशुद्ध, एकान्तअशुद्ध अथवा नित्य या अनित्य इस प्रकार सर्वथा एकान्त न कहकर प्रयोजनवश मुख्य-गौणदृष्टि करके प्रत्येक स्वभावको यथार्थ बतलाते हैं। आत्मा त्रैकालिक द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध है और वर्तमान अवस्थामें परावलम्बनरूप विकार करता है उतना एक-एक समयकी अवस्थारूपसे अशुद्ध भी है। इस प्रकार जो स्वाश्रित स्वभाव है सो निश्चय है पराश्रित भेद सो व्यवहार है। यह दोनों प्रकार जान लेना चाहिये।

'मैं रागी-द्वेषी हूँ; पुण्य करने योग्य है, देहकी क्रिया करनेसे गुण होता है' इस प्रकार अज्ञानरूप व्यवहारका ग्रहण अर्थात परावलम्बनका मिथ्या आग्रह संसारी जीवोंके अनादिकालसे चला आरहा है। निर्विकारी अभेद ज्ञानस्वभावकी प्रतीति करनेके बाद भी वर्तमान अवस्थामें शुभ-रागरूप भाव दिखाई तो देता है किन्तु उसे सम्यग्दृष्टि रखने योग्य अथवा आदरणीय नहीं मानता। शुभ-अशुभ विकारका स्वामित्व अथवा कर्तृत्व मानना उसे सर्वज्ञदेवने मिथ्यादर्शन शल्य कहा है।

'स्वतन्त्ररूपसे करे सो कर्ता और कर्ताका इष्ट सो कर्म है। जो आत्माको देहादि परवस्तुकी क्रियाका कर्ता तथा पुण्य-पाप विकारका कर्ता मानता है उसकी मान्यता विकृत है उस विकारका वह माननेवाला स्वयं कर्ता है और विकार उस कर्ताका (कर्म) कार्य है। जिसने अविकारी निर्मल स्वभावको श्रद्धामें स्वीकार नहीं किया वे अनादिकालसे विकारी कर्तव्यका उपदेश देने वाले हैं।

ज्ञानीका इष्टकर्म ज्ञानभाव है इसलिये आत्मा ज्ञानका ही कर्ता है वह सदा अपने अरूपी ज्ञानस्वभावसे ज्ञातास्वरूप है इसलिये ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकता। जिसे ऐसे स्वभावकी प्रतीति नहीं है वह अज्ञानभावसे यह मानता है कि मैं परका कर्ता हूँ, देहादिक क्रिया करता हूँ, पुण्यका सहारा चाहिये, ऐसे अशुद्ध व्यवहारको ग्रहण करने वाले मिथ्यादृष्टियोंका संसारपक्ष अनादिसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला जायगा। आश्चर्य तो यह है कि ऐसा उपदेश देने वाले और सुनने वाले बहुत होते हैं।

बाह्य क्रिया करनेकी बात लोगोंके मनमें जल्दी जम जाती है जैसे इतनी शारीरिक क्रिया करो, जप करो, दान करो तो धर्म होगा और फिर यह लिया, वह छोड़ा इत्यादि सब दिखाई देता है यों मानता है क्योंकि अनादि कालसे वैसा परिचय है इसलिये उन बाह्य बातोंका मेल अनादिकालीन मिथ्या मान्यताके पुराने खानेमें झट फिट कर देता है। और जब उससे उल्टी बात सुनता है कि पुण्य-

से, शुभभावसे त्रिकालमें भी धर्म नहीं हो सकता, पुण्य विकार है, विकारसे अविकारी धर्म कदापि नहीं हो सकता तो वह चिल्ला उठता है कि अरे रे! मेरे व्यवहार पर तो पानी फेर दिया। पैसे वालोंको दानादिका अभिमान और देह पर दृष्टि रखने वालोंको उनकी मानी हुई क्रियाका अभिमान है किन्तु जब वे अपनी मान्यतासे विपरीत बात सुनते हैं तब उन्हें बड़े जोरका धक्का लगता है किन्तु फिर भी सत्यको क्यों छुपाया जाय?

जहाँ देखो वहाँ व्यवहारका झगड़ा है और जिससे जन्म-मरण दूर हो सकता है ऐसे तत्त्वज्ञानका विरोध दिखाई देता है। सब अपने भावसे स्वतंत्र हैं। व्यवहारका झगड़ा अनादिकालसे संसारपक्षमें है और अनन्तकाल तक रहेगा।

श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि—

परमारथ पंथ जे कहे, ते रंजे एक तंतरे,
व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनंतरे।

परमार्थस्वरूप आत्माको अविरोधरूपसें समझने वाले और उसका उपदेश देने वाले विरले ही होते हैं। पराश्रयरूप व्यवहारका पक्ष-देहकी क्रिया हम करें तो हो, समाजमें ऐसा सुधार कर दें, ऐसा न होने दें, अब बातें करनेका समय नहीं है, काम किये बिना बैठे रहनेसे नहीं चलेगा। इस प्रकार मानने वाले और कहने वाले अनादिकालसे बहुतसे लोग हैं। मानों परवस्तु अपने ही आधीन है और स्वयं परके ही आधार पर अवलम्बित है। जो यह मानता है कि पर मेरा कार्य कर सकता है वह अपनेको अशक्त मानता है; उसे अपनी स्वाधीन अनन्त शक्तिका विश्वास नहीं है, इसलिये वह पराश्रयरूप व्यवहारको चाहता है। व्यवहार करने योग्य है, शुभभावरूप विकार किये बिना अविकारी नहीं हुआ जा सकता, ऐसी विपरीत मान्यतारूप मिथ्या आग्रहको जीवने अनादिकालसे पकड़ रखा है और ऐसे ही उपदेशकोंके द्वारा उन बातोंकी पुष्टि मिला करती है।

कुछ लोग कहते हैं कि इतनी सूक्ष्म बातें सुन समझकर हमें इतनी गहराईमें उतरनेका क्या काम है, राग-द्वेष ही तो दूर करना है न? तो जिस पर राग होता हो उस वस्तुका त्याग कर दो, इससे राग भी दूर हो जायगा। किन्तु भाई! रागरहित निरावलम्बी तत्त्वके अस्तित्वभावको यथार्थ जाने विना 'त्याग करो, रागको दूर करो' ऐसा कहनेवाले नास्तिसे (निज लक्षके विना-पर लक्षसे) अनित्य संयोगाधीन दृष्टि करके सन्नद्ध हुये हैं उनके वास्तवमें रागका अभाव नहीं होगा। वहुत होगा तो मंदकपाय करेंगे, जिससे पुण्यवन्ध होगा। पर लक्ष्यसे रागको कम करना चाहता है अर्थात् वाह्यक्रियासे गुण मानता है कि मैंने ऐसा किया, इतना त्याग किया, इतनी प्रवृत्ति की इसलिये इतने गुण प्राप्त किये, किन्तु क्या तुझमें गुण नहीं हैं। भीतर पूर्ण शक्तिरूप अनन्तगुण भरे हुए हैं उनका विश्वास कर तो उन अखण्ड गुणोंके वलसे निर्मलता प्रगट होगी।

निरावलम्बी ध्रुव एकरूप परमार्थ ज्ञानस्वरूपकी दृढ़तारूप स्वाश्रयका पक्ष जीवने कभी नहीं किया। लोगोंको अन्तरंग सूक्ष्मतत्त्वकी रुचि नहीं है इसलिये वाह्यचर्चाको सुननेके लिये वहुतसे लोग इकट्ठे हो जाते हैं किन्तु तत्त्वज्ञान सम्वन्धी वात जल्दी नहीं समझते। शुभ करनीके विना, पुण्यका आधार लिये विना धर्म नहीं होता, पुण्य तो आवश्यक है ही। साधनकी अनुकूलताके विना धर्म नहीं होता, ऐसी पराश्रयकी वातें घर-घर सुननेको मिलती हैं, किन्तु उस सव लौकिक व्यवहारको छोड़कर गुण-गुणीका विचार करते हुए मनके सम्वन्धसे शुभ विकल्प होता है वह भी मेरा नहीं है, इस प्रकार व्यवहारको गौण करके मात्र अखण्ड परमार्थ ध्रुवस्वभावको लक्ष्यमें लेनेका उपदेश वहुत विरल है, क्वचित् कदाचित् ही मिलता है, इसलिये उपकारी श्री गुरुदेवने ऐसे शुद्धनयके ग्रहणका फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश मुख्यतासे दिया है।

अशुभभावसे वचनेके लिए तो शुभका अवलम्वन ठीक है, किन्तु उस शुभभावके द्वारा तीन लोक और तीन कालमें भी धर्म नहीं

हो सकता। यहाँ तो मान्यताको बदलवानेका उपदेश है। धर्म आत्माका अविकारी स्वभाव है, उस स्वभावको गुरुके द्वारा जानकर यथार्थ ज्ञानका अभ्यास करके, विपरीत धारणाका त्याग करके तथा यह मानकर कि मैं विकारका कर्ता नहीं हूँ, पुण्यके शुभ विकल्प मेरे स्वभावमें नहीं हैं तथा वह मेरा कर्तव्य भी नहीं है; ऐसा मानकर निर्मल पर्यायके भेदका लक्ष गौण करके अखण्ड ज्ञायक ध्रुवस्वभावको श्रद्धाके लक्षमें लेना सो शुद्धनयका विषय है और उसका फल मोक्ष है। शुद्धनयका आश्रय लेनेसे सम्यग्दर्शन होता है। यह बात श्रावक और मुनि होनेसे पूर्वकी है।

मैं आत्मा तो अखण्ड ज्ञायक ही हूँ, परका स्वामी अथवा कर्ता–भोक्ता नहीं हूँ, शुभ या अशुभ विकार मात्र करने योग्य नहीं है, इस प्रकार स्वभावकी अपूर्व प्रतीति गृहस्थ दशामें हो सकती है। चाहे बड़ा राजा हो या साधारण गृहस्थ, स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या आठ वर्षका बालक, किन्तु सभी अपने अपने स्वभावसे स्वतंत्र पूर्ण प्रभु हैं, इसलिये अन्तरंगमें स्वभावकी प्रतीति कर सकते हैं।

जहाँ तक जीव व्यवहारमग्न है और बाह्य साधनसे धर्म मानता है, क्रियाकाण्डकी बाह्य प्रवृत्तिसे गुण मानता है वहाँ तक परसे भिन्न अविकारी अखण्ड आत्मा निरावलम्बी है ऐसा पूर्ण शुद्ध आत्माके ज्ञान श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।

इस विषयका विशेष श्रवण–मनन करना चाहिये और परमार्थ निर्मल वस्तुका निरन्तर बहुमान होना चाहिये। अपनी सावधानी उत्साह और पुरुषार्थके बिना अपूर्व फल प्राप्त नहीं होता।

बारहवीं गाथाकी भूमिका

जो परमार्थसे आदरणीय नहीं है तथापि परमार्थमें जाते हुये बीचमें आ जाता है वह व्यवहारनय किसी-किसीको किसी समय प्रयोजनवान है, यह बात यहाँ कहते हैं।

पर-निमित्तके भेदसे रहित एकरूप अखण्ड वस्तुको लक्ष्यमें लेना सो निश्चय (परमार्थ) है और वीतराग, अविकारी पूर्ण शुद्ध दृष्टिके

अभेद विषयके बलसे रागको दूर करके क्रमशः [illegible] करना सो व्यवहार है। शुभभाव असद्भूत व्यवहार है और जो आंशिक निर्मलता बढ़ती है वह सद्भूत व्यवहार है। निश्चयका विषय एकरूप श्रद्धा करना है, उसमें साधक-साध्य जैसे क्रमिक पर्यायोंके भेद नहीं है।

पूर्ण निर्मलदशा प्राप्त होनेसे पूर्व अन्य साधकके लिये व्यवहार आये बिना नहीं रहता। यदि यह न माने तो उसे साधकस्वभावकी खबर नहीं है। किसी भी यथार्थ प्रतीतिके साथ ही यदि अंतर्मुहूर्तके लिये ध्यानमें स्थिर होकर केवलज्ञानको प्राप्त करे तो उसमें भी बीचमें निर्मलताके घोलन-मननका सूक्ष्म विकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता।

अभेद स्वभावी द्रव्यका बल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके प्रारंभका और पूर्णताका कारण है। जिन्हें मोक्ष जानेमें विलंब होता है वे अकषाय-दृष्टि सहित शुभरागमें अर्थात् पूजा, भक्ति, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादिमें रुक जाते हैं। एतावन्मात्रेण व्यवहार किसी किसीके किसी समय होता है किन्तु वह वीतरागताके लिए कारणभूत नहीं होता। 'किसी समय कहनेका आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्मप्रतीतिकी भूमिकामें निरन्तर ध्यानमें नहीं रह सकता, इसलिये यह व्यवहार आये बिना नहीं रहता किन्तु जब अभेद स्व-विषय करके ध्याता, ध्यान और ध्येयके विकल्पसे कुछ छूटकर अन्तरंगमें एकाग्र (स्वभावमें लीन) होता है उस समय शुभभावरूप व्यवहार नहीं होता। अर्थात् अभेददृष्टिमें स्थिरताके समय भेदरूप विकल्प छूट जाते हैं। जब आन्तरिक स्वरूपमें लीनता-स्थिरता है तब व्यवहार नहीं है। निश्चयदृष्टिमें व्यवहार अभूतार्थ है।

सम्यग्दर्शनका विषय अखण्ड ध्रुवस्वभाव है, उसकी यथार्थ प्रतीतिके साथ जब आत्मा एकाग्र होता है तब अभेद आनन्दका अनुभव होता है; उस समय सिद्ध परमात्माके समान अतीन्द्रिय आनन्दका आंशिक स्वाद मिलता है।

सम्यग्दृष्टि पुण्य-पापके कर्तव्यको अपना नहीं मानता। मैं पुण्य-पापके शुभाशुभ विकारका नाशक हूँ, जड़ परमाणु मात्र मेरा नहीं है, मैं परका स्वामी नहीं हूँ, परमार्थसे मैं पुण्य-पाप रागादिका कर्ता नहीं हूँ, इस प्रकार स्वभावकी अखण्ड प्रतीति अंतरंगसे गृहस्थ-दशामें भी सम्यग्दृष्टिके होती है।

जो शुभवृत्ति उठती है वह आत्माके लिये लाभकारक नहीं है, सहायक नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व और सम्यग्दर्शन होनेके बाद चारित्रमें स्थिर होनेसे पहले अशुभभावोंको दूर करनेके लिये शुभभावोंका अवलम्बन आता है उसे व्यवहार कहा जाता है।

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और उनके द्वारा कहे गये मिथ्या धर्मकी श्रद्धाका त्याग तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कहे गये धर्मका आदर सर्व प्रथम होना चाहिये। जब तक सत्यकी ओरकी भक्ति जागृत नहीं होती तब तक परमार्थस्वभावकी महिमा नहीं आती। पहले तृष्णा मोह ममताको कम करके रागकी दिशाकी ओरसे करवट बदल लेना चाहिये। तीव्र क्रोधादि कषायको मन्द करके, सच्चे देव–शास्त्र–गुरुकी पहिचान करके, उनके प्रति बहुमान करके, रुचि पूर्वक श्रवण मननके द्वारा अंतरंगमें स्वाधीन परमार्थका विचार करना चाहिये। जो पहले शुभभाव नहीं करता उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुभभाव सम्यग्दर्शनका कारण है।

सच्चे देव–गुरु–शास्त्र और नव तत्त्वोंकी पहिचान करके तथा उस ओर शुभभावको लगाकर रागको सूक्ष्म करके अन्तरंगके आँगनमें आये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। किन्तु शुभभाव–चित्तशुद्धिसे भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व शुभ व्यवहार आता तो है किन्तु यदि श्रद्धामें उसका अभाव करे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब शुभको उपचारसे निमित्त कहा जाता है।

के लिये चारित्रकी स्थिरता करनेका व्यवहार ध्यान–विचार–मननरूप-से रहता है।

जैसे शुद्ध स्वर्णके प्राप्त होने पर सौ टंचसे कमके सोनेकी चाह नहीं रहती, उसीप्रकार जिसे पूर्ण केवलज्ञानदशा प्राप्त हुई है उसे अपूर्ण निर्मल अंशोंके भेदकी आवश्यक्ता नहीं रहती।

पूर्ण अविचल एक स्वभावरूप एकभाव केवलज्ञानी वीतरागी-के प्रगट हो चुका है, उनने भी श्रद्धामें पहले ऐसे पूर्ण निर्मल स्वभाव-को लक्ष्यमें लिया था, उनकी मान्यतामें पुण्य-पापके विकारका कर्तृत्व–आश्रियत्व नहीं था, पहलेसे ही व्यवहारका आदर नहीं था, पश्चात् पूर्ण दशा प्राप्त होने पर निमित्तरूपसे भी नहीं रहता; तथापि साधक-भावमें वीचमें व्यवहारका बलपूर्वक अवलम्बन आ जाता है, जो कि आगे कहा जायेगा।

आत्मा निरपेक्ष निर्विकार ध्रुव वस्तु है; उसमें बन्ध-मोक्ष आदि अवस्थाभेद तथा दर्शन–ज्ञान–चारित्र आदि गुणभेदोंका ज्ञान करके ऐसी श्रद्धा करनी चाहिये कि–त्रैकालिक ध्रुव पूर्णस्वरूप वर्तमानमें भी अखण्ड है, यह प्रारंभिक मुख्य धर्म है; पश्चात् पूर्ण स्थिरता करनेमें जितनी भूमिकाकी निर्मलता बढ़े उसे उसप्रकार जानना सो व्यवहार है।

जो पुरुष पहले दूसरे तीसरे इत्यादि अनेक तावोंकी परंपरा-से पकनेवाले अशुद्ध स्वर्णके समान वस्तुकी अनुत्कृष्ट मध्यम भाग–साधक-भावकी स्थिरताका अनुभव करते हैं उन्हें अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध स्वर्णके समान पूर्ण केवलज्ञानरूप उत्कृष्ट साध्यभावका अनुभव नहीं होता।

'रागको दूर करके स्थिरता करूँ' इसमें मनका संयोग और परकी अपेक्षा होती है, वह अशुद्ध अवस्था वर्तमानमें होती है। राग-का अमुक अंशमें दूर होना और अमुक अंशमें रहना तथा अंशतः स्थिरताकी वृद्धि होना सो व्यवहार है। भिन्न–भिन्न भूमिकाके अनुसार अनेक प्रकारसे और पूर्व अवस्थासे भिन्न–भिन्न भावरूपसे जिसने

पुण्यका निषेध करके अपूर्व पुरुषार्थके द्वारा स्वरूपको समझे तो अपूर्व गुण (धर्म)का लाभ होता है। पुण्यका आदर करना अविकारी आत्माका अनादर करना है। अनंत गुणका पिण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा जब अपने गुणसे विपरीत चलता है तब पुण्यादि होता है। पुण्य तो गुणकी जलन है। हे प्रभु! पुण्य-पापसे तेरे गुणोंकी हत्या होती है।

आत्मा अविकारी अखण्ड है। पुण्य-पाप विकारमें युक्त होनेसे बंधन होता है, उसे ठीक मानना वह ऐसा है कि जैसे अपने पैरको कटवाकर कोई हर्ष मानता है। आत्माके गुण जलकर राख हो जाते हैं तब पुण्य होता है। जो क्षणभरमें उड़ जाता है ऐसे पुण्यमें क्या मिठास है! तू तो अपने आनन्दरससे परिपूर्ण प्रभु है; तुझे उसकी महिमाकी प्रतीति क्यों नहीं होती?

माता पुत्रको 'सयाना बेटा' कहकर सुलाती है, तब उससे विपरीत रीतिसे ज्ञानीजन स्वरूपकी अचिंत्य महिमा दिखाकर तुझे अनादिकालीन अज्ञानरूपी नींदमेंसे जगाते हैं। पुण्य-पाप-विकार तेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु वर्तमान अवस्थामात्रका विकार है, उसका तथा निर्मल अवस्थाके भेदका लक्ष गौण करके त्रिकाल एकरूप ज्ञायकको लक्षमें ले तो परमार्थ और व्यवहार दोनोंका ज्ञान-सम्यक्ज्ञान होता है; किन्तु वस्तुको यथार्थतया परिपूर्ण नहीं जानता। यदि यथावत् वर्तमान अवस्थाको न जाने तो पुरुषार्थ करके राग-द्वेषका नाश और गुणकी निर्मलताका उत्पाद नहीं हो सकता।

जैसे सोनेको शुद्ध जाननेके बाद ही आँच दी जाती है, इसीप्रकार पहले सर्वज्ञ वीतरागने जैसा स्वरूप कहा है वैसा ही सर्वज्ञके न्याय, युक्ति, प्रमाणसे और सतसमागमसे जाने, पश्चात् त्रैकालिक अभेद एकाकार ज्ञायकरूपसे अंगीकार करे; श्रद्धाके अभेद विषयमें अनुभव करनेके बाद यथार्थ वस्तुमें निःसंदेहता आती है कि मैं त्रिकालमें ऐसा ही हूँ, स्वतंत्र हूँ, पूर्ण हूँ, उसमें अवस्थाके भेद गौण हो जाते हैं। वह यह जानता है कि एकरूप ध्रुव वस्तुके विषयमें अनेक भेद आदरणीय नहीं हैं; किसी समय उसे जानना (व्यवहारनय) प्रयोजनवान है तथापि

अनादिकालसे कभी यथार्थ समझका विचार नहीं किया। मुझे तो मेरे स्वरूपको समझनेका, प्राप्त करनेका उपाय भी होना ही चाहिये— यह तो है ही। प्रत्येक आत्मामें पूर्ण स्वरूपको समझनेकी, सूक्ष्मसे सूक्ष्म बातको ग्रहण करनेकी और परमात्मदशा—सिद्धदशा प्रगट करनेकी शक्ति प्रतिसमय त्रिकाल विद्यमान है, तथापि विपरीत मान्यताकी जड़ें बहुत गहरे तक पहुँची हुई हैं इसलिये वह उसे नहीं मानता। अपने स्वरूपको समझना अपनेको ही कठिन मालूम हो—ऐसा नहीं हो सकता; किन्तु रुचि नहीं है और अनादिकालसे अपने स्वरूपका अनभ्यास बना हुआ है तथा परके प्रति प्रेम है इसलिये उसे कठिन मानता है।

जहाँ पूर्ण स्वरूप निश्चयका आश्रय हो वहाँ भेदरूप व्यवहार होता है। किन्तु यह बात तीनकाल और तीनलोकमें यथार्थ नहीं हो सकती कि व्यवहार करते-करते निश्चय प्राप्त हो जाता है। निश्चय–परमार्थकी श्रद्धाके पूर्व और श्रद्धाके पश्चात् शुभभावरूप व्यवहार होता तो है, किन्तु उससे निर्मलता प्रगट नहीं होती। मैं अनन्त-

गुणका पिण्ड हूँ, निर्विकार आनन्दकन्द हूँ, इस प्रकार पूर्णका लक्ष करने पर, निर्मल अखण्डकी महिमाके होने पर सम्यक्‌दर्शन प्रगट होता है, और इस सम्यक्‌दर्शनके साथ प्रत्येक गुणकी आंशिक निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

परमार्थदृष्टिका विषय सम्पूर्ण वस्तु है यह ख्यालमें आये विना व्यवहार सच्चा नहीं होता। व्यवहारका विषय अवस्था है, वह सदा स्थिर रहनेवाली नहीं है इसलिये ग्राह्य नहीं है। जहाँ जो जैसा हो वहाँ उसे वैसा जानना मात्र ही व्यवहारका प्रयोजन है। पूर्ण पर भार होनेसे अपूर्ण निर्मल पर्याय पूर्ण हो जाती है। जैसे सोनेकी डलीमें उच्च एवं सूक्ष्म कलामय हो जानेकी शक्ति है यह निश्चय पूर्वक जाननेके बाद यह चिन्ता नहीं करनी पड़ती कि इसमें यह कला प्रगट होगी या नहीं; इसीप्रकार अखण्ड ध्रुव आत्माको यथार्थतया यह जान लेने पर कि मैं सर्वज्ञ भगवानके समान ही हूँ और उन जैसी ही संपूर्ण शक्ति मुझमें भी है, एवं वह पूर्ण दशा मुझसे ही प्रगट होगी—यह चिन्ता नहीं रहती कि शुद्ध स्वभाव कैसे प्रगट होगा। मैं त्रैकालिक अनन्तशक्तिका पिंड हूँ, उसके बलसे निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी अवस्था प्रगट होती है। उस अवस्थाको अखण्डके आश्रय पूर्वक जानना सो निश्चय-व्यवहारकी संधि है।

यह सब अन्तरंगके अरूपी धर्मकी बात है। इसे वही जानता है जिसने अन्तरंग मार्गके रहस्यको प्राप्त किया हो अथवा जो उसे प्राप्त करनेका प्रयास करता है; दूसरा कोई नहीं जान सकता।

आत्मा पर-निमित्तके भेदसे रहित, अनन्त गुणोंका पिण्ड, अनादि-अनन्त, एकरूप है। उसकी संसार-अवस्था (भूल और अशुद्धता) अनादि सांत है, मोक्ष-अवस्था सादि अनन्त है। इस प्रकार एक अखण्ड तत्त्वमें बन्ध-मोक्ष, मलिनता—निर्मलता इत्यादि दो—दो पहलुओंके भेदरूप अवस्थाको देखने वाली दृष्टिको गौण करके, त्रैकालिक ध्रुव एकाकार पूर्ण वस्तुका निर्मल अभेद लक्ष करने पर उसके बलसे निर्मल सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान—चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है, और उस अखण्डके बलसे

कोई कहता है कि 'मुझे भूल और विकार दूर करना है।' जो दूर हो सकता है वह अपने स्वभावमें नहीं है और जिसका नाश करना चाहता है वह रखने योग्य त्रैकालिक स्वभावसे विरोधी है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो नित्य एकरूप स्थायी है वह अच्छा है-ग्राह्य है, और विरोधभाव दूर करने योग्य है। इस प्रकार ध्रुवस्वभावके आश्रयसे अविरोधीभावका उत्पाद और विकारीभावका व्यय करना सो हित करनेका उपाय है।

वस्तुमें त्रिकाल सुख है, उसे भूलकर जो विकारके दुःखोंका अनुभव कर रहा था उसकी जगह अविकारी नित्य स्वभावके लक्षसे भूलको दूर करके भूल रहित स्वभावमें स्थिर रहनेका अनुभव करने पर प्रतिसमय अशुद्धताका नाश और निर्मलताकी उत्पत्ति होती है। इसलिये यदि वीतरागके मार्गको प्रवर्तित करना चाहते हो तो निश्चय और व्यवहार दोनों अपेक्षाओंको लक्षमें रखना होगा।

जो उत्पाद–व्यय है सो व्यवहार है, और जो एकरूप ध्रुव वस्तु है सो निश्चय है–यह दोनों आत्मामें हैं। परद्रव्यमें, देहकी क्रियामें या पुण्यमें व्यवहार और आत्मामें निश्चय, इस प्रकार दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुमें नहीं हैं।

अखण्ड ध्रुवस्वभावके अभेद विषयरूपसे यथार्थ श्रद्धा करने पर उसमें खोटी श्रद्धाका नाश, सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्मल स्थिरताकी अंशतः उत्पत्ति और अखण्ड वस्तु ध्रुव। यथावत अखण्ड और अखण्डको जानने वाले दो नय वीतराग स्वभावको प्रगट करनेके लिये जानना आवश्यक हैं। नित्य एकरूप वस्तुकी प्रतीति और आश्रयके विना बदल-कर कहाँ रहा जायेगा? इसलिये यदि परमार्थरूप ध्रुव निश्चय नहीं जाना जायगा तो वस्तुका नाश हो जायगा, और वस्तुका नाश माननेसे अवस्थाका भी नाश हो जायगा। और यदि वर्तमान अवस्थाको वह जैसी है वैसा न जाने तो व्यवहारनयका विषय पुरुषार्थरूप मोक्षमार्ग लोप हो जायगा। क्योंकि अखण्ड वस्तुका लक्ष वर्तमान पर्यायके द्वारा होता है और पर्यायका सुधार द्रव्यके लक्षसे होता है। पर्याय तो वर्तमान वर्तनरूप

अवस्था है, उसे वह जैसी है वैसा न माने तो व्यवहाररूप मोक्ष-मार्गका लोप हो जायगा।

आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है, परसे भिन्न और अपने अनन्त गुण एवं त्रिकालकी अवस्थासे अभिन्न है, जिसमें प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। यदि अवस्था न बदले तो दुःखरूप अवस्थाको दूर करके सुख नहीं हो सकता। सभी जीव आनन्द-सुख चाहते हैं किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि वह कहाँ है और उसे प्राप्त करनेका क्या उपाय है। सुख और सुखका उपाय अपनेमें ही है किन्तु उसकी सच्ची श्रद्धा नहीं है। परमें कल्पनासे सुख मान रखा है किन्तु वास्तवमें परके आश्रयसे सुख नहीं हो सकता। सबको चिरस्थायी सुख चाहिये है; किसीको दुःख अथवा अपूर्ण सुख नहीं चाहिये। अनन्तकालसे सुखके लिये सभी प्रयत्न करते हैं इसलिये यह स्वतःसिद्ध है कि लोग कहीं सुखके अस्तित्वको स्वीकार तो करते ही हैं, और उसे प्राप्त करनेका उपाय भी अपनी कल्पनाके अनुसार करते हैं। दूसरेको मारकर, परेशान करके, अपमानके प्रसंगमें उसकी हत्या करके भी आई हुई प्रतिकूलताका नाश करना चाहते हैं। अज्ञानी जीव पहले मरणको महात्रासदायक मानता था किन्तु कोई अनादर अथवा बाह्य प्रतिकूलताका प्रसंग आने पर उससे दूर होनेके लिये अब जीनेमें दुःख मानकर मरणको सुखका कारण मानता है। इस प्रकार जगतके प्राणी किसी भी प्रकारसे सुखको प्राप्त करनेके लिये हाथ-पैर खेपते हैं, इसलिये यह सिद्ध है कि वे सुखका और सुखके उपायका अस्तित्व तो स्वीकार करते ही हैं; उन्हें यह खबर नहीं है कि वास्तविक सुख क्या है, वह कहाँ है और कैसे प्रगट हो सकता है, इसलिये वे दुःखी ही बने रहते हैं।

अब यहाँ यह कहते हैं कि निश्चय और व्यवहार किस प्रकार आता है।

लोग धर्मके नाम पर बाह्य प्रवृत्तिमें व्यवहार मानते हैं। वे यह मानते हैं कि यदि पुण्य करेंगे या शुभभाव करेंगे तो लाभ होगा।

किन्तु वे उसमें नहीं देखते जो आत्मा ही अनन्तगुणका धाम—पूर्ण सुखका सत्तास्थान है। सुखके लिये मृत्युका इच्छुक अज्ञानभावसे वर्तमान समस्त संयोगोंसे छूटना चाहता है, इसलिये परवस्तुके बिना अकेला रहूँ तो सुख होगा ऐसा मानकर एकाकी रहकर सुख लेना चाहता है, इसलिये यह स्वीकार करता है कि—मात्र अपनेमें ही अपना सुख है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो परके आश्रयसे रहित सुख रहता है वही सच्चा सुख है। इससे तीन बातें निश्चित होती हैं—

(१) सुख है (२) सुखका उपाय है (३) परके आश्रयसे रहित स्वयं अकेला पूर्ण स्वाधीन सुखस्वरूप स्थिर रहने वाला है। ऐसा होने पर भी अपनेको भूलकर दूसरेसे सुख प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। सुखकी पूर्ण प्रगट दशा मोक्ष है और पूर्ण सुखको प्रगट करनेका उपाय मोक्षमार्ग है।

आनन्द आत्मामें है, इसकी खबर न होना सो अज्ञानभाव है। और ज्ञान—आनन्द मुझमें ही है, परके सम्बन्धसे मेरा ज्ञान—आनन्द नहीं है, ऐसी खबर होना ज्ञानभाव है।

मात्र तत्त्व (अपने शुद्धस्वभाव) में विकार (पुण्य-पापके शुभाशुभभाव) नहीं हो सकते; किन्तु आत्माके साथ कर्म—जड़ रजकणका जो निमित्त है उसके अवलम्बनसे वर्तमानमें विकार होता है। अशुभ भावको छोड़कर तृष्णाको कम करनेके लिये शुभभाव ठीक हैं, किन्तु उन शुभभावोंसे अविकारी आत्माका धर्म नहीं हो सकता। आत्मस्वरूपको यथार्थतया नहीं समझता और आँखें बन्द करके बैठा रहता है तब अँधेरा ही तो दिखाई देगा और बाहर जड़की प्रवृत्ति दिखाई देगी। अज्ञानी यह मानता है कि रुपया-पैसा देनेसे धर्म होता है—परमार्थ होता है किन्तु रुपया-पैसा तो जड़ है, उसके स्वामित्वका भाव ही विकारी है। जड़ वस्तु जीवके आधीन नहीं है। जो स्वामित्व-भावसे राग और पुण्यके काम करता है उसे अरूपी, अतीन्द्रिय, साक्षीस्वरूप, ज्ञाता-दृष्टा स्वभावकी प्रतीति नहीं है। पहलेसे ही किसी

भी चीज जो जैसी दुकानदार देता है, उसे वैसी ही आँख बन्द करके नहीं ले लेता; तब फिर जो परमहितरूप आत्मा है जिसके यथार्थ स्वरूपको जानने पर अनन्त भवकी भूख मिट जाती है, उसमें अज्ञान क्यों रहता है? अपूर्व वस्तुको समझानेमें सच्चा निमित्त कौन हो सकता है इसकी पहले यथार्थ पहिचान करनी चाहिये। जो श्रोता यथार्थ वस्तुको समझनेकी परवाह नहीं करते और मध्यस्थ रहकर शोधकरूपसे सत्य क्या है इसकी तुलना नहीं करते एवं चाहे जैसा उपदेश सुनकर उसमें 'हाँ जी हाँ' किया करते हैं वे ध्वजपुच्छके समान हैं।

जैसे वर्षाके दिनोंमें बालक धूलके घर बनाते हैं किंतु वे रहनेके काममें नहीं आते, उसी प्रकार चैतन्य अविनाशी स्वभाव क्या है? उसे समझे बिना अपनी विपरीत मान्यताके अनुसार शुभ विकल्पसे, बाह्य क्रियासे, पुण्य-पापमें धर्म माने-मनावे, किन्तु उससे अनित्य, अशरण और दुःखरूप संयोग ही मिलता है। वह असंयोगी शाश्वत शांतिका लाभ प्राप्त करानेके काममें नहीं आता इसलिये जो सुखस्वरूप आत्मा है उसकी पहिचान स्वयं अपने आप निश्चित करनी पड़ेगी। अवस्थामें भूल करनेवाला मैं हूँ, भूलको—दुःखको जानने वाला 'मैं' भूलरूप या दुःखरूप नहीं हूँ; संयोगी अवस्था बदलती है किन्तु मैं बदलकर उसीमें मिल नहीं जाता, अथवा नाशको प्राप्त नहीं होता, भूल और विकारी अवस्थाका नाश, अभ्रांत—अविकारी अवस्थाकी उत्पत्ति, और त्रिकाल एकरूप स्थिर रहने वाला ध्रुवरूप मैं हूँ। यह उपदेश पूर्वापर विरोध रहित है अथवा नहीं इसका निर्णय जिज्ञासुओंको करना चाहिये।

बहुमतको देखकर खोटेको सच्चा नहीं कहा जा सकता। 'हमारी देवीके बराबर बड़ा और कोई विश्वमें नहीं है' ऐसा तो भील इत्यादि भी कहा करते हैं। भला अपनी मानी हुई वस्तुको कौन हल्का कहेगा? प्रत्येक दुकानदार अपने मालको ऊँचा कहकर उसकी प्रशंसा करता है किन्तु ग्राहक उसकी परीक्षा किये बिना योंही नहीं ले लेता, देख-भालकर ही लेता है। इसीप्रकार जिससे यथार्थ उपदेश मिलता

है ऐसे वीतरागी वचन कौनसे हैं, और उनमें क्या कहा गया हैं, इसकी परीक्षा करनी चाहिये। वीतरागके वचनमें कहींसे भी कोई विरोध नहीं आ सकता। प्रत्येक तत्त्व भिन्न और स्वतंत्र है। जीव अनादिकालसे समय-समय पर वर्तमान क्षणिक अवस्थामें भूल और विकार करता चला आया है, वह भूल और विकार त्रैकालिक शुद्धस्वभावके लक्षसे स्वाधीनतया दूर किया जा सकता है। राग-द्वेषकी अवस्थाको जानकर, राग-द्वेष रहित अविनाशी स्वरूपको जाना और उसकी श्रद्धाके द्वारा रागको दूर करनेका उपाय करके वीतरागदशा प्रगट की; इसमें निश्चय और व्यवहार दोनोंकी अपेक्षा आ गई। इस प्रकार एक तत्त्वमें दो प्रकार हैं–जिसे यह खबर नहीं है उसे वीतरागके वचनकी यथार्थ पहिचान नहीं है।

पहले यह जानना होगा कि–यथार्थ उपदेश कहाँसे प्राप्त होता है, उसकी परीक्षा करनी पड़ेगी। जहाँ अपनेमें अपूर्व तत्त्वको समझनेकी जिज्ञासा होती है वहाँ सत्यको समझानेवाले मिल ही जाते हैं, समझाने-वालेकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। यदि कदाचित् ज्ञानीका योग न मिले तो सच्ची आंतरिक लगन वाले जीवको पूर्वभवके सत् समागमका अभ्यास याद आ जाता है। उपदेशके सुन लेनेसे तत्वको समझ ही लिया जाता हो सो बात नहीं है, किन्तु जब समझनेकी तैयारी हो तब उपदेशका निमित्त उपस्थित होता है। और जब स्वयं समझता है तब निमित्तका आरोप करके उसे उपकारी कहा जाता है। यदि मात्र सुननेसे ही ज्ञान हो जाता हो तो यह सबको होना चाहिये। घड़ेके साथ घीका संयोग होनेसे वह (घीके आरोपसे) व्यवहारसे 'घीका घड़ा' कहा जाता है और पानीके संयोगसे पानीका घड़ा कहलाता है, किन्तु वास्तवमें वे घड़े मिट्टीके होते हैं। इसी प्रकार जिसमें सत्यको समझनेकी शक्ति थी उसने जब सत्यको समझा तब साथ ही संयोग भी विद्यमान था इसलिये विनय-भावसे व्यवहारमें यह आरोपित करके कहा जाता है कि–इस संयोगसे धर्मको प्राप्त किया है। यदि निश्चयसे ऐसा मान ले तो कहना

होगा कि उसने दो तत्त्वोंको भिन्न नहीं माना है। जब जन्म-मरणके दुःख और पराधीनताकी वेदना मालूम हो और यह भासमें आये कि कोई अनित्य संयोग मुझे शरणभूत नहीं है; तब शरणभूत वस्तु क्या है, सत् क्या है यह जाननेकी अन्तरंगमें तड़प आकांक्षा उत्पन्न होती है; इस प्रकार अपूर्व सत् क्या है यह जाननेके लिये तैयार हुआ और सत्को जाना तब जिस ज्ञानीका संयोग होता है वह निमित्त कहलाता है।

प्रश्नः—समझने वाला बिना ही सुने यथार्थ-अयथार्थका निश्चय कैसे करेगा?

उत्तरः—जहाँ आत्माकी पात्रता होती है वहाँ श्रवण करनेको मिलता ही है, किन्तु यथार्थ-अयथार्थका निश्चय करने वाला आत्मा स्वयं ही है। एकबार स्वयं जागृत होने पर सन्देह नहीं रहता। जहाँ मुक्त होनेकी तैयारी हुई, अनन्तकालके जन्म-मरणका नाश और अविकारी मोक्षभावकी उत्पत्ति तथा प्रारम्भ हुआ वहाँ सन्देह रह ही नहीं सकता। मैं नित्य स्व-रूपसे हूँ पर-रूपसे नहीं हूँ, तब फिर मुझे परवस्तु लाभ या हानि नहीं कर सकती। जो ऐसा निःसन्देह विश्वास करता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ, पूर्ण सामर्थ्यरूप हूँ, मुझमें पराधीनता नहीं है, उसके भव शेष नहीं रहता। किन्तु जिसके भवका सन्देह दूर नहीं होता उसे निःसन्देह स्वभावका सन्तोष और सर्वसमाधानरूप शान्ति प्रगट नहीं होती। यथार्थ वस्तुकी प्रतीति होनेके बाद चारित्रकी अल्प अस्थिरता रहती है किन्तु स्वभावमें और पुरुषार्थमें सन्देह नहीं रहता।

अज्ञात स्थानमें अन्धे आदमीको निधड़क पैर उठाकर चलनेक साहस नहीं होता; क्योंकि उसे यह शंका बनी रहती है कि यह मार्ग सीधा होगा या कहीं कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होगा?

प्रश्नः—जब कोई मार्ग बताये तभी तो वह चल सकेगा?

उत्तरः—दूसरा तो मात्र दिशासूचन ही कर सकता है कि भाई सीधे नाककी सीधमें चले जाओ। यह सुनकर जब अपनेको उसपर

सज्जनताका विश्वास होता है तभी उस दिशामें निःशंक होकर कदम बढ़ाता है। इसीप्रकार सच्चे उपदेशको सुनकर भी यदि स्वयं निःसंदेह न हो तो उसका आंतरिक बल निर्मल स्वभावकी ओर उन्मुख नहीं हो सकता। वह यह मानता है कि बहुत सूक्ष्म बातोंको समझकर और बहुत गहराईमें जानकर क्या लाभ है? अपनेसे जो कोई करनेको कहता है सो किया करो, ऐसा करते करते कभी न कभी लाभ हो जायेगा। किन्तु जब तक अपने स्वाधीन पूर्णरूप स्वभावको जानकर उसमें निःसंदेह दृढ़ता न करे तब तक स्वभावमें स्थिर होनेका काल नहीं हो सकता।

प्रश्नः—कोई विश्वास पूर्वक कहे तभी तो माना जायेगा?

उत्तरः—जब निजको अन्तरंगसे विश्वासका संतोष होता है और जो अपनेको अनुकूल बैठता है उसे मानता है तब निमित्तमें आरोपित होकर कहता है कि मैंने इससे माना है; किन्तु वास्तवमें तो मानने वाला उसे ही मानता है जो अपने भावसे अनुकूल बैठता है। जैसे कोई धनवानकी प्रशंसा करता है तो वह वास्तवमें उस धनिक व्यक्तिकी प्रशंसा नहीं करता, किन्तु अपने मनमें धनका बड़प्पन जम गया है इसलिये उस जमावटके गुण गाता है; इसीप्रकार जब अपने अन्तरंगमें बात जम जाती है तब निमित्तमें आरोपित करके यह कहा जाता है कि—मैंने यह प्रस्तुत व्यक्तिसे समझा है। (जैसे घीका घड़ा कहा जाता है)

जो अनादिकालसे सत्यस्वरूपको नहीं जानता, उसने सत्‌को समझनेकी जिज्ञासा पूर्वक तैयारी करके यह कहा कि जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है उन वीतराग वचनोंको सुनना चाहिये और धारण करना चाहिये, उसमें जहाँ सत् उपादान होता है वहाँ सत् निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा मेल बताया है। असत्‌ उपदेश सत्‌के समझनेमें निमित्त नहीं होता। सत्‌समागमकी महिमा बतानेके लिये श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है कि "दूसरा कुछ मत ढूँढ़; मात्र एक सत्

केवलज्ञानके समान कहा है; इस प्रकार जो केवलज्ञानरूप विषय प्रगट हुआ उसे और विषय करने वाले–दोनोंको समान कहा है। उसमेंसे केवलज्ञानका लक्ष करने वाले शुद्धनयको कारण मानकर उसका कार्य (शुद्धनयका फल) वीतरागता–केवलज्ञान हुआ, उसका कारणमें आरोप करके केवलज्ञानकी अखण्ड अवस्थाको शुद्धनय कह दिया है। शुद्धनय ज्ञानका अंश है, उसके द्वारा जो अखण्ड केवलज्ञान हुआ है वह उसका (शुद्धनयका) प्रगट हुआ विषय है, उसका उपचार करके जो विषय प्रगट हुआ उसे शुद्धनय कह दिया है।

(१) द्रव्य प्रगट नहीं होता, किन्तु पर्यायके द्वारा स्वद्रव्यके आलम्बनसे निर्मल अवस्था प्रगट होती है, तथापि स्वाश्रयसे जो नवीन अवस्था प्रगट हुई उसे कारणमें कार्यका उपचार करके यह कह दिया है कि द्रव्य प्रगट हुआ है। जैसे वस्तुकी यथार्थ प्रतीति होने पर यह कहा जाता है कि–सम्पूर्ण वस्तुकी प्राप्ति हुई है।

(२) शुद्धनयका विषय अखण्ड द्रव्य होने पर भी केवलज्ञान पर्यायको उपचारसे ही शुद्धनयका विषय कहा है। पर्यायके अनुभवको उपचारसे द्रव्यका अनुभव कहा है।

(३) शुद्धनयने जिस केवलज्ञानको अपना विषय बनाया उसे शुद्धनयके फलरूपसे (विकल्प रहित प्रगट भावको) शुद्धनय कह दिया है। केवलज्ञानमें विकल्प–भेद नहीं है इस अपेक्षासे यद्यपि केवलज्ञान प्रमाण है तथापि उसे शुद्धनय कह दिया है।

(४) केवलज्ञान पर्याय है, व्यवहारका विषय है, तथापि उसे प्रमाणकी अपेक्षासे शुद्धनयका विषय कह दिया है।

यद्यपि कथन पद्धति भिन्न है तथापि उसमें अपेक्षाका मेळ कैसे है, यह कहते हैं:—यद्यपि यह कहा है कि शुद्धनयको केवलज्ञानमें अनुभव करते हैं किन्तु वहाँ अनुभव तो सम्पूर्ण प्रमाणज्ञानका है; उसमें द्रव्य अथवा पर्यायको विषय करने वाला क्रमरूप ज्ञान नहीं है इसलिये केवलज्ञानमें नय नहीं है। नय तो अपूर्ण ज्ञानमें होता है, तथापि वहाँ शुद्धनय जाना हुआ प्रयोजनवान है, अर्थात् तत्सम्बन्धी ज्ञान अखंड

हो गया है, उसमें युक्त होना (जुड़ना) शेष नहीं रह गया है; और यह ज्ञात हो गया है कि—केवलज्ञानरूप सम्पूर्ण स्वरूप क्या है; अब कुछ विशेष जानना शेष नहीं रहा, यही प्रयोजन है। केवलज्ञान प्रमाण प्रगट हुआ है, नय प्रगट नहीं हुआ; किन्तु नयका विषय अखण्ड द्रव्यमें अभेदरूपसे जुड़ गया है।

केवलज्ञान प्रमाण है तथापि उसे शुद्धनयका विषय कहा है। जो केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट हुई है यह व्यवहार है, उसे शुद्धनयका विषय प्रगट हुआ कहा है, अर्थात् जो पर्याय प्रगट हुई है उसे द्रव्यका प्रगट होना कहा है; इस प्रकार जिसे यथार्थ वस्तुकी प्रतीतिकी प्राप्ति हुई उसे वस्तुकी—ज्ञायकस्वभावकी प्राप्ति हुई ऐसा कहनेमें प्रतीतिरूप प्रगट हुई पर्यायमें पूर्ण वस्तुका विषय किया गया कहलाता है, क्योंकि—द्रव्यका लक्ष करनेवाली पर्याय स्व—द्रव्यके आश्रयसे नई प्रगट हुई है, उसमें द्रव्य प्रगट हुआ है अथवा सहज एक ज्ञायकस्वभाव प्रगट हुआ है इस प्रकार कारणमें कार्यका उपचार करके कहा जाता है। द्रव्यका अनुभव नहीं हो सकता किन्तु पर्यायका अनुभव होता है, वस्तु वेदी नहीं जाती। यदि अवस्थाको अपनी ओर करे तो अच्छे—बुरेकी भेदरूप आकुलताका वेदन नहीं होगा; किन्तु परलक्षसे अच्छा—बुरा मानकर मैं सुखी हूँ—मैं दुःखी हूँ ऐसी कल्पना करके आकुलताका वेदन करता है। शुभाशुभ पुण्य-पापकी भावना ही आकुलता है।

सर्वज्ञ भगवानका उपदेश तलवारकी धारके समान है। उसके द्वारा जो यथार्थ वस्तुको समझ लेता है वह भव-बन्धनको काट देता है। अनन्तकालसे सत्यको नहीं समझा था, उसे जब समझा तब अखण्ड ध्रुव वस्तुके लक्षसे निर्मल पर्याय प्रतीति भावसे प्रगट हुई उसका अभेद स्व—विषय अखण्ड आत्मा है इसलिये उसकी प्रतीतिकी प्राप्तिको स्वरूपकी प्राप्ति कहा जाता है, और यह कहा जाता है कि—सम्पूर्ण आत्माका अनुभव कर लिया किन्तु सम्पूर्ण आत्माका अनुभव नहीं होता, लेकिन वर्तमानमें रहनेवाली अवस्थाका अनुभव होता है।

आत्मामें शक्तिरूपसे सदा ध्रुवरूपमें अनन्तगुण विद्यमान हैं, 'गुण प्रगट हुआ' इस कथनका अर्थ यह है कि—गुणकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई। शास्त्रोंमें पर्यायका गुणमें और गुणका द्रव्यमें आरोप करके कथन करनेकी पद्धति है। यदि अखण्ड वस्तुकी पहिचान करानी हो तो प्रस्तुत समझनेवाला आत्मा वर्तमान अवस्थाके द्वारा समझता है और वर्तमान प्रगट होनेवाली अवस्था द्रव्यके आश्रयसे द्रव्यसे सुधरती है।

बारहवीं गाथामें चारित्रका जघन्य भाव पांचवें गुणस्थानसे लिया है। अनुत्कृष्टका अर्थ मध्यम है। प्रारम्भका चौथे गुणस्थानका जघन्य अंश यहां नहीं लेना है। अंशतः जघन्य भाव स्वरूपाचरण-चारित्र सम्यग्दर्शनके होते ही चौथे गुणस्थानमें आ जाता है; क्योंकि सामान्य अकेला (विशेष रहित) नहीं होता। प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ आदि पादोंकी परंपरा अर्थात् सम्यग्दर्शनके बाद अन्तर स्थिरताका एकाग्रताकी वृद्धिका प्रारम्भ पाँचवेंके बाद छठवें—सातवें गुणस्थानसे लेकर जहाँ तक पूर्ण वीतराग न हो वहाँ तक मध्यम भावकी [illegible] है।

सुननेकी ओरका जो शुभराग है वह भी सम्यक्‌दर्शनका कारण नहीं है। जिससे यथार्थ उपदेश मिलता है उस यथार्थ पर भार है। यथार्थका कारण स्व-द्रव्य स्वयं ही है। जो उपदेश मिलता है सो तो संयोगी शब्द हैं, और उसमें जो आशयरूप यथार्थ उपदेश है अर्थात् जो अपनी यथार्थता, असंग ज्ञायक अविकारीपन लक्षमें आता है वह स्वाश्रित लक्ष निमित्तसे नहीं होता; निमित्त और सुननेके रागको भूलकर जहाँ स्वोन्मुख हुआ और यह ज्ञान किया कि यह वस्तु यथार्थ है वह यथार्थका छोटेसे छोटा अंश है। रागसे आंशिक छूटकर जहाँ यथार्थ निःसंदेहपनकी प्रगट रुचि होती है वहाँ स्व-विषयसे सम्यक्-दर्शन होता है, उसमें निमित्त कुछ नहीं करता।

धर्मको समझनेके लिये पहले जो व्यवहार आता है वह क्या है, यह यहाँ कहा जाता है। सुननेसे पात्रता नहीं आती, क्योंकि–साक्षात सर्वज्ञ भगवानके पास जाकर अनन्तवार सुना है तथापि कुछ नहीं समझा। किन्तु जब तत्त्वका जिज्ञासु होकर, जो कहा जाता है उसका यथार्थ भाव अपने यथार्थपनसे समझ लिया तब अहो! यह अपूर्व वस्तु है, मैं पूर्ण हूँ, निरावलम्बी; अविकारी असंयोगी, ज्ञायक हूँ, विकल्पस्वरूप नहीं हूँ इस प्रकार अन्तरंगमें स्व-लक्षसे प्रतीति की तब वाणीमें जो यथार्थता कहना है वह स्वतः निश्चित् करता है।

सम्यक्त्व होनेसे पूर्व पांच लब्धियाँ होती हैं, उनमेंसे जो यथार्थ उपदेश है सो देशनालब्धि है। इसका नियम यह है कि एकवार पात्र होकर सत्‌समागमसे ज्ञानीके पाससे ऐसा शुद्धनयका उपदेश कानमें पड़ना चाहिये कि मैं अखण्ड ज्ञानानन्द हूँ, असंग हूँ, अविकारी हूँ। इसमें पराधीनता नहीं है किन्तु जहाँ उपादान तैयार होता है वहाँ सच्चे संयोग अवश्य होता है।

आठवीं गाथामें भी पांच लब्धियोंके रूपमें बात की गई है। "आँखें फाड़कर टुकुर-मुकुर देखता ही रहता है" इसमें क्षयोपशम, देशना, प्रायोग्य और विशुद्ध यह चार लब्धियाँ हैं और "अत्यंत आनंद-

से सुनकर [illegible] है। [illegible]
क्या है, [illegible]
समझनेसे [illegible]
स्वभावका [illegible]
भूल गया और [illegible]
उसमें अपना ही कारण है।

उपादानमें तैयारीका जैसा पुरुषार्थ होता है वैसा ही निमित्त (उसके कारणसे) उपस्थित होता ही है। कोई किसीके आधीन नहीं है। उपादान और निमित्त दोनों स्वतंत्र हैं। जिसकी सत्‌को समझनेकी तैयारी होती है उसके ऐसा पुण्य तो होता ही है कि—यथार्थ विचार करने पर यथार्थ संयोग अवश्य मिलता है।

निमित्तका ज्ञान करानेके लिये ऐसा कहनेमें आता है कि निमित्तके बिना कार्य नहीं होता, किन्तु निमित्तसे भी नहीं होता। यदि निश्चयसे यह माने कि निमित्तसे समझा है तो आशयमें बड़ा अन्तर होता है। स्वतन्त्र उपादान–निमित्तका ऐसा मेल है। किन्तु उसका अर्थ परमार्थसे जैसा है वैसा ही समझना चाहिये। श्रीमद् राजचन्द्रने कहा है कि:—

"बुझी चहत जो प्यासको, है बूझनकी रीति,
पावे नहिं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थिति।
यही नहीं है कल्पना, ये ही नहीं विभंग,
कयि नर पंचम कालमें, देखी वस्तु अभंग।"

साक्षात् ज्ञानीके पाससे सुनना ही चाहिये—यह कल्पना नहीं है, किन्तु जिसके उपादानमें सत्‌की तैयारी हो चुकी है उसे ऐसा साक्षात् निमित्त अवश्य मिलता है। जब तृषातुरको पानीकी चाह होती है और उसे पानीकी तीव्र आकांक्षा होती है तब यदि उसका पुण्य हो तो उसे पानी मिले विना नहीं रहता, इसीप्रकार जहाँ अन्तरंगसे परमार्थ तत्त्वको समझनेकी अपूर्व आकांक्षा होती है, सत्‌की ही तीव्र आकांक्षा होती है वहाँ सत् उपदेशका निमित्त उसके स्वतंत्र

कारणसे उपस्थित होता है। जो प्रत्यक्षमें सद्गुरुके आशयको समझकर स्व-लक्ष करता है वह यथार्थ तत्त्वके रहस्यको इस कालमें भी प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार उपादान और निमित्तका सहज संयोग तो होता ही है ऐसी अनादिकालीन मर्यादा है। अन्तरंगमें यथार्थता है इसलिये उसके आदरसे जो सत्की बात रुचती है वह अपने भावसे ही रुचती है, परसे नहीं।

प्रश्नः—इसमें व्यवहार क्या है?

उत्तरः—जिनसे उपदेश सुना उनपर शुभरागसे भक्ति-बहुमान होता है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और मिथ्या आचरणका आदर दूर करके रागकी दिशा बदली जाती है। संसारके स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा, कुटुम्ब, तथा देहादिका राग कम करके; संसारपक्षके रागसे अधिक राग देव, गुरु, शास्त्र और धर्म सम्बन्धी रहता है। जितना अशुभराग कम किया जाता है, उतना शुभराग होता है। वहाँ शुभरागका भी निषेध करके यथार्थ तत्त्वको समझे तो शुभभावको व्यवहार कहा जाता है किन्तु उस शुभ-रागकी सहायतासे यथार्थता नहीं आती। अशुभसे बचनेके लिये शुभ राग करे किन्तु मात्र राग ही राग रहे और यथार्थ कुछ भी न करे तो रागसे बाँध हुआ पुण्य भी अल्पकालमें छूट जाता है।

यदि जिन-वचनोंके आशयका विचार करते हुए यथार्थताका अंश प्रगट करे और अपनी ओर अंशतः आये तो उस यथार्थताको निश्चय कहा जा सकता है। उपदेशको सुना तथा सुननेका शुभराग किया उसे व्यवहार (उपचारसे निमित्त) कहा जाता है।

इसमें 'यथार्थ'के गूढ़ अर्थकी बात है, वह समझने योग्य है। यद्यपि उपादानसे काम हुआ है निमित्तसे नहीं हुआ तथापि निमित्तकी उपस्थिति थी। मनसे आत्माका खूब विचार करनेसे यथार्थ प्रतीति नहीं होती। आत्मा तो मन, वाणी, देह शुभराग और उसके अवलम्बनसे पृथक् उस पार है। उसको ग्रहण करनेका विषय गम्भीर है। एक वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ परमार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अज्ञानसे परके

आधीन होकर प्रगट होता है ऐसा बताने वाले वीतरागके वचन नहीं हो सकते। इसमेंसे अनेकानेक सिद्धान्त निकलते हैं। प्रत्येक आत्मा तथा अपने आत्माके अतिरिक्त प्रत्येक चेतन तथा जड़वस्तु अनादि-अनन्त स्वतंत्र वस्तु है। किसीका द्रव्य-गुण-पर्याय किसी अन्यके आधीन नहीं है। कोई किसीके गुण अथवा किसी पर्यायको नहीं बनाता, कोई किसीका कर्ता नहीं है। वस्तुकी सम्पूर्ण शक्ति स्वतंत्रतासे सदा परिपूर्ण बनी रहती है, उस शक्तिको प्रगट करनेके लिये किसी संयोग, क्षेत्र, काल या आश्रयकी आवश्यकता नहीं होती। गुणके लिये किसी निमित्तकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। अपने गुणकी दूसरेसे आशा रखना अपनेको अकिंचित्कर मानना है। वीतरागके निस्पृहता होती है, वे सबको पूर्ण स्वतंत्र प्रभुरूप घोषित करते हैं।

यदि कोई यह कहे कि—मैं तुझको समझाये देता हूँ तो समझना चाहिये कि—उसने उस व्यक्तिको परतंत्र माना है और उसकी स्वतंत्रताका अपहरण किया है। लोगोंकी परोपकारकी बातें करने वाला बहुत अच्छा मालूम होता है किन्तु वास्तवमें तो अपना उपकार या अपकार अपने भावोंसे अपनेमेंसे ही होता है। उसे पर—संयोगसे हुआ कहना घीका घड़ा कहनेके समान व्यवहारमात्र है; इसलिये वह परमार्थसे बिल्कुल अयथार्थ है। लोग व्यवहारमें घीके संयोगसे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहते हैं, तथापि वे उसके वास्तविक अर्थको समझते हैं।

इसीप्रकार शास्त्रमें कहीं—कहीं निमित्तसे कथन होता है किंतु उसका परमार्थ भिन्न होता है। उस कथनको समझते हुये यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिये कि किसीसे किसीका कोई कार्य नहीं होता।

कोई विचार करता है कि—जिसका सत् स्वतः स्वभाव है ऐसी पूर्ण वस्तुको समझने वालोंके अभिप्रायका निष्कर्ष निकाल लेना चाहिये, जैसा वे समझे हैं वैसा ही हमें भी समझना है; इस प्रकार अपनेको ग्रहण करनेके आदर-भावसे सत्-समागम करे तो वह सत्समागम व्यवहारसे निमित्त कहलाता है।

मतिज्ञानके चार भेद हैं:—

(१) अवग्रह—वस्तुके बोधको ग्रहण करना।

(२) ईहा—वस्तु क्या है इसके निश्चय करनेका विचार करना।

(३) अवाय—यह वस्तु ऐसी ही है, अन्यथा नहीं है ऐसा निर्णय करना।

(४) धारणा—जिस ज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें कालान्तरमें संशय तथा विस्मरण न हो।

इस प्रकार नित्य स्वभावाश्रित जिस स्वतत्वकी धारणासे धारण किया उस सत्के निर्णयकी अस्ति है, यदि उससे विरोधी असत् बातको सुने तो उसे उसकी नास्ति होती है अर्थात् निषेध होता है। इस प्रकार यथार्थ वस्तु क्या है इसका बोध मतिज्ञानमें धारणा कर रखे।

जब तक निःसंदेह होकर यथार्थ तत्त्वको न जाने तब तक बारम्बार उसी बातको अस्ति-नास्ति पूर्वक सुने और अस्तिकी ओर भार देकर लक्षको स्थिर करे तो वहाँ सहज ही शुभराग हो जाता है। लोग कहते हैं कि यदि "शुभ व्यवहार न किया जाय अथवा शुभराग न करें तो धर्म कैसे किया जायेगा?" किन्तु अस्तिस्वभावकी ओर लक्ष और भार दिया कि वहाँ रागकी दिशा बदल ही जाती है।

यहाँ जिस वस्तुको सुना है उसे अविरोधी रूपमें ऐसा दृढ़ करे कि उसमें कदापि संशयरूप विरोध न आये इस प्रकार भलीभाँति परिचय करके, विरोधको दूर करके अविरोधी तत्वको भलीभाँति समझना चाहिये, और परमार्थ तत्व क्या है तथा उसे बताने वाले सच्चे देव, गुरु, शास्त्र एवं नव तत्वका यथार्थ स्वरूप क्या है यह जानना चाहिये; क्योंकि यह प्रारम्भसे ही प्रयोजनभूत तत्व है।

जैसे दूर देशमें मालका लेन-देन करनेके लिये आढ़तिया रखा जाता है, उसके साथ थोड़ासा परिचय होनेके बाद यह विश्वास जम जाता है कि यह ईमानदार है—इसने न तो किसीको ठगा है और

न हमें ही धोखेमें डाल रहा है। इसके बाद बहुत लम्बे समय तक यह विश्वास बना रहता है और उसके प्रति कोई शंका नहीं होती। इसी-प्रकार सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको अविरोधरूपसे जानने पर अल्प परिचयसे ही यह निश्चय हो जाता है कि उनमें कहीं किसी भी प्रकारसे कोई विरोधी तत्व नहीं है। इसके बाद कोई मिथ्यात्वत्यागी साधुवेशी अथवा कोई भी चाहे जैसी युक्तिपूर्वक विरोध भावको लेकर धर्म संबंधी तर्क करे तो भी स्वतत्वमें और देव, गुरु, शास्त्रमें किंचितमात्र भी शंका नहीं होती, तथा किसी भी प्रकार मन नहीं उलझता। किन्तु जिसे सत्यका मूल्य नहीं है और जिसे सत्यके प्रति सुदृढ़ श्रद्धा नहीं है वह कहता है कि 'हम क्या करें? हमें तो त्यागी–साधु युक्ति और तर्क द्वारा जो जैसा समझाते हैं अथवा कहते हैं वह हमें स्वीकार करना ही होता है।' किन्तु उन्हें यह खबर नहीं होती कि इससे तो उनका सम्पूर्ण स्वतंत्र तत्व ही लुट जाता है। इसलिये सद्गुरुकी ठीक परीक्षा करनी चाहिये। यह कहना घोर अज्ञान है कि हमारी तो कुछ समझमें ही नहीं आता और अज्ञान कोई भला बचाव नहीं है।

सद्गुरुको यथार्थतया पहिचाननेके बाद उनके प्रति सच्ची भक्ति होती है। जिनसे यथार्थ वस्तु सुननेको मिली है उनके प्रति भक्तिका शुभराग होता ही है। तत्वको यथार्थ समझनेके बाद भी उसको विशेष दृढ़तासे रटते हुए उसे बारम्बार रुचिपूर्वक सुने और उस सच्चे निमित्तको उपकारी जानकर उसका बहुमान किया करे। उसमें परमार्थसे अपने गुणका बहुमान है, इतना ही नहीं किन्तु व्यवहारसे सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको यथार्थ तत्वका कहने वाला जानकर उनकी ओर भक्ति–विनय–बहुमान होता है, अर्थात् भक्तिका शुभराग हुए बिना नहीं रहता। अविकारी यथार्थ स्वभावका जो लक्ष है और उसका जो रटन है, उसके बलसे जितना राग कम होता है उतना अपने लिये लाभ मानता है, और जो राग-द्वेष है उसे बन्धका कारण जानकर अन्तरंगसे समस्त रागको त्याज्य मानता है।

यदि कोई देव, गुरु, शास्त्र सम्बन्धी शुभरागको प्राह्य माने अथवा उस शुभरागको लाभ कारक माने या उसे करने योग्य समझे तो वह वीतरागके प्रतिका राग नहीं किन्तु रागका राग है। क्योंकि उसे वीतरागताके गुणकी प्रतीति नहीं है कि मैं रागका नाशक हूँ।

वीतरागका उपदेश आत्माको पर-सम्बन्धसे रहित, अविकारी, पूर्ण निर्मल स्वतंत्र बताने वाला होता है। आत्माके साथ जो संयोगी कर्म (एक क्षेत्रमें) है उससे आत्मा बद्ध नहीं है, किन्तु परमार्थसे अपनी भूलके बन्धनभावसे बद्ध है। बन्ध और मोक्ष किसी की पराधीनतासे नहीं होते, किन्तु आत्माके भावसे होते हैं। यहाँ ऐसे यथार्थ वचन हैं या नहीं इस प्रकार श्रवण करने वालेको अपनी निजकी तैयारी और उपदेशकी परीक्षा करनेका उत्तरदायित्व लेना होगा।

आत्माका ऐसा पराधीन और शक्तिहीन स्वरूप नहीं है कि किसी परसे लाभ हो अथवा कोई दूसरा समझाये तो तत्त्व प्रगट हो। तत्त्वको श्रवण करनेका भाव भी शुभविकल्प या शुभराग है। उस पर-संयोगसे और रागसे असंयोगी, अविकारी, वीतराग स्वरूप प्रगट नहीं होता। किन्तु स्वतन्त्रता यथार्थता क्या है इसके अंशको जब स्वयं उमंगपूर्वक अनुभव पूर्वक प्रगट करे तब उपदेश और उसे सुननेकी ओरके शुभराग पर आरोप करके उसे निमित्त कहा जाता है।

जो वचन आत्माको परसे बन्धनयुक्त बतलाते हैं उनका अर्थ यह हुआ कि जब पर-पदार्थ मुक्त करे तब आत्मा मुक्त होगा। और ऐसा होनेसे आत्मा पराधीन एवं शक्तिहीन कहलायेगा। जो शक्तिहीन होता है या पराधीन होता है वह स्वतन्त्र पृथक् तत्त्व नहीं कहा जा सकता। कोई यह मानते हैं कि समस्त आत्मा एक परमात्माके अंश हैं, सब मिलकर एक ब्रह्मरूप वस्तु हैं, किन्तु ऐसा माननेसे स्वाधीन सत्ताका अभाव हो जायेगा। वास्तवमें तो इस मान्यतामें प्रत्यक्ष विरोध आता है, क्योंकि संसारमें रहकर भी प्रत्येक आत्मा अलग-अलग अकेला ही दुःख भोगता है।

कोई कहता है कि "देहसे मुक्त होने पर आत्मा पर-

परमात्माकी सत्तामें मिल जाता है" किन्तु यदि यह सच हो तो अर्थात् दुःखोंके भोगनेमें अकेला और सुखदशामें किसीकी सत्तामें मिल जाने वाला हो तो उसमें स्वतंत्रता कहाँ रही? इसलिये उपरोक्त मान्यता मिथ्या है। इस प्रकार यथार्थ स्वतंत्र स्वरूपमें विरोधरूप मान्यताओंको दूर करके यथार्थ परिपूर्ण स्वतंत्र वस्तुका निर्णय करनेके लिये आत्मामेंसे निश्चयका अंश प्रगट करना होता है। अविकारी निरालम्बी, असंग स्वभावकी श्रद्धा विकारका नाश करने वाली है; ऐसे यथार्थ तत्त्वको बताने वालेका निर्णय करने वाला भी आत्मा ही है।

प्रथम उपदेश सुनने पर परमार्थकी अप्रगट रुचि की है, उस उपदेशमें यथार्थता कैसे आशयकी है, मैं किस प्रकार असंग, अविकारी, निरावलम्बी हूँ; यह परमार्थसे सुनकर जो निराला स्वतत्त्वकी ओर झुकने वाला निश्चयका अंश है सो परमार्थसे श्रद्धाका कारण है।

मैं परसे बद्ध नहीं हूँ, परवस्तु मेरा हानि-लाभ नहीं कर सकती, मैं रजकण तथा रागसे पृथक् हूँ, मात्र अज्ञानसे (अपनी भूलसे) बन्धा हुआ था। विकार क्षणिक है, वह मेरा नित्यस्वभाव नहीं है, मैं नित्य ज्ञायक हूँ, इस प्रकारका अप्रगट आशय जब अंतरंगमें आता है तब भाव-बंधनको दूर करनेका आंशिक उपाय प्रारम्भ होता है। जब अव्यक्त रुचि यथार्थ तत्त्वकी ओर प्रारम्भ हुई तब सुननेका अवलम्बन छोड़कर अपनी ओर लक्ष किया और सत्को स्वीकार करने वाले यथार्थको स्वीकार किया; उतना ही अयथार्थसे भिन्नरूपको समझनेका यथार्थ उत्तरदायित्व आ जाता है। इस प्रकार श्रवण होने पर अपने भावसे स्वतः लाभ निकाल लेता है, रागसे लाभ नहीं होता। जहाँ परवस्तु पर लक्ष होता है वहाँ रागका विषय होता है, वह राग विकार है। मैं रागरूप नहीं हूँ, ज्ञानरूप हूँ; इस प्रकार अविकारी असंगभाव उपदेशमें कहना चाहते हैं, ऐसा अभिप्राय यह अन्तरंग लक्षसे निश्चित करता है।

अहो! यह वस्तु ही निराली है, पूर्ण है, अविकारी है, इस प्रकार यथार्थको जिस भावसे निश्चित करता जाता है वह भाव यथार्थ

निश्चयनयको [illegible] रागसे, परसे [illegible] परमार्थतः [illegible] अंतरंगसे निर्णय करे कि [illegible] जब यह समझ लेता है [illegible] है, तथा वह [illegible] है। [illegible] अर्थात् यथार्थ स्वतंत्र तत्त्वकी प्रतीतिपूर्वक [illegible] है। राग-द्वेष, अज्ञान, पराश्रयसे होता है, जो कि क्षणिक है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जो प्रतीतिपूर्वक राग-द्वेष और अज्ञानका नाश करता है वह जिन (जीतने वाला) है। इसमें अनेक अर्थोंका समावेश हो जाता है; जैसे—विकार जीतने योग्य है, उसे जीतने वाला अविकारी है; विकार क्षणिक और एक समयकी अवस्था वाला है तथा उसका नाश करने वाला स्वभाव विकार रहित त्रिकाल-स्थायी है। यद्यपि विकारसे अनन्तकाल व्यतीत हो गया है तथापि स्वभावमें ऐसी अपारशक्ति है कि वह एक समयमें ही उस विकार अवस्थाको बदल कर अनन्त अविकारी शुद्ध शक्तिको प्रगट कर सकता है। विकारी अवस्थामें परके आश्रयसे अनन्त विकार कर रहा था, उसे दूर करके जब स्वतंत्र स्वाश्रयके द्वारा ध्रुवस्वभावकी ओर जाता है तब जो अनन्त अविकारी भाव अपनेमें पहलेसे ही विद्यमान था वही भीतरसे प्रगट हो जाता है; वह कहीं परसे अथवा बाहरसे नहीं आता। विकारके होनेमें अनेक प्रकारसे निमित्त होते हैं शुभराग भी परके लक्षसे होता है। मुझमें परवस्तुकी नास्ति है। परके द्वारा मुझे त्रिकालमें भी कोई गुण-दोष या हानि-लाभ नहीं हो सकता और मैं भी परका कुछ नहीं कर सकता। शुभ राग भी विकार है, विकार अविकारी गुणके लिये सहायक नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्ण स्वतंत्रताको बताने वाला यथार्थ ज्ञानी है। अपनेमें यथार्थको स्वीकार करने वाले, समझाने वाले वीतरागी गुरुको उपकारी निमित्त माननेसे शुभ-

रागरूप भक्ति-भाव उछले विना नहीं रहता। अभी रागदशा विद्यमान है इसलिये उसे कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रकी ओर न ले जाकर सच्चे देव, गुरु, शास्त्रके प्रति परिचयके बहुमानसे शुभ–भक्ति और विनय करता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेसे पूर्व सच्चे निमित्तकी ओरका शुभ–व्यवहार अवश्य होता है। किन्तु यदि दूसरा समझा दे अथवा दूसरेसे समझा हुआ माने तो स्वयं पराधीन सिद्ध होगा, किंतु त्रिकालमें भी आत्मा पराधीन नहीं है, उसे कोई दूसरा सहायक नहीं हो सकता।

परमार्थ जिनेन्द्रके स्वरूपको बताने वाला वीतरागी गुरु कौन है, क्या जीतना है, जीतने वाला कौन है, अवगुणका नाश करके सदा गुणरूप स्थिर रहने वालेका क्या स्वरूप है, इत्यादिका यथार्थ निर्णय न करे और मात्र सुनता रहे तो कोई बाहरसे कुछ नहीं दे देगा। स्वयं जैसा भाव करेगा वैसा फल मिलेगा। मैं निरावलम्बी, अविकारी, स्वतंत्र, असंग हूँ ऐसी प्रतीतिके विना पुण्य-पाप करके अनन्तवार चौरासीमें जन्म-मरण किया। धर्मके नाम पर शुभभावसे अनेक क्रियायें करके अनन्तवार देवलोकमें गया। पाप करके देवलोकमें नहीं जाया जाता किन्तु पुण्य करके ही जा सकते हैं, इसलिये उस पुण्यके शुभभाव नवीन (अपूर्व) नहीं हैं। अपूर्व क्या है यदि ऐसी यथार्थको समझनेकी उमंग हो तो यथार्थ सतको समझाने वाले वीतरागी गुरुको पहिचान ले और उनका आदर करे, किन्तु यदि अपनी शक्तिको स्वीकार करके स्वयं न समझे तो उसे निमित्त नहीं समझा सकता। जो समझता है वह अपने आप समझता है, तब वह अपनी पहिचानका बहुमान करनेके लिये गुरुको उपकारी मानकर उनकी विनय करता है। समझनेके बाद जब तक राग दूर नहीं हो जाता तब तक सत्के निमित्तोंकी ओर शुभराग रहता ही है। जिसे अपने स्वरूपको समझनेकी रुचि होती है उसे मुमुक्षु रहकर सत्समागमको ढूँढ़ना होता है और सत्की पहिचान होने पर देव, गुरु, शास्त्रके प्रति शुभ-रागका होना इतना सुनिश्चित होता है जैसे प्रातःके बाद सन्ध्याका

होना। क्योंकि उसमें स्व-लक्षसे चिदानन्द सूर्यका अखण्ड अनन्त प्रकाश प्रगट होना है।

वीतरागके वचनोंको धारण कर रखनेका अर्थ है कि–वे जो कुछ कहते हैं उसे यथार्थ समझना। परवस्तुसे, पुण्य–पापसे त्रिकालमें भी धर्म नहीं हो सकता। अन्यकी सहायतासे आत्माके गुण प्रगट नहीं होते। अन्यसे कोई लाभ–हानि नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु त्रिकाल भिन्न है। लाभ–अलाभ अपने भावसे होता है। ऐसी प्रतीति गृहस्थ और त्यागी दोनोंके लिये है। अन्य पदार्थसे अथवा द्रव्य दान आदिसे पुण्य नहीं होता किन्तु यदि तृष्णा कम करे तो अपने भावसे पुण्य होता है। मात्र परकी हिंसा पापका कारण नहीं है किन्तु अपना हिंसारूप प्रमाद-भाव ही वास्तवमें हिंसा है, वह अपने ही गुणका घात है। इसमें स्वतंत्र तत्त्वका निर्णय होता है। वीतराग मार्गमें कोई पक्षपात नहीं है, वीतराग सबको वस्तुरूपमें स्वतंत्र घोषित करते हैं।

किसीकी कृपासे स्वतंत्र आत्मतत्वके गुण प्रगट होते हैं, ऐसे पराधीनताको बतानेवाले वीतरागके वचन नहीं हैं। पुण्यसे, शुभ-रागसे अथवा शरीरादि परवस्तुसे लाभ होता है, आत्मधर्म होता है, आत्माके गुणके लिये वैसा व्यवहार करना चाहिये ऐसा कथन करनेवाले वीतरागके वचन नहीं होते। पुण्य–पाप और धर्म अपने भावानुसार ही होता है।

संसारमें दूसरेके लिये कोई कुछ नहीं करता। कोई पुरुष अच्छे वस्त्राभूषण अपनी स्त्रीके लिये नहीं लाता किन्तु स्त्रीके प्रति ममता है, राग है इसलिये उस रागको पुष्ट करनेके लिये जिसे लक्ष बनाया है उस स्त्री आदिमें (रागके खिलोनेमें) इच्छित शोभा न होनेसे वह अपनेको अनुकूल नहीं लगती। और जब अपना इच्छित पहनाव-उढ़ाव दिखाई देता है तब उस पर आँखें जमती हैं; इसलिये वह जो कुछ करता है अपने रागको पुष्ट करने लिये करता है। इसीप्रकार लोग अपने पुत्रको पढ़ाते हैं, उसका व्याह रचाते हैं और उसके नाम

उसका वैभव और उमंग—तरंग उछले विना नहीं रहती (इस दृष्टांतका एक अंश सिद्धान्तमें लागू होता है) इसी प्रकार आत्माके यथार्थ स्वरूपकी ओर अप्रगट लक्ष हुआ है किन्तु अभी निश्चय अनुभव सहित सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं किया है, वहाँ भी निर्दोष वीतराग गुरु मेरी स्वतंत्रताको प्रगट करनेवाले हैं मुझे मोक्ष देने वाले हैं, इस प्रकार अत्यन्त विनय पूर्वक बहुमानसे भक्ति किये विना नहीं रहता।

जिसे परमार्थकी रुचि पुष्ट करनी है वह सच्चे देव, गुरु, शास्त्रके प्रति शुभराग करके यह पहले जान लेता है कि—सच्चे गुरु कौन हैं। सच्चे गुरु परमार्थ स्वरूपको बताने वाले हैं (निश्चयसे तो आत्मा ही अपना गुरु है) वे (गुरु) शिष्यको बतलाते हैं कि सिद्ध और अरहन्त केवलज्ञानी परमात्मा कैसे होते हैं, उनका स्वरूप क्या है, जिनसे आत्माकी प्रतीति होती है। इसलिये प्रत्यक्ष सद्‌गुरु विशेष उपकारी हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजीने आत्मसिद्धिमें कहा है कि:—

"प्रत्यक्ष सद्‌गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार;
ऐसा लक्ष हुए विना, उगे न आत्म-विचार।"

सद्‌गुरुके प्रत्यक्ष उपकारका निर्णय किये विना वास्तवमें आत्माके विचारका उद्‌भव नहीं होता। यह बताने वाले प्रत्यक्ष श्री सद्‌गुरु ही हैं कि—परोक्ष उपकारी श्री जिनदेव कैसे थे और उन्होंने क्या कहा था। यदि सम्पूर्ण स्वभावको बताने वाले साक्षात श्री सद्‌गुरुको न पहिचाने और उनका बहुमान न करे तो पूर्णानंद परमात्माके स्वरूपको नहीं जाना जा सकता, और उनके यथार्थ स्वरूपको समझे विना परमार्थ स्वरूप नहीं समझा जा सकता, इसलिये साक्षात् ज्ञानीको पहिचानकर उनकी विनय करनेको पहले कहा है। यदि साक्षात् उपकारी श्रीगुरुकी विनय न करे तो अपने परिणामोंका अवलम्बन करना नहीं आ सकता, जो कि विवेक की अपनी बड़ी भारी भूल है। जो साक्षात ज्ञानीको नहीं पहिचानता, उनकी विनय नहीं करता, और परोक्ष

ते हैं और अपने पदके अनुसार (जब कि–छठवें गुणस्थानमें होते तब) शुभभावमें भी प्रवृत्ति करते हैं। गृहस्थोंको अशुभरागके अनेक मित्त हैं अतः अशुभरागसे वचनेके लिये वारम्वार यथार्थ तत्त्वका देश तथा उपरोक्त शुभ व्यवहार आता है किन्तु उस शुभरागकी मर्यादा य-बन्ध जितनी ही है, उससे धर्म नहीं होता। तथापि परमार्थ रुचिमें गे चढ़नेके लिये वारम्वार धर्मका श्रवण एवं मनन करते रहते हैं। से संसारकी रुचि है वह वारम्वार नाटक-सिनेमा देखता है, उपन्यास कहानियाँ पढ़ता है–सुनता है, नई वातको जल्दी जान लेता है, इसी कार जिसे धर्मके प्रति रुचि है वह धर्मात्मा वारम्वार यथार्थ तत्त्वका रिचय करके अशुभसे वचने और स्वरूपकी ओरकी स्थिरता–रुचि खनेके लिये वारम्वार शास्त्र-स्वाध्याय करता है, उपदेश सुनता है, जैनप्रतिमाके दर्शन करता है, पूजा करता है और गुरुभक्ति इत्यादि शुभभावमें युक्त रहता है तथा रागको दूर करनेकी दृष्टि रखकर उसमें प्रवृत्ति करता है। विशेप रागको दूर करनेके लिये परद्रव्यके अवलम्वनके त्यागरूप अणुव्रत महाव्रतादिका ग्रहण करके समिति–गुप्तिरूप प्रवृत्ति, पंचपरमेष्टीका ध्यान, सत्संग और शास्त्राभ्यास इत्यादि करता है। यह सव अशुभसे वचने और विशेप राग-रहित भावकी ओर जानेके लिये है।

व्रतादिका शुभभाव आस्रव है, और अविकारी श्रद्धा, ज्ञान तथा निर्विकल्प स्थिरताका भाव वन्ध–रहित निरास्रव है। दृष्टिमें पूर्ण वीतराग निरावलम्विता है। वर्तमान अवस्थामें जितना परद्रव्यका अवलम्वन छोड़कर निरावलम्वी स्वरूपमें रागरहित स्थिरता रखे उतना चारित्रभाव है। तत्त्वज्ञानके यथार्थ होने पर भी गृहस्थदशामें स्त्री, कुटुम्ब, धन, देहादिकी ओर अशुभभाव होता है। यथार्थ प्रतीति होते ही सवके त्यागीपन नहीं होता, इसलिये अशुभ अवलम्वनरूप पाप-भावसे वचनेके लिए और पुण्य–पापरहित अखण्ड स्वभावकी ओर ...नेके लिये अपाय निर्मल दृष्टिका प्रवल आन्दोलन करते ...कर जो अणुव्रत–महाव्रतके शुभभाव आते हैं उसे

ही भीतर अनेक कल्पनायें करके आकुलित होकर जलता रहता है। बाहरसे अनुकूल संयोग दिखाई देते हों तथापि भीतरी मान्यतामें आकुलताका दुःख खटकता रहता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य-संयोगसे सुख-दुःख नहीं होता। यदि भ्रमको छोड़कर यथार्थ ज्ञान करे तो सुखी हो सकता है। किसीको बाहरसे प्रतिकूलताका संयोग हो तथापि मैं परसे भिन्न हूँ, परके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं पवित्र ज्ञानानन्दरूप हूँ, परवस्तु मुझे हानि-लाभका कारण नहीं है, इसप्रकार यदि शान्त ज्ञानस्वभावको देखे तो चाहे जिस देशमें अथवा चाहे जिस कालमें दुःख नहीं है। नरकमें भी संयोग दुःखका कारण नहीं है, किन्तु भ्रमसे परमें अच्छा-बुरा माननेकी जो बुद्धि है वही दुःख है। नरकमें भी आत्मप्रतीति करके शान्तिका अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा किसी भी कालमें और किसी भी क्षेत्रमें अपने अनन्त आनन्द गुणसे हीन नहीं है। वह सदा अपनेमें ही रहता है। आत्माको परक्षेत्रगत कहना व्यवहारमात्र है।

एकेन्द्रिय दशाको प्राप्त जीवोंने पहले तत्त्वज्ञानका उग्र विरोध किया था इसलिये उनकी अवस्था अनन्तगुनी हीन हो गई है, वहाँ पर जीव तीव्र कषाय और मोहकी तीव्रतामें अनन्ती आकुलताका अनुभव करता है। शरीरके प्रति जो मोह है सो दुःख है। जो शरीर है सो मैं नहीं हूँ, इस प्रकार स्वाधीन अविनाशी पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति करके जितना स्वभावोन्मुख होता है उतने ही अंशमें सुखानुभव होता है-दुःखानुभव नहीं होता।

शुद्धनयका विषय साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसे पहले यथार्थ रीतिसे जानकर पूर्ण-निर्मल स्वरूपकी श्रद्धा करनेके बाद जबतक पूर्ण नहीं हो जाता तबतक भूमिकाके अनुसार प्रयोजनभूत अवस्था समझनी चाहिये। सराग और वीतराग अवस्था जैसी हो उसे उसप्रकार जानना सो व्यवहार है और पूर्ण अखण्ड स्वरूपको जानना सो निश्चय है; इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान करने वाला सच्चा ज्ञान प्रमाण कहलाता है, किन्तु वह

दूसरा आशय यह है कि कोई ग्यारहवीं गाथाका आशय न समझे और यह मानकर कि मात्र अखण्डतत्त्व है, अवस्था नहीं है-व्यवहारका ज्ञान न करे तो पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा; इसलिये निश्चय और व्यवहारकी अविरोधी संधिको लेकर दोनों गाथाओंमें मोक्षमार्गका स्वरूप समझाया है।

इसे समझे विना यदि व्यवहारसे चिपका रहे तो तत्त्वकी श्रद्धाका नाश हो जायेगा, और अवस्थाके प्रकारको न जाने तो मोक्षमार्गका नाश हो जायेगा; अर्थात् जो व्यवहारको न मानता हो उसे स्पष्ट समझानेके लिये यह बारहवीं गाथा है।

पराश्रयसे होने वाला विभावभाव वर्तमान अवस्थामात्रके लिये क्षणिक है, और उसका नाश करने वाला स्वभावभाव त्रिकालस्थायी भूतार्थ है। उस निरावलम्बी, असंग, अविकारी ज्ञायकस्वभावको जीवने अनादिकालसे नहीं जाना इसलिये वह वर्तमान अवस्थामें विकारमें स्थिर हुआ है। शरीर, मन, वाणी तो पर हैं, उनके साथ आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा अविकारी ज्ञायक एकरूप वस्तु है, उसमें परके सम्बन्धरूप विकल्पवृत्ति होती है सो विकार है। फिर चाहे वह दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादिका शुभराग हो या हिंसा, चोरी इत्यादिका अशुभभाव हो, किन्तु वे दोनों विकार हैं। वे क्षणिक अवस्थामात्र तक होनेसे बदले जा सकते हैं-नष्ट किये जा सकते हैं। दोषका नाश, निर्मल अवस्थाकी उत्पत्ति और उस निर्मल अवस्थाको धारण करने वाला नित्य ध्रुव है। यदि वह नित्य एकरूप स्थिर न रहता हो तो विकारको दूर करूँ और विकार रहित सुखी हो जाऊँ यह कथन ही नहीं हो सकता। स्वतन्त्र अर्थात् विकार रहित, पराश्रय रहित एकरूप निर्मल पूर्ण ज्ञानानन्दभावसे रहना, यही स्वभावभावरूप मोक्ष है। पूर्ण निर्मल पवित्र दशा मोक्ष है और उसकी कारणरूप हीन निर्मलदशा मोक्षमार्ग है।

विकारी अशुद्धभाव जीवकी वर्तमान अवस्थामें नये होते हैं, किन्तु वह अपना स्वाश्रित ध्रुवस्वभाव नहीं है। मैं अविकारी पूर्ण हूँ, परके

स्वलक्षसे निर्मल पर्याय होती है वह [illegible] मुझमें होती है—इसप्रकार दोनों नयोंको जाने और एकको मुख्य तथा दूसरेको गौण करके वस्तुको लक्षमें ले तो यथार्थता निश्चित होती है।

निश्चय-व्यवहारके भेदके आधारकी बात बार-बार सुनाई देती है। मैं पुण्य-पापका कर्ता हूँ, शुभविकारसे मुझे लाभ होगा, हम देहकी क्रिया कर सकते हैं तथा दूसरेको लाभ या हानि कर सकते हैं, ऐसा लोक-व्यवहार आत्माको सिखाना नहीं पड़ता, उसका तो अनादिकालसे परिचय चला आ रहा है। किन्तु मैं चिदानन्द निर्विकार ध्रुव हूँ, विकारका या परका कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ, मेरा स्वभाव मलिन अवस्थारूप नहीं है यह जानकर भेदको गौण करके, यथार्थ शुद्धदृष्टिके विषयका ज्ञान कराने वाले और उसका उपदेश देने वाले बहुत विरल हैं।

कोई आत्माको सर्वथा अखण्ड-अविकारी मानकर अवस्थाके भेदोंको उड़ाना चाहता है अर्थात् जो यह मानता है कि-परावम्बनसे अनित्यतया होने वाले परिणाम सर्वथा जड़के ही हैं, इन्द्रियाँ अपने (इन्द्रियोंके) विषयको भोगती हैं, मैं नहीं भोगता वह स्वच्छन्दी है, और इसीलिये संसारमें परिभ्रमण करता है। जड़-इन्द्रियविषयको आत्मा नहीं भोग सकता तथापि स्वयं अपनेको भूलकर परमें सुखकी कल्पना करता है, और अच्छा-बुरा मानकर रागमें एकाग्र होकर आकुलताका वेदन करता है। जड़में विकार नहीं है किन्तु आत्मा स्वयं विकारी भावसे विकारी अवस्थाको धारण करता है, उस विकारमें परवस्तु निमित्त होती है। रागकी वृत्ति पर-लक्षसे होती है जो कि नित्यस्वभावके लक्षसे दूर होती है; इसलिये जो दूर होती है वह अभूतार्थ है, मेरे ध्रुवस्वभावमें वह नहीं है; यह जानकर अभेद स्वभावको लक्षमें लेना सो सच्ची दृष्टिका विषय है।

जो पुरुष सर्वज्ञकी वाणीके न्यायानुसार यथार्थ तत्त्वका निर्णय करनेके लिये निश्चय और व्यवहारके अविरोधी न्यायमें रमते

रहते हैं, अर्थात् प्रचुर प्रीति सहित-वास्तविक तीव्र रुचिके साथ अभ्यास करते हैं वे जहाँ-जहाँ जिस-जिस अपेक्षाके भावका कथन होता है वहाँ उस प्रकार समझते हैं, और दूसरे भावकी अपेक्षा गौण समझते हैं।

निश्चयसे स्वभावको देखना और व्यवहारसे अवस्थाको यथावत जानना चाहिये; इसप्रकार यथार्थ वस्तुका निर्णय करनेके लिये उसका अभ्यास करना चाहिये। संसारकी रुचिके लिये जागरण करता है, उपन्यास पढ़ता है, नाटक देखता है किन्तु सर्वज्ञ वीतरागके शास्त्रमें क्या कथन है और सच्चा हित कैसे हो सकता है उसकी चिंता नहीं करता। उसके लिये कोई किसीसे न तो कुछ पूछता है और न याद करता है। लोक-व्यवहारमें पुत्र अपने पितासे यह नहीं पूछता कि आप मरकर कहाँ जायेंगे? आपने यथार्थ हित क्या समझा है? क्योंकि देखने वाला स्वयं भी बाह्य परिस्थितिमें ही विश्वास करता है इसलिये वह न तो यह देखता है और न यह जानता है कि भीतर ज्ञातास्वरूप कौन है। उसे देह पर राग है इसलिये वह अपने बीमार पितासे पूछा करता है कि आपको जो केन्सर रोग हुआ है वह अब कैसा है? इसप्रकार दूसरेकी खबर पूछता है किन्तु अनादिकालसे जो अपनेको ही अज्ञानरूपी केन्सर हुआ है, जन्म-मरणका कारणभूत विपरीत मान्यताका महारोग लगा हुआ है उसके लिये कोई नहीं पूछता। बाजारमेंसे चार पैसेकी वस्तु लेते समय बड़ी सावधानीसे देखता है कि-कहीं ठगे तो नहीं जा रहे हैं; क्योंकि घर पर उस सम्बन्धमें पूछने वाले बैठे हैं। किन्तु अन्तरंगमें भूलकी चिन्ता कौन करता है? कौन पूछता है? न तो पिताको पुत्रकी भलाईकी खबर है और न पुत्रको पिताके हितका ध्यान है। मरकर पशु-पक्षी अथवा नारकी होंगे इसलिये अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेका यह सच्चा अवसर है; यदि इसप्रकार निजकी चिन्ता हो तो अपनेको जो अनुकूल पड़े उसका दूसरेको भी आमंत्रण दे, किन्तु वह तो अनादिकालसे देहादिक बाह्य-संयोगोंको

आत्मा मानता आया है और उसे वह अनुकूल पड़ता है इसलिये उसीको बारम्बार याद करता है।

लड़का मर गया है यह मानकर अज्ञानी जीव रोता है किन्तु वह यह नहीं जानता है कि शरीरके परमाणुओंका अथवा आत्माका किसीका भी नाश नहीं होता, मात्र पर्याय बदलती है। क्योंकि संयोगमें सुख-दुःख मान रखा है इसलिये असंयोगी भाव नहीं रुचता। देह पर राग है इसलिये देहकी सुविधाके लिये जिस संयोगको अनुकूल मानता है उसका आदर करके राग करता है और जिस संयोगको प्रतिकूल मानता है उसका अनादर करके द्वेष करता है। यह सब अपने भावमें ही करता है परमें कुछ नहीं कर सकता, तथापि परका करने की आकुलता होती है, यही दुःख है। संयोगसे सुख नहीं होता किन्तु वह अपनी स्वाधीन सत्तामें ही विद्यमान है। आश्चर्य तो यह है कि-कोई आत्माकी नाड़ी देखकर उसका यह निदान नहीं करना चाहता कि उसे सच्चा सुख कैसे प्रगट हो।

यदि निजको सच्चे धर्मकी रुचि हो तो उसकी भावना भाये और धर्मके प्रति राग उत्पन्न हो यदि अनन्त भाव-मरणोंको दूर करना हो तो इसे समझना ही चाहिये; इसे समझनेके लिए तीव्र इच्छा और सम्पूर्ण सावधानी होनी चाहिये। जिसे सत्यको सुननेका प्रेम जागृत हो जाता है उसे स्वप्नमें भी वही मन्थन होता रहता है। वह अन्य चिन्ताओंको छोड़कर मात्र एक आत्माकी ही रुचिमें रमता रहता है।

जो निश्चय-व्यवहारके अविरोधी पहलुओंका ज्ञान निश्चित करके सर्वज्ञ न्याय-वचनसे यथार्थ तत्त्वका बारम्बार अभ्यास करता है उसका मिथ्यात्व-मोह (परमें सुख-दुःखकी बुद्धि, कर्तृत्वरूप अज्ञान और उसका निमित्त मोहकर्म) स्वयं नष्ट हो जाता है। अपने अखण्ड स्वभावमें वास्तविक रुचिसे एकाग्र होने पर अयथार्थ श्रद्धाके निमित्त-कारण दर्शन-मोहका स्वयं वमन (नाश) हो जाता है। जिसका वमन कर दिया उसे कोई भी ग्रहण नहीं करना चाहता।

दूजके चन्द्रमाके उदित होने पर वह बढ़कर पूर्णिमाका चन्द्र अवश्य होगा, इसीप्रकार यथार्थ पूर्ण स्वभावके लक्षसे सम्यक्‌दर्शनका निर्मल अंश प्रगट होने पर वह पूर्ण निर्मल हुये बिना नहीं रहेगा। मैं पूर्ण अखण्ड निर्मल स्वभाव वाला हूँ ऐसी रुचिकी प्रबलतासे जो बारम्बार यथार्थ अभ्यास करता है वह अस्तिके बलसे मिथ्यात्व मोहकर्म और उसमें संयुक्त विपरीत मान्यताका वमन करके अपने ध्रुवस्वभावकी महिमासे पूर्ण अतिशयरूप परमज्योति निर्मल ज्ञायकरूप पूर्ण प्रकाशमान अपने शुद्ध आत्माको तत्काल ही देखता है।

निश्चयसे अर्थात् नित्य स्वभावदृष्टिसे देखने पर आत्मा अखण्ड शुद्ध है और वर्तमान अवस्थासे देखने पर पर–सम्बन्धसे होने वाला विकार (पुण्य–पापकी वृत्ति) भी है। अज्ञानभावसे आत्मा विकारका राग-द्वेषका कर्ता है, और ज्ञानभावसे अज्ञान तथा विकारका नाशक है। परमार्थसे आत्माका स्वभाव त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है। ऐसा स्वरूप समझे बिना लौकिक समस्त नीतिका पालन करे अथवा धर्मके नाम पर पुण्यबन्ध करे किन्तु उससे परमार्थ तत्त्वको कोई लाभ नहीं होता। किसी बाह्य क्रियासे पुण्य नहीं होता किन्तु यदि अंतरंगसे शुभभाव रखे, अभिमान न करे और तृष्णाको कम करे तो पुण्यबंध होता है किन्तु उससे भव कम नहीं होते। अज्ञानपूर्वकके शुभभावसे पापानुबंधी पुण्यका बंध करके उसके फलसे कभी देव होता है, किन्तु अज्ञानके कारण वहाँसे मरकर पशु और फिर नरकादिक पर्यायमें परिभ्रमण करता है। किन्तु यहाँ तो भव न रहनेकी बात है।

कैसा है समयसाररूप शुद्ध आत्मा? नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, प्राप्तकी ही प्राप्ति है, अखण्ड स्वभावके लक्षसे निज वस्तुमेंसे यथार्थ श्रद्धा ज्ञान आनन्दकी प्राप्ति होती है। जैसे चनेका स्वाद स्वभावसे मीठा है किन्तु वर्तमान अवस्थामें कचाईके कारण वह अप्रगट है। कच्चे चनेको (पक्व मानकर) खानेसे वास्तविक स्वाद नहीं आता, चनेकी वर्तमान कच्ची अवस्था प्रगट है और भीतर स्वादयुक्त गुण शक्तिरूपसे

विद्यमान है, इसप्रकार एक चनेमें दोनों अवस्थायोंको न जाने तो कोई चनेको भूँजकर उसका स्वाद प्रगट करनेका प्रयत्न ही न करे; इसीप्रकार भगवान आत्मा चिदानन्द नित्य एकरूप है, उसमें वर्तमान अवस्थामें राग-द्वेष-अज्ञानरूपी कचास है और शक्तिरूपसे निराकुल आनन्दका स्वाद वाला पूर्ण स्वभाव है, उन दोनों प्रकारोंको जाने तथा सम्पूर्ण अखण्ड ध्रुव ज्ञायकस्वभावके लक्षसे भार देने पर जैसा शुद्ध पूर्ण स्वभाव है वैसा ही प्रगट होता है, यथार्थकी प्रतीति होने पर विपरीत मान्यतारूप अवस्थाका नाश और सच्ची मान्यताकी उत्पत्ति होती है, तथा वस्तु तो ध्रुवरूपसे स्थायी है ही।

प्रश्नः—गुणके लिये हमें क्या करना चाहिये ?

उत्तरः—तू स्वयं ही गुणको जानने वाला गुणस्वरूप है, उसकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। आत्माके ज्ञानकी जानकारी और ज्ञानकी स्थिरतारूप क्रिया करनी चाहिये। आत्मा देहकी क्रिया अथवा परका कोई कार्य नहीं कर सकता।

मध्यस्थ होकर इस वस्तुको ज्योंकी त्यों समझनी चाहिये। पुण्य-पापादिके अंशको मिलाये बिना अविकारी ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि शुद्ध करनी चाहिये और व्यवहारनयके विषयको ज्योंका त्यों जानकर, उसे गौण करके, निर्मल अखण्डस्वभावके लक्षसे एकाग्र होना ही प्रारम्भसे-पूर्ण निर्मलताको प्रगट करनेका उपाय है। निजको भूलकर परको विषय बनाकर जो राग-द्वेष तथा अज्ञानरूप परिणाम किये सो ही अज्ञानभावका कार्य है विपरीत मान्यतासे अपना परसे भिन्नत्व भूल गया है और इसलिये सम्पूर्ण आत्मा अज्ञानसे आच्छादित हो गया है। किन्तु मेरे स्वभावमें विकार नहीं है, विकार परके सम्बन्धसे वर्तमान एक-एक समयकी अवस्थामात्रके लिये होता है, उसका स्वभावके बलसे नाश हो सकता है इसप्रकार नित्यस्वभावके लक्षसे एकाग्र होने पर जिसे आच्छादित माना था वह प्रगट हो गया अर्थात् उसकी यथार्थ दर्शन प्रगट हो गई।

आत्माका स्वभाव किसी परवस्तुसे रुका हुआ अथवा बद्ध नहीं है तथापि जहाँ तक अवस्थामें जैसा विकार होता है वैसा ही जड़कर्म निमित्त होता है और उससे व्यवहारदृष्टिसे आत्मा बँधा हुआ कहलाता है, किन्तु जड़वस्तु आत्मामें त्रिकालमें भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु परकी अपेक्षासे नास्तिस्वरूप है। जो अपनेमें है ही नहीं वह क्या हानि कर सकती है। यह दृष्टि विपरीत है कि परका कर्मका बन्धन दूर हो जाये तो सुखी हो जाऊँ, अथवा मैं इस बन्धनके आनेसे दुःखी हो रहा हूँ। विकार करनेकी आत्माकी योग्यता है, उसमें निमित्तरूपसे जड़कर्म अपने स्वतंत्र कारणसे उपस्थित होता है। यदि आत्मा अपनी ओर लक्ष रखे तो अपनेमें विकार न हो किन्तु जब स्वयं निजको भूलकर परकी ओर लक्ष करता है तब विकार होता है, उसमें जड़कर्म निमित्त होता है, यह विकार वर्तमान एक अवस्थामात्रके लिये होता है। यदि स्वभावका लक्ष करे तो विकारी अवस्थाको बदलकर अविकार अवस्था प्रगट कर सकता है। भीतर स्वभावमें गुणकी पूर्ण शक्ति भरी हुई है, उसके लिये बाह्यमें कुछ नहीं करना पड़ता। जैसे लेंडीपीपरमें चरपराहटकी शक्ति भरी हुई है, जो कि उसके घोंटनेसे उसीमेंसे प्रगट होती है। वर्तमानमें उसकी चरपराहट प्रगट नहीं है तथापि उसकी शक्ति पर विश्वास किया जाता है कि इसमें वर्तमानमें चौंसठ पुटवाली चरपराहट शक्तिरूपसे विद्यमान है, जो कि सर्दीको दूर कर देगी। इसप्रकार पहले विश्वास किया जाता है पश्चात् उसे घोंटकर उसका गुण प्राप्त किया जाता है। इसीप्रकार आत्मामें वर्तमान अपूर्ण अवस्थाके समय भी अनन्तज्ञान और अनन्तसुख इत्यादि अनन्तगुणोंकी पूर्ण अखण्ड शक्ति भरी हुई है, उसका विश्वास करके उसमें एकाग्र होने पर वह प्रगट होती है। निजस्वभावका विश्वास नहीं किया अर्थात् जो देह है सो मैं हूँ, राग-द्वेष मेरे काम हैं, इसप्रकार अज्ञानके द्वारा आत्माके स्वभावको ढक दिया और यह मान लिया कि मैं ऐसा पूर्ण नहीं हूँ, किन्तु यथार्थ स्वभावके द्वारा जब पूर्ण स्वभावकी प्रतीति की तब कहा जाता है कि शुद्ध

आत्मा प्रकाशित हुआ है—प्रगट हुआ है।

कैसा है शुद्ध आत्मा! सर्वथा एकान्तरूप कुनयके पक्षसे खण्डित नहीं होता, निर्बाध है। यदि सर्वथा एक पक्षसे आत्माको नित्य कूटस्थ ही माना जाये तो राग-द्वेषकी विकारी अवस्था नहीं बदली जा सकती। यदि कोई आत्माको क्षणिक संयोगमात्र तक ही सीमित माने तो पापका भय न रहे और नास्तिक स्वच्छन्द हो जायेंगे। किन्तु द्रव्यस्वभावकी दृष्टिसे नित्य शुद्ध, अखण्ड स्वतंत्र वस्तुरूपसे जाने और व्यवहारदृष्टिसे भेदरूप अवस्था जाने; इसप्रकार यथार्थतासे यदि आत्माकी प्रतीति करे तो एकान्तपक्षका खण्डन किया जा सकता है।

भावार्थः—सर्वज्ञ वीतरागकी स्याद्वाद वाणी अविरोधी स्वरूपका [illegible] वाली है। वस्तुमें दो अपेक्षाओं (निश्चय और [illegible]) का यथातथ न जाने तो एक वस्तुमें भेद और अभेद दोनों [illegible] आयेगा; किन्तु वीतरागकी वाणी कथंचित् विवक्षासे [illegible] विरोधको मिटा देती है।

[illegible] प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षासे त्रिकाल है।

[illegible] प्रत्येक आत्मा परकी अपेक्षासे असत् है, [illegible] अपेक्षासे आत्मा नहीं है असत् है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

प्रश्नः—जब कि वस्तु सत है तब उसमें अस्ति ही मानना चाहिये, उसमें असत्‌का-नास्तिका क्या काम है ?

उत्तरः—परसे पृथक्त्व-असत्‌भाव मानने पर ही प्रत्येक वस्तुका सत्‌भाव, नित्यत्व और असंयोगीपन सिद्ध होता है। अपनेरूपमें होना और पररूपमें न होना ऐसा सत्-असत्‌पनका गुण प्रत्येक वस्तुमें एक साथ रहता है। परवस्तुका अपनेरूपसे न होना और अपना परवस्तुरूपसे न होना सभी वस्तुओंका स्वभाव है।

स्वयं जिसरूपसे है उसरूपसे अपनेको नहीं समझा, नहीं माना इसलिये परमें निजत्व मानकर देहदृष्टिसे यह मान लेता है कि—पुण्य-पाप, राग-द्वेष मेरे हैं और मैं देहादिरूप हूँ, मैं देहादिकी क्रिया करता हूँ, इत्यादि। बोलता है, चलता है, दिखाई देता है सो यह सब जड़की क्रिया है; उसकी जगह मैं वही हूँ, इसप्रकार अनादिकालसे परमें अपनापन मानता आया है, तथापि आत्मामें न तो विकार घुस गये हैं और न ही कम हो गये हैं; वर्तमान प्रत्येक समयकी अवस्थामें भूल और विकार करता आया है। यदि स्वाधीन अस्ति-स्वभावको जान ले तो भूल और अविकारका नाश करके निर्मल दशाको प्रगट कर सकता है।

प्रत्येक वस्तु अपनेरूपसे है और पररूपसे नहीं है। स्वयं पररूपसे असत् है परवस्तु दूसरी वस्तुमें (आत्मामें) असत् है, इसलिये कोई तेरे आधीन नहीं है और तू किसीकी अवस्थाका कर्ता नहीं है। किसी एक वाक्यके कहने पर उनमें दूसरी अपेक्षाका ज्ञान आ जाता है; एकके कहने पर दूसरेकी अपेक्षा निश्चयसे आ जाती है। नित्य कहने पर अनित्यकी अपेक्षा आ जाती है। प्रत्येक वस्तु एक दूसरेसे भिन्न है। एक आत्मामें नित्यत्व, अभेदत्व, एकत्व, शुद्ध[illegible]) पर उसमें अनित्यत्व, भेदत्व, अनेकत्व और अशुद्धत्व [illegible] आ जाता है, इसलिये परसे भिन्नरूप एक-एक [illegible] है तथा [illegible] में दो प्रकार [illegible] जाते हैं।

परवस्तुरूपसे यह वस्तु नहीं है, यह कहने पर परकी अपेक्षा आती है। इसलिये परवस्तु उसरूपसे है और परवस्तुरूपसे नहीं है। जब कोई नहीं समझता जब कोई समझाने वाला उससे अलग है ऐसा साबित होता है। आत्मा देहादि संयोगसे रहित है, उससे इन्कार करने वाला वर्तमानमें इन्कार भले ही करे तथापि वह संयोग-रहित ही है। जैसे अनन्त ज्ञानीजन ज्ञानका स्वभाव समझकर पुरुषार्थ करके मोक्षको प्राप्त हुए हैं उसीप्रकार यदि श्रद्धा न करे, अविरोधी वस्तुको न समझे तो स्वभावकी शान्ति नहीं मिल सकती। 'यह सत है' यह कहते ही उसमेंसे यह अर्थ निकलता है कि-'यह पररूप नहीं है' इसप्रकार अस्तिमें परकी नास्ति आ जाती है।

यदि कोई एकान्त पक्षको पकड़कर कहे कि-जो एक है उसे अनेकरूपसे नहीं कहा जा सकता, एक वस्तुमें दो विषयोंका विरोध है; तो वह विरोधको सम्यक्ज्ञान नष्ट कर देता है। जैसे स्वर्णमें पीलापन, चिकनाहट, भारीपन और स्निग्धता इत्यादि अनेक गुण तथा उन समस्त गुणोंकी पर्यायें एक साथ रहती हैं तथापि यदि उसे अनेक गुण-रूप तथा पर्यायरूप देखें तो सोना अनेकरूप है और यदि सम्पूर्ण सोना ही सामान्यरूपसे लक्षमें लिया जाये तो वह एकरूप है इसीप्रकार आत्मा उसके अखण्ड स्वभावसे एकरूप है और ज्ञानादिक गुण तथा पर्यायकी दृष्टिसे अनेकरूप है। यदि एक-अनेकरूपसे सम्पूर्ण तत्त्वको न जाने तो यथार्थता ध्यानमें नहीं आती, और यथार्थका पुरुषार्थ भी प्रगट नहीं होता।

वस्तु सत् है; ऐसा जानना सो निश्चयदृष्टि अथवा द्रव्यार्थिक-नयका विषय है; असत्-पररूपसे नहीं है ऐसा जानना सो व्यवहारनयका विषय है।

एकत्वः—यदि त्रिकाल अनन्तगुण और अवस्थारूप अखण्ड पिण्ड एकाकार वस्तुरूपसे देखा जाये तो निश्चयदृष्टिसे आत्मा एकरूप है।

अनेकत्वः—व्यवहारदृष्टिसे अनन्त गुण-पर्यायको लेकर

अनेकरूप है।

निश्चयसे उसका लक्ष करके पूर्ण एकत्वके लक्षसे स्थिर होने पर संसारकी विकारी अवस्थाका नाश, मोक्षकी अविकारी अवस्थाकी उत्पत्ति और वस्तुका एकरूप ध्रौव्यत्व बना रहता है। जो इसप्रकार यथार्थरूपसे समझ लेता है वह एकान्तपक्षका विकल्प और विरोध मिटाकर एक वस्तुमें एकत्व-अनेकत्वका ज्ञान एक साथ कर लेता है, परमें अपना एकत्व नहीं मानता।

नित्यत्वः—आत्मा चिदानन्द एकरूप बना रहता है, इसप्रकार वस्तुदृष्टिसे नित्य है।

अनित्यत्वः—प्रत्येक द्रव्य स्थिर रहकर प्रतिसमय अपनी पर्यायको बदलता रहता है इसलिये पर्यायदृष्टिसे अनित्य है।

जिस अपेक्षासे नित्यत्व है उस अपेक्षासे अनित्यत्व नहीं है। इस प्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व अर्थात् वस्तुदृष्टिसे स्थिर रहना और पर्यायदृष्टिसे बदलना—यह दोनों मिलकर एक स्वरूप है यदि बिलकुल एकरूप अखण्ड हो तो विकारी अवस्था बदलकर अविकारी नहीं हो सकेगा। कर्ता-कर्म अथवा क्रिया कुछ भी नहीं रहेगा। और यदि वस्तु अनित्य ही हो तो नित्यत्वके आधारके बिना अनित्यत्व ही नहीं कहा जा सकेगा।

अभेदत्वः—प्रत्येक आत्मा अपने वस्तुस्वभावसे अभिन्न है। आत्मा और गुणोंमें प्रदेशभेद नहीं है।

भेदत्वः—व्यवहारदृष्टिसे आत्मामें भिन्नता है। नाम, संख्या, लक्षण और प्रयोजनसे भेद किये जाते हैं।

(१) नामभेद—(संज्ञाभेद) आत्मा ज्ञानरूपसे है इसप्रकार वस्तु और गुणके नामभेद न किये जाये तो आत्मा किसप्रकार बताया जायेगा? इसलिये अखण्ड स्वरूप बतानेके लिये नामभेद होता है।

(२) संख्याभेद—आत्मा एक है, उसमें ज्ञानादिक अनेक गुण हैं, इसप्रकार संख्याभेद है किन्तु प्रदेशभेद नहीं है।

वस्तुस्वभावको लक्षमें ले तो निश्चय सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति होकर अपूर्व आत्मप्रतीति होती है और एकान्तपक्षकी मान्यता दूर हो जाती है।

यदि वस्तुस्वभावको यथार्थ समझ ले तो उसके प्रति बहुमान हुए विना नहीं रहता। इल्ली अथवा केंचुआ जैसा दो इन्द्रिय प्राणी भी शरीरकी ममताके बलसे पत्थरके नीचे दबकर उससे अलग होनेके लिये इतना प्रयत्न करता है कि पत्थरके नीचे दबे हुए शरीरका एक भाग टूट तक जाता है, तथापि वह पत्थरके उस भारसे हटकर स्वतंत्र रहना चाहता है, इसीप्रकार जिसने परसे भिन्नरूप असंयोगी ज्ञानस्वरूपको ही अपना माना है वह उसे विपरीत मान्यता और परावलम्बन रूप विकारसे दबा हुआ नहीं रहने देगा। जिसे अपना माना है उसे परिपूर्ण स्वतंत्र रखना चाहता है। मैं त्रिकाल निर्मल असंग हूँ, इसप्रकार शुद्ध स्वतंत्र स्वभावकी दृष्टिके बलसे वर्तमान संयोगाधीन विकारी झुकावसे और विपरीत दृष्टिसे स्वयं अपनेको बचा लेता है। मैं शुद्ध स्वतंत्र ज्ञानानन्दरूप हूँ–ऐसी प्रतीति नहीं थी, तब स्वयं कहीं अन्यत्र अशुद्धरूप अथवा संयोगरूप अपनेको मानता था यदि अपने अस्तित्वको नित्यस्थायीरूप न माने तो कोई सुखके लिये प्रयत्न ही न करे। जिसे अवगुण इष्ट नहीं है वह अवगुणोंको दूर करनेकी [illegible] करके अवगुणोंको दूर करके, गुणरूपसे स्वतंत्र रहना चाहता है।

जैसे यह मानना मिथ्या है कि–यदि विकार करेंगे तो उसके निमित्तसे गुण प्रगट होंगे, इसीप्रकार यह मानना भी मिथ्या है कि पुण्य पापकी भावनामेंसे पुण्यकी भावनाको बढ़ायें तो लाभ होगा। पापमें प्रवृत्त न होनेके लिये अथवा अशुभरागसे बचनेके लिये शुभभाव करे सो तो ठीक है, किन्तु यह मान्यता मिथ्या है कि उससे पवित्र गुण प्रगट होंगे; क्योंकि जिस भावसे बन्धन होता है उस भावसे अविकारी भाव (–शुद्धभाव) नहीं हो सकते।

जो व्यवहारनय अर्थात् पर्यायाश्रित [illegible] है वह भूल जाता है कि वस्तुस्वभाव अखण्ड निर्मल अनन्त शक्तिसे पूर्ण है,

लिये उसे रागके अभाव करनेका पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता। यदि अशुभरागको दूर करे तो वर्तमान मात्रके लिए राग मंद हो जाता है, सार्वतः शुभभावसे राग कम नहीं होता। निरपेक्ष अखण्ड निर्मल तुमें पूर्ण शक्ति जैसी है वैसी ही उसे पहिचानकर, अवस्थाको गौण के यदि अखण्ड स्वभावके लक्ष पर भार दे तो रागका सहज ही भाव होता है और निर्मल आनन्दकी वृद्धि होती है, विरोधमात्र दूर जाता है।

सर्वज्ञ वीतरागकी वाणीमें कथंचित विवक्षाके भेदसे एक-एक तुमें (एक अपेक्षाको मुख्य करके और दूसरी अपेक्षाको गौण करके) स्तित्व, एकत्व, नित्यत्व और शुद्धत्व इत्यादि निश्चयदृष्टिकी अपेक्षाका पय और नास्तित्व, अनेकत्व, अनित्यत्व, भेदत्व तथा अशुद्धत्व इत्यादि यवहारदृष्टिकी अपेक्षाका विषय होता है। यदि दोनोंको मिलाकर म्पूर्ण वस्तुका ज्ञान करे तो प्रमाणज्ञान—यथार्थ ज्ञान होता है। सत्यमेंसे त्य आता है। इसप्रकार वीतरागकी वाणीके न्यायसे जानने पर विरोधी तभिप्राय दूर हो जाता है। वीतरागकी वाणीमें मिथ्याकी कल्पना तक हीं है।

परद्रव्यके आश्रयरूप उन्मुखता होनेसे पुण्य—पापकी विकारी अवस्था होती है, वह व्यवहारदृष्टि मुख्य करनेकी आवश्यक्ता नहीं है; उसे गौण करके अनादि-अनन्त एकरूप निर्मल, असंग, अविकारी, निरावलम्बी पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभावको निश्चयदृष्टिसे लक्षमें लेना, और उस स्वाश्रित अखण्ड दृष्टिसे स्वभावका बारम्बार मनन करना सो यही प्रयोजनभूत—मुख्य करने योग्य कहा है। अनादिकालसे संसारका बहुभाग पराश्रित व्यवहारके पक्षको मान रहा है और यह मानता है कि राग—द्वेषके कार्य करने योग्य हैं, परवस्तु और शुभभावका स्वामित्व रखकर व्यवहार नहीं छोड़ना चाहिए; ऐसा कहने वालेकी बातको जल्दी मान लेता है कि यदि पुण्य करोगे और देहकी क्रिया करोगे तो धर्म होगा; और वह मानता है कि हम देव होकर सुख प्राप्त करेंगे। इसप्रकार जिसकी दृष्टि बाह्य-संयोग पर

जाती है उसे पुण्यमें मिठास मालूम होती है, क्योंकि उसे तत्त्वज्ञानरूप अविरोधी सत्की खबर नहीं है. तत्त्वसे द्वेष और विकारके आदरका फल एकेन्द्रियमें जाना है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इन ग्यारहवीं और बारहवीं गाथामें जिस अपेक्षासे जिसप्रकार कहा गया है उसे समझकर जो अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप निश्चय स्वभावको मुख्य करके भेदरूप व्यवहारकी दृष्टिको गौण करेगा उसके समस्त विरोधरूप संसारका नाश हो जायेगा।

जो यह मानता है कि मैं परका कुछ कर सकता हूँ वह परवस्तुको पराधीन मानता है. और ऐसा माननेसे कि अन्य मेरा कुछ कर देगा—स्वयं भी अकर्मण्य—पराधीन सिद्ध होता है। समस्त तत्त्व इसप्रकार स्वतंत्र हैं कि किसीको किसीकी आशा नहीं रखनी चाहिये। सब आत्मा भी स्वतंत्र हैं, अपनी अनन्त शक्तिसे प्रत्येक आत्मा पूर्ण है। जो इसप्रकार नहीं समझता और जैसे उपचारसे लोक-व्यवहारमें घड़ेको 'घी का घड़ा' कहा जाता है, इसीप्रकार इसने इसका भला किया अथवा उपकार किया है, इत्यादि व्यवहारकी लौकिक भाषामें कहा जाता है; यदि उसके अर्थको उस भाषाके शब्दोंको ही पकड़कर लिया जावे तो वह मिथ्यादृष्टि है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—मैं परका कर्त्ता—भोक्ता हूँ, विकार मेरा कार्य है ऐसी विपरीत दृष्टिको दूर करके अखण्ड ध्रुवस्वभावको मुख्य करो! और व्यवहारके भेद-विकारकी दृष्टिका त्याग करो। परवस्तु तुझरूप नहीं है, इसलिए परके लक्षसे होने वाले विकार (पुण्य—पापके शुभाशुभभाव) भी तेरे नहीं हैं, वे तुझमें स्थायीरूपसे रहनेवाले नहीं हैं; इसलिए उस व्यवहारका विषय भेदरूप विकार आवश्यक नहीं है; इसलिये उसमें नहीं लगना चाहिये। एकरूप ध्रुव विषयको मुख्य करके बारम्बार अखण्ड स्वभावके बलसे पूर्ण ज्ञानानन्द

स्वभावका आश्रय करके, शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे[1] कहा जा सकता है; अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयको अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे पर्यायार्थिकनय[2] अथवा व्यवहार कहते हैं।

तुझमें जो विकार होता है सो अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है।
तेरी पर्यायमें जो विकार होता है सो पर्यायार्थिकनय है।
पराश्रयसे विकार होता है उसको व्यवहारनय है।

ऐसे वीतराग कथित न्याय-नयोंके द्वारा जो अविरोधी तत्त्व का अभ्यास करता है सो वह योग्य जीव शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है, यथार्थदृष्टि प्राप्त करता है; यथार्थ प्रतीतिको प्रगट करता है। यह समस्त विषय अन्तरंगका है, इसमें नयका विषय सूक्ष्म है जो कि यहाँ सरल भाषामें कहा जाता है; किन्तु जो अन्तरंगसे उसकी चिंता नहीं करता और उसे स्मरण करके उसका मनन नहीं करता वह उसे नहीं समझ सकता। यदि स्वाधीन होकर उसे समझे तो अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताएँ दूर हो जाती हैं। जैसे शरीरके रोगयुत होने पर उसे दूर करनेका सावधानी पूर्वक प्रयत्न किया जाता है, इसीप्रकार आत्माको अनादिकालसे आकुलतारूपी रोग लगा हुआ है उसे दूर करनेकी अपूर्व विधि यहाँ कही जा रही है, उसे सावधानी पूर्वक समझना चाहिये।

सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित अविरोधी न्यायसे जैसा कहा जाता है वैसा ही समझना चाहिये; यथार्थको सुनकर स्वयं यथार्थताका निश्चय करना और पूर्ण निर्मल अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभावको निश्चय-दृष्टिके बलसे मुख्य करके उसका मनन करना चाहिये; वर्तमान विकारी अवस्थाको जो कि आत्मामें है जड़में नहीं जानना और

१–द्रव्यार्थिक = (द्रव्य + अर्थ) द्रव्य = वस्तु, अर्थ = प्रयोजन। वस्तुको द्रव्यस्वभावसे बताना सो द्रव्यार्थिकनय है।

२–पर्यायार्थिक = पर्याय (अवस्था)को बतानेका जो प्रयोजन है सो पर्यायार्थिकनय है।

अवस्था दृष्टिको गौण करना चाहिये; ऐसे प्रयोजनको जानकर अवस्था और अखण्ड वस्तु दोनोंका यथार्थ ज्ञान करके, अन्तरंगमें निर्मल ध्रुवस्वभावकी रुचिसे उसकी दृढ़ताका अभ्यास बढ़ाना चाहिये। इसप्रकार तत्त्वज्ञानके विषयमें रमणता करनेसे मोहका नाश होकर स्वभावकी प्रतीति होनेसे निर्मलदशाका अनुभव होता है।

इसे समझे बिना छुटकारा नहीं है। ऊपरसे ऐसा मानता है कि मैंने समझ लिया है, मेरे समभाव है, मुझे बुरा नहीं करना है किन्तु अच्छा ही करना है और इसप्रकार अपने मनको समझाया करता है; किन्तु सर्वज्ञ वीतरागके न्यायानुसार अच्छा क्या है यह निश्चय न करे तो यह मालूम नहीं हो सकता कि विपरीत मान्यता कहाँ पुष्ट हो रही है। जैसे गर्मीके दिनोंमें किसी छोटे बालकको पतला दस्त हो जाये और वह उसे चाटने लगे तो वह उसकी ठंडकसे संतुष्ट होता है, वह उसकी मात्र अज्ञानता ही है; इसीप्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान अविकारी आत्मा मनके विकल्पोंसे पृथक् है, उसे भूलकर अपनी कल्पनासे (विपरीत मान्यतासे) माने गये धर्मके नाम पर और अपने हित करनेके नाम पर शुभभाव (चैतन्यस्वभावके गुणकी विकाररूपी विष्टा) का ठीक मानकर संतुष्ट होता और मानता है कि इससे कुछ अच्छा होगा, वह उस बालकके समान अज्ञानी है जो विष्टाको अच्छा मान रहा है। सर्वज्ञके न्यायसे, सत्समागमसे, पूर्वापर विरोधसे रहित, यथार्थ हित क्या है इसकी परीक्षा करना सो अज्ञान है, और अज्ञान कोई बचाव नहीं है।

संसारकी रुचिके लिये बुद्धिका विलक्षण कर रहा है, इसमें (संसारमें) अच्छे-बुरेका निश्चय कर सकता है किन्तु यदि उस रुचि-को बदलकर अपनी ही रुचि करे और भलीभाँति निश्चय करे कि सच्चा हित है तो यथार्थ हित हो इसलिये परीक्षा करनी चाहिये, किन्तु अन्ध-श्रद्धासे उसे नहीं मान लेना चाहिये।

समयसारमें जो निश्चय व्याख्या निहित है वे अत्यंत अद्भुत हैं। इस कालमें ऐसी यथार्थ बात कानोंमें पड़ना दुर्लभ है। यह त्रिलोकी

है उसे सामान्य त्रिकाल एकरूप शुद्ध द्रव्यत्व और विशेष वर्तमान अवस्थाभाव दोनों मिलकर पूर्ण वस्तु है इसकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती। यदि कोई ऐसा माने कि त्रिकाल नित्यता ही है और वर्तमान अनित्य अवस्थाका परिवर्तन न माने तो वास्तवमें ऐसा स्वरूप नहीं है अर्थात उसकी मान्यता मिथ्या है।

मिर्च और कालीमिर्चकी चरपराहटका अन्तर ज्ञानमें प्रतीत होता है, किन्तु स्वादका वर्णन वाणी द्वारा संतोष पूर्वक नहीं किया जा सकता; इसीप्रकार अखण्ड ध्रुव ज्ञानानन्द एकाकार स्वभावको लक्षमें लेने पर सहज निर्मल अवस्थाका आनन्द प्रगट होता है; उसका भेद नहीं करना पड़ता तथापि वह ज्ञानमें प्रतीत होता है। वर्तमान पर्यायमें भेददृष्टि करने पर राग–द्वेष–विकल्प होता है, यदि उसमें शुभभाव करे तो मन्द आकुलता और पापभाव करे तो तीव्र आकुलताका स्वाद आता है, उसके अन्तरको ज्ञानी जानता है। स्थिरताका लक्ष करने पर बीचमें व्यवहारके भेद आते हैं, तथापि उन्हें मुख्य नहीं करते। इसप्रकार अखण्ड ध्रुवस्वभावकी श्रद्धाके बलसे क्रमशः निर्मल अवस्था बढ़ती जाती है और राग कम होता जाता है। शुद्धनयका फल वीतरागता है, भेदरूप व्यवहारमें अटकने वाली अशुद्ध दृष्टिका फल संसार है; ज्ञानी उसका आदर नहीं करते।

किसी बाह्य पदार्थकी शरण लेनेसे गुण प्रगट नहीं होते। सच्चे देव, गुरु, शास्त्रकी शरणसे भी अन्तरंग तत्त्वको लाभ नहीं होता। देव-गुरु वीतराग हैं, तुझसे पररूप हैं, वे तुझमें नास्तिरूप हैं; जो अपना होता है वह काम आता है, मन और मनके सम्बन्धके योगसे विचार करनेमें विकल्प होता है, किन्तु यदि उनकी ओरके लक्षको भूल जावे तब स्वाश्रय अखण्डदृष्टि होती है। अन्तरंगका मार्ग ऐसा परम अद्भुत है, उसे यथार्थ समागमके द्वारा अपूर्व पात्रतासे जाग्रत होकर समझना चाहिये। श्रवणके बाद यथार्थ रुचा है [illegible] मंथन करना तो [illegible] कारण है। [illegible] मुक्त होनेके लिये जिसे निर्मल तत्त्वको समझना

चाहिये हो और अविकारी, अविनाशी, स्वतंत्रताकी नींव डालना हो उसे पहलेसे ही ऐसी यथार्थकी श्रद्धा करनी होगी कि जिसमें किसी ओरसे विरोध न रहे, उसके बाद ही चारित्र हो सकेगा।

लौकिक व्यवहारके साथ इस बातका मेल नहीं खाता। अखण्ड ज्ञायकस्वरूपको समझनेके विचारमें भेद (विकल्प) होता है तथापि यह सहायक नहीं है, उसमें कोई गुण-लाभ नहीं होता। अखण्डके यथार्थ लक्षसे अखण्डका ज्ञान, श्रद्धा और स्थिरतारूप चारित्र होता है। भेदरूप व्यवहार गौण हो जाता है किन्तु ज्ञानमें भेदरूप अवस्था खयालसे बाहर नहीं जाती। इस सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अधिकाधिक मनन करना चाहिये। इसप्रकार बारह गाथाओं तक सम्पूर्ण समयसारकी भूमिका हुई। जैसे वृक्षकी रक्षाके लिये उसके तनेके चारों ओर चबूतरा बनाया जाता है इसीप्रकार आत्माके सारको संक्षेपमें समझनेके लिये आचार्यदेवने भूमिकारूपी चबूतरा बांधा है। विशेषरूपसे, विविध पहलुओंसे दृढ़ता पूर्वक समझानेका अधिकार इसके बाद कहा जावेगा।

शंका:—समयसारमें तो मुनियोंके लिये उपदेश है, बहुत उच्च भूमिकाकी बात है।

समाधान:—ऐसा नहीं है, किन्तु प्रथम धर्मके प्रारम्भकी ही बात है, यह तो वीतराग मार्गकी सबसे पहली इकाई है।

अब आचार्यदेव शुद्धनयको प्रधान करके निश्चयसम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं। जीव-अजीव आदिक नव तत्त्वकी श्रद्धाको व्यवहारसे सम्यक्त्व कहा है। नव तत्त्वके भेद-विकल्पसे रहित, एकरूप, अखण्ड, ज्ञानस्वरूप पूर्ण वस्तुको शुद्धदृष्टिके द्वारा जाननेसे विकल्प टूटकर अखण्डके लक्षसे सम्यग्दर्शन होता है, तथापि बीचमें नवतत्त्वके भेद करने वाले शुभ विकल्पका व्यवहार आता है, किन्तु वह कहीं सहायक नहीं होता। एकरूप यथार्थताका निश्चय करनेके लिये भेदरूप व्यवहारनय द्वारा शुभ विकल्पोंसे नव तत्त्वोंको जानना सो

व्यवहार-सम्यक्त्व कहा है। उन नव तत्त्वोंका स्वरूप यहाँ कहा जा रहा है:—

(१) जीवः—जीव = आत्मा। वह सदा ज्ञाता, परसे भिन्न और त्रिकालस्थायी है। (जब पर-निमित्तके शुभ अवलम्बनमें युक्त होता है तब शुभभाव (पुण्य) होता है और जब अशुभ अवलम्बनमें युक्त होता है तब अशुभभाव (पाप) होता है; और जब स्वावलम्बी होता है तब शुद्धभाव होता है।)

(२) अजीवः—जिसमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है ऐसे पाँच द्रव्य हैं। उनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त है।

अजीव वस्तुएँ आत्मासे भिन्न हैं तथा अनन्त आत्मा भी एक-दूसरेसे स्वतंत्र-भिन्न हैं। परसंयोगसे रहित एकाकी तत्त्व हो तो उसमें विकार नहीं होता। परोन्मुख होने पर जीवके पुण्य-पापरूप, शुभाशुभ विकारकी भावना होती है। जब जीव रागादिक करता है तब जड़कर्मकी सूक्ष्म धूल जो क्षणिक संयोग-सम्बन्धसे है निमित्त होती है।

(३) पुण्यः—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादिके भाव जीवके होते हैं सो अरूपी विकारीभाव हैं, जो कि भावपुण्य हैं और उसके निमित्तसे जड़ परमाणुओंका समूह स्वयं (अपने कारणसे-स्वतः) एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्धसे जीवके साथ बँधता है सो द्रव्यपुण्य है।

(४) पापः—हिंसा, झूठ, चोरी, अव्रत इत्यादिका अशुभभाव भावपाप है और उसके निमित्तसे जड़की शक्तिसे परमाणुओंका जो समूह स्वयं बँधता है सो द्रव्यपाप है।

परमार्थसे पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है। आत्मामें क्षणिक अवस्थामें पर-सम्बन्धसे विकार होता है, वह मेरा नहीं है।

(५) आस्रवः—विकारी शुभाशुभ भावरूप जो अरूपी अवस्था जीवमें होती है सो भावास्रव है, और नवीन कर्म-रजकणोंका आना (आत्माके साथ एक क्षेत्रमें रहना) सो द्रव्यास्रव है।

(६) संवरः—पुण्य-पापके विकारी भावों (भावास्रव) को आत्माके शुद्ध भावोंसे रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार नवीन कर्म बँधनेसे रुक जायें सो द्रव्यसंवर है।

(७) निर्जराः—अखण्डानन्द शुद्ध आत्मस्वभावके बलसे स्वरूप-स्थिरताकी वृद्धिके द्वारा अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्थाका आंशिक नाश करना सो भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़कर्मका अंशतः खिर जाना सो द्रव्यनिर्जरा है।

(८) बन्धः—आत्माका राग-द्वेष पुण्य-पापके भावमें अटक जाना सो भावबन्ध है और उसके निमित्तसे पुद्गलका उसकी शक्तिसे कर्मरूप बँधना सो द्रव्यबन्ध है।

(९) मोक्षः—अशुद्ध अवस्थाका सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर पूर्ण निर्मल पवित्रदशाका प्रगट होना सो भावमोक्ष है।

इसप्रकार जैसा नवतत्त्वका स्वरूप कहा है वैसा शुभभावसे विचार करता है, उस शुद्धका लक्ष हो तो व्यवहार–सम्यक्त्व है। व्रतादिके शुभभावको संवर–निर्जरामें माने तो आस्रव तत्त्वकी श्रद्धामें भूल होती है। व्यवहारश्रद्धामें किसी भी ओरसे भूल न हो इसप्रकार नव भेदोंमेंसे *शुद्धनयके द्वारा एकरूप अखण्ड ज्ञायकस्वभावी आत्माको परख लेना सो परमार्थश्रद्धा–सम्यक्दर्शन है। धर्मके नाम पर लोगोंमें अपना माना हुआ सम्यक्त्व दूसरेको देते हैं या कहते हैं, किन्तु वैसा सम्यक्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि किसीका गुण तथा गुणकी पर्याय किसी दूसरेको नहीं दी जा सकती।

---

* वर्तमान अवस्थाके भेदको लक्षमें न लेकर (गौण करके) त्रिकाल एकरूप वीतराग स्वभावको अभेदरूपसे लक्षमें लेना सो शुद्धनय है।

और फिर कैसा है वह आत्मा? शुद्धनयसे एकत्वमें निश्चित किया गया है। शुद्धनयके द्वारा तत्त्वके नव-भेदोंमेंसे एक ज्ञायक स्वरूपसे अखण्डरूपसे आत्माको लक्षमें लेकर अपने त्रिकाल ध्रौव्यत्वमें निश्चित किया गया है। यद्यपि गुण अनन्त हैं किन्तु अखण्डकी श्रद्धामें भेद-विकल्प छोड़ दिया जाता है। जैसे सोनेमें पीलापन, चिकनापन इत्यादि अनेक गुण एक साथ होते हैं, किन्तु मात्र सोनेको ही खरीदने वाले स्वर्णकारको उसके विभिन्न गुणों पर अथवा उसकी रचना इत्यादि पर लक्ष नहीं होता, उसका लक्ष तो एकमात्र सोने पर ही होता है, वह तो देखता है कि उसीमें समस्त अवस्थाएँ तथा गुणोंकी शक्ति वर्तमानमें एक ही साथ विद्यमान है। भेदको लक्षमें न लेकर अखण्ड ध्रुव एकरूप पूर्ण स्वभावको लक्षमें लेना, उसमें किसी निमित्तकी अपेक्षाको न मिलाना सो सच्चा धर्म-सम्यक्दर्शन है। इसमें ऐसी बात नहीं है कि यदि हमारी बातको मानो तो ही सम्यक्दर्शन होगा, किन्तु स्वयं निश्चित करके अपने स्वतंत्र-पूर्ण एकत्वस्वरूपको अपनेसे ही मानो तो सम्यक्दर्शन होता है। देव-गुरु-शास्त्र और वीतरागकी साक्षात् वाणी भी परवस्तु है। तू उसके आश्रयसे रहित पूर्ण है, ऐसे एकरूप अखण्ड स्वरूपकी प्रतीति तुझसे ही होती है।

परमाणुमात्र मेरा नहीं है, राग-द्वेष मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं परका कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, किन्तु अखण्ड ज्ञायक हूँ, ऐसी यथार्थ प्रतीति (सम्यक्दर्शन) गृहस्थदशामें (सधन या निर्धन चाहे जिस अवस्थामें) हो सकती है। गृहस्थदशाके अनेक संयोगोंके बीच रहते हुए भी अपने अविकारी स्वभावकी प्रतीति हो सकती है। यदि वह रागको दूर करके विशेष स्थिरता करे तो मुनि हो सकता है; वह वर्तमान पुरुषार्थकी अशक्तिको जानता है और अन्तरंगमें उदास रहकर परावलंबनके सम्पूर्ण रागको छोड़ना चाहता है। संसारमें रहता हुआ भी संसारके संयोगोंमें अनुरक्त नहीं है किन्तु अपने स्वरूपमें ही शानानंद साक्षीरूपसे आत्मामें ही विद्यमान है। जैसे अछूतोंके किसी मेलेमें

और फिर ऐसा है [illegible]
गया है। [illegible]
अखण्डरूपसे आत्माको [illegible]
किया गया है। [illegible]
भेद-विकल्प छोड़ दिया जाता है। जैसे [illegible],
इत्यादि अनेक गुण एक साथ होते हैं, [illegible]
वाले सर्राफको उसके विभिन्न गुणों पर ध्यान [illegible]
पर लक्ष नहीं होता, उसका लक्ष तो एकमात्र [illegible] पर ही होता है,
वह तो देखता है कि [illegible] गुणोंकी शक्ति
वर्तमानमें एक ही साथ विद्यमान है। [illegible] अखण्ड
ध्रुव एकरूप पूर्ण स्वभावको लक्षमें लेना, उसमें किसी निमित्तकी
अपेक्षाको न मिलाना सो सच्चा भाव सम्यक्दर्शन है। इसमें ऐसी
बात नहीं है कि यदि हमारे मतको मानो तो ही सम्यक्दर्शन होगा,
किन्तु स्वयं निश्चित करके अपने स्वतंत्र पूर्ण एकाकाररूपको अपनेसे
ही मानो तो सम्यक्दर्शन होता है। देव गुरु-शास्त्र और वीतरागकी
साक्षात् वाणी भी परवस्तु है। तू उसके आश्रयसे रहित पूर्ण है, ऐसे
एकरूप अखण्ड स्वरूपकी प्रतीति तुझसे ही होती है।

परमाणुमात्र मेरा नहीं है, राग-द्वेष मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं परका
कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, किन्तु अखण्ड ज्ञायक हूँ, ऐसी यथार्थ प्रतीति
(सम्यक्दर्शन) गृहस्थदशामें (सधन या निर्धन चाहे जिस अवस्थामें)
हो सकती है। गृहस्थदशाके अनेक संयोगोंके बीच रहते हुए भी
अपने अविकारी स्वभावकी प्रतीति हो सकती है। यदि वह रागको
दूर करके विशेष स्थिरता करे तो मुनि हो सकता है; वह वर्तमान
पुरुषार्थकी अशक्तिको जानता है और अन्तरंगमें उदास रहकर परावलंबनके
सम्पूर्ण रागको छोड़ना चाहता है। संसारमें रहता हुआ भी
संसारके संयोगोंमें अनुरक्त नहीं है किन्तु अपने स्वरूपमें ही ज्ञानानंद
साक्षीरूपसे आत्मामें ही विद्यमान है। जैसे अछूतोंके किसी मेलेमें

कोई वणिक अपनी दूकान लेकर जाता है तो उसे ऐसी शंका कदापि नहीं होती कि मैं इन सब अछूतोंके साथ एकमेक हो गया हूँ? उसके मनमें यह निःशंक निर्णय होता है कि मैं अग्रवाल अथवा श्रीमाली वणिक ही हूँ इसी प्रकार मैं आत्मा पुण्य-पापरूप विकारका नाशक, स्वरूपका रक्षक, अखंड अविकारी स्वभावका स्वामी हूँ, विकल्प-संयोगका स्वामी नहीं हूँ, मैं संयोगमें एकरूप नहीं हो जाता। ऐसी यथार्थ श्रद्धा होनेके बाद वर्तमान पुरुषार्थसे वीतरागी अबन्ध ही हूँ। आत्मा अछूत-हरिजन अथवा वणिक नहीं है, तथा आत्मा सधन अथवा निर्धन नहीं है, वह तो मात्र ज्ञायकस्वभाव ही है।

परसे भिन्नरूप सिद्ध-परमात्माके समान पूर्ण पवित्र आत्मामें परमार्थसे एकत्वका निर्णय करना सो उसे भगवानने सम्यक्दर्शन कहा है। जिसके अविकारी अखण्डके बलसे एकबार ही आंशिक निर्मलदशा प्रगट हो गई है वह बारम्बार निर्मल एकत्वस्वभावमें एकाग्रताके बलसे पूर्ण निर्मलदशा प्रगट करता है।

और वह परसे भिन्न आत्मा कैसा है? पूर्ण ज्ञानानंदघन है। उसमें विकल्प पुण्य-पापकी रज प्रवेश नहीं कर सकती। जैसे निहाई (ऐरन) में लोहेकी कील प्रवेश नहीं कर सकती इसीप्रकार निरपेक्ष, एकरूप, ज्ञानघन आत्मामें पुण्य-पापकी क्षणिक वृत्ति प्रवेश नहीं कर सकती। विकल्पका उत्थान निमित्ताधीन अवस्थासे होता है जो कि गौण है। त्रिकाल एकरूप द्रव्यस्वभाव परमार्थमें विकारके कर्तृत्वका किंचित्मात्र अवकाश नहीं है।

प्रथम श्रद्धामें पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा ही हूँ, ऐसी श्रद्धाके बलसे कोई विकारकी प्रवृत्तिका स्वामित्व नहीं होने देता तथापि वर्तमान पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण शुभाशुभ वृत्ति होती है, अशुभसे बचनेके लिये शुभमें प्रवृत्त होता है किन्तु उसमें गुणका होना नहीं मानता। श्रद्धामें प्रत्येक विकार (परावलम्बन) का निषेध है। जैसे अग्नि ईंधनका नाशक है—रक्षक नहीं और सूर्यका स्वभाव अन्धकारको उत्पन्न करना नहीं

कोई वणिक अपनी दूकान लेकर जाता है तो उसे ऐसी शंका कदापि नहीं होती कि मैं इन सब अछूतोंके साथ एकमेक हो गया हूँ? उसके मनमें यह निःशंक निर्णय होता है कि मैं अग्रवाल अथवा श्रीमाली वणिक ही हूँ इसी प्रकार मैं आत्मा पुण्य-पापरूप विकारका नाशक, स्वरूपका रक्षक, अखंड अविकारी स्वभावका स्वामी हूँ, विकल्प-संयोगका स्वामी नहीं हूँ, मैं संयोगमें एकरूप नहीं हो जाता। ऐसी यथार्थ श्रद्धा होनेके बाद वर्तमान पुरुषार्थसे वीतरागी अबन्ध ही हूँ। आत्मा अछूत-हरिजन अथवा वणिक नहीं है, तथा आत्मा सधन अथवा निर्धन नहीं है, वह तो मात्र ज्ञायकस्वभाव ही है।

परसे भिन्नरूप सिद्ध-परमात्माके समान पूर्ण पवित्र आत्मामें परमार्थसे एकत्वका निर्णय करना सो उसे भगवानने सम्यक्‌दर्शन कहा है। जिसके अविकारी अखण्डके बलसे एकबार ही आंशिक निर्मलदशा प्रगट हो गई है वह बारम्बार निर्मल एकत्वस्वभावमें एकाग्रताके बलसे पूर्ण निर्मलदशा प्रगट करता है।

और वह परसे भिन्न आत्मा कैसा है? पूर्ण ज्ञानानंदघन है। उसमें विकल्प पुण्य-पापकी रज प्रवेश नहीं कर सकती। जैसे निहाई (एरन) में लोहेकी कील प्रवेश नहीं कर सकती उसीप्रकार निरपेक्ष, एकरूप, ज्ञानघन आत्मामें पुण्य-पापकी क्षणिक वृत्ति प्रवेश नहीं कर सकती। विकल्पका उत्थान निमित्ताधीन अवस्थासे होता है जो कि गौण है। त्रिकाल एकरूप द्रव्यस्वभाव परमार्थमें विकारके कर्तृत्वका किंचित्‌मात्र अवकाश नहीं है।

प्रथम श्रद्धामें पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा ही हूँ, ऐसी प्रतीतिके बलसे कोई विकारकी प्रवृत्तिका स्वामित्व नहीं होने देता तथापि वर्तमान पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण शुभाशुभ वृत्ति होती है, अशुभसे बचनेके लिये शुभमें प्रवृत्त होता है किन्तु उसमें रुचिका होना नहीं मानता। श्रद्धामें प्रत्येक विकार (परावलम्बन) का निषेध है। जैसे अग्नि ईंधनको नाशक है-रक्षक नहीं और सूर्यका स्वभाव अन्धकारको उत्पन्न करना नहीं

न्तु उसका नाश करना है, इसीप्रकार मेरा अखण्ड ज्ञायकस्वभाव एक-
सतत ज्ञायकस्वरूप है, किसीमें अच्छा-बुरा मानकर रुकनेरूप नहीं
। ऐसे वीतरागी भावकी प्रतीतिके बलमें रागका स्वामित्व-कर्तृत्व नहीं
तथापि पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण जो राग होता है उसे मात्र
नता है किन्तु करने योग्य नहीं मानता। विकल्पको तोड़कर स्थिर
ना चाहता है, और यह मानता है कि अखण्डस्वभावके बलसे
न्तरोन्मुख होना ही उसका उपाय है, विशेष स्थिरता होने पर अशुभ-
टूटकर सहज ही व्रतादिक आते हैं उसमें जितना राग दूर होता
उतना ही गुण मानता है और जो राग रहता है उसका किंचित्मात्र
आदर नहीं करता।

सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कथित न्यायानुसार नव तत्त्वोंको जानकर
से और विकारसे आत्मा भिन्न है, उसे शुद्धनयसे जानना सो सम्यक्-
र्शन है जो कि अनन्तकालमें जीवने कभी भी प्रगट नहीं किया। उससे
हित पुण्यभावमें मिथ्यादर्शनका महा-पाप बन्धता है। भक्ति, पूजा,
ान, व्रत, तप, त्यागमें रागको कम करे तो पुण्यबन्ध होता है, जिसके
लसे कभी भला राजा अथवा निम्नकोटिका देव होता है। हिंसा, झूठ,
ोरी, कुशील इत्यादिके अशुभभाव करनेसे पाप-बन्ध होता है, जिसके
लसे तिर्यंच और नरक इत्यादि गतिमें परिभ्रमण करता है। पुण्य-
ापकी उपाधिसे रहित अविकारी, असंग, एकरूप स्वभावकी श्रद्धा और
न-परके भेदरूप ज्ञानके बिना सच्चा चारित्र नहीं हो सकता और
ीतराग चारित्रके बिना केवलज्ञान या मोक्ष नहीं हो सकता।

जितना सम्यक्दर्शन है उतना ही आत्मा है। जितनेमें मिठास
उतनेमें मिश्री है, इसी प्रकार पूर्णरूप शुद्ध आत्माको लक्ष्यमें लेने
ाला सम्यक्दर्शन उतना ही है जितना आत्मा है, क्योंकि वह
सम्यक्दर्शन) आत्मामें आत्माके आधारसे है, मन, वाणी,
ेह अथवा पुण्य-पापकी शुभाशुभ वृत्तिके आधार पर आधारित नहीं
ै। यदि कोई मात्र शास्त्रमें आत्माको जानकर मनमें धारण कर के

तो वह भी सम्यक्दर्शन नहीं है। पूजा, भक्ति, व्रतादि तथा नवतत्त्वोंके शुभभावकी वृत्ति करे तो भी वह संयोगाधीन क्षणिकभाव है-कृत्रिम भाव है, वह शाश्वत, अकृत्रिम, अविकारी, एकरूप, ज्ञायकस्वभावका नहीं है। कुछ भी करने-धरनेकी हां या नाके रूपमें जितनी वृत्ति उत्पन्न होती है वह सब उपाधिभाव है, उस उपाधिभावके भेदसे रहित यथार्थ श्रद्धा सम्पूर्ण आत्माके स्वरूपमें फैली हुई है, आत्मासे भिन्न नहीं है। ऐसे निरुपाधिक शुद्ध पूर्ण स्वभावका जो निश्चय किया गया उसे सर्वज्ञभगवानने सम्यक्दर्शन कहा है।

आचार्यदेव प्रार्थना करते हैं कि "इस नवतत्त्वकी परिपाटीको छोड़कर, हमें यह एकमात्र आत्मा ही प्राप्त हो।" अन्यत्र रुक जाना हमें नहीं पुसाता। उसे नवतत्त्वके विचारमें मनके सम्बन्धसे विकल्प करनेको रुक जाना भी ठीक नहीं है। आत्माका स्वरूप ऐसा नहीं है कि नवतत्त्वके विकल्पसे उसका पूरा पड़ सके। समझे बिना अपनी कल्पनासे शास्त्र पढ़े अथवा चाहे जितने अन्य प्रयत्न करे किन्तु अन्तरंगका मार्ग गुरुज्ञानके बिना हाथ नहीं आता। यथार्थ निःसंदेह ज्ञान जब स्वयं करे तब स्वतः होता है, किन्तु [illegible] [illegible] गुरुज्ञान होना आवश्यक है।

आत्मामें मात्र आनन्द भरा हुआ है। उसका [illegible] [illegible] समझपूर्वक स्थिर होना सो निर्विकल्प चारित्रकी क्रिया है। उसमें आनन्द है। जो कष्टमें धर्म मानता है वह कहता है कि "देहे दुःखं महाफलं" अर्थात् यदि कष्ट सहन करो तो गुण प्राप्त होगा। जो यह कहता है कि उपवास तो भूखका मारा है उसे उपवासके प्रति अरुचि है। इस अरुचि (द्वेष) भावको भगवानने आर्त्तध्यान कहा है। [illegible] प्रतिकूलता सहन नहीं होती इसलिये जो यह मानता है कि [illegible] उपवाससे या शरीरके कष्टसे धर्म होता है वह पापको पुण्यरूप मानता है। यहां व्यवहारसे भी नवतत्त्वोंका श्रद्धा नहीं है। जो धर्म करते हुए कष्ट मानता है उसे निराकुल स्वभावके प्रति अरुचि है सो [illegible]

और द्वेष [illegible] है, [illegible] नहीं होता, [illegible]

प्रश्न—[illegible]

उत्तर—हे भाई! [illegible] भी नहीं [illegible]। [illegible] परिणामका [illegible] और [illegible] सूक्ष्म करे [illegible] होता है, [illegible] नहीं। [illegible] गिरता है और [illegible] है। [illegible] परके ऊपर जितना राग करता है [illegible] होता है।

प्रश्नः—[illegible] लड्डू [illegible] जा सकता है?

उत्तरः—भाई (आत्मा) लड्डू खा ही नहीं सकता। अज्ञानी जीव लड्डूके रागकी आकुलताको भोगता है और ज्ञानी निराकुल स्वभावके लक्षमें अपने परिणामका माप निकालता है। शरीरकी अनुकूलता या प्रतिकूलता पर लक्ष नहीं है। आनन्द स्वभावको जाननेके मंथनमें आहारकी इच्छा सहज टूट जाती है, इसप्रकार इच्छाका निरोध करके, स्वरूपमें लीन होना सो भगवानने तप कहा है यही तप मोक्षका कारण है। जो उसे कष्टदाता मानता है वह धर्मात्मा-स्वभावका अनादर करता है, उसे वीतराग कथित नवतत्त्वोंकी व्यवहारसे भी श्रद्धा नहीं है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि यथार्थ नवतत्त्वोंकी परिपाटीकी पकड़में लग जाना नहीं पुसाता। जो परमार्थतत्त्वको समझनेके लिये तैयार होकर आया है उसे इतनी व्यवहार-श्रद्धाकी खबर तो होगी ही ऐसा मान लिया है। यहाँ तो व्यवहारके भेदको उलंघन कर जानेकी बात है। मात्र व्यवहारतत्त्वसे और पुण्यसे धर्म मनवाने वाली दुकानें बहुत-सी हैं। जैसे कालेज वाले यह समझ लेते हैं कि यहाँ पढ़नेको आने वाले पहली कक्षासे लेकर मैट्रिक तक तैयार होकर ही आये हैं, उसी प्रकार अनन्त जन्म-मरणको टालनेके लिये जो परमार्थतत्त्वके निकट आया है उसे नवतत्त्वोंके यथार्थ ज्ञानकी खबर तो

होनी ही चाहिये। यह धर्ममार्गकी सर्वप्रथम इकाईकी बात है। सर्व प्रथम वास्तविक इकाई निश्चयसम्यक्दर्शन है।

कितने लोग यह कहते हैं कि समयसारमें बहुत ही उच्चकक्षाकी बात है, उसे समझने या उसका परिचय प्राप्त करनेसे इन्कार करते हैं; किन्तु सर्वप्रथम धर्मका मूल्य परमार्थ सम्यक्त्व क्या है, यह पूर्वापर विरोध रहित समझना हो तो उसके लिये यह बात है।

अनन्तकालमें स्वरूपको पहिचाननेके अतिरिक्त आत्मा अन्य सब कुछ कर चुका है। "पहले जो कभी नहीं समझा था वह परमार्थ स्वरूप कैसा है" यही समझनेके लिये जो आये हैं उन्हें आचार्यदेव कहते हैं कि–यथार्थ नवतत्त्वोंके शुभ विकल्पकी प्रवृत्तिसे छूटकर इस ज्ञानानन्द अविकारी आत्माकी प्राप्ति करो। परसे भिन्न और निजसे अभिन्न स्वभावकी श्रद्धा-ज्ञान प्राप्त करो।

भावार्थः—सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप त्रैकालिक गुण-पर्यायके भेदोंमें व्याप्त यह आत्मा एकाकार ज्ञायकरूपसे शुद्धनयसे बतलाया है, उसे सर्व अन्य द्रव्योंसे तथा अन्य द्रव्यके निमित्तसे होने वाले विकारी भावोंसे भिन्न देखना और अनुभव सहित यथार्थरूपमें श्रद्धा करना सो नियमसे सम्यक्दर्शन है। भगवान आत्मा परसे निराला त्रिकाल स्वभावसे निर्मल ही है, वर्तमान प्रत्येक समयकी अवस्थामें कर्मके संयोगकी अपेक्षासे अशुद्धताका अंश है उसे देखनेवाली व्यवहारदृष्टिको गौण करके त्रैकालिक एकाकार सामान्य ज्ञायकस्वभावको शुद्धनयसे अपने एकत्वमें निश्चित किया गया है अर्थात् निःशंक श्रद्धा की गई है और यही जन्म मरणको दूर करनेका निश्चय उपायरूप प्रथम गुण है। (गुण = लाभ)

नवतत्त्वोंमें जो विचार आते होते हैं उनके विकल्पोंमें अटककर आत्माको अनेक भेदरूप करके व्यवहारनय सम्यग्दर्शनको अनेक भेद-रूप कहता है वहां व्यभिचार (दोष) आता है, एकरूप निश्चय नहीं

चाहिये हो और अविकारी, अविनाशी, [illegible] और [illegible] पहलेसे ही ऐसी यथार्थकी श्रद्धा रखनी होगी कि जिससे कहीं आगे विरोध न रहे, उसके बाद ही चारित्र हो सकेगा।

लौकिक व्यवहारके साथ इस [illegible] मेल नहीं खाता। अतः ज्ञायकस्वरूपको समझनेके विचारमें भेद (विकल्प) होता है तथापि वह सहायक नहीं है, उससे कोई गुण-लाभ नहीं होता। अखण्डके यथार्थ लक्षसे अखण्डका ज्ञान, श्रद्धा और स्थिरतारूप चारित्र होता है। भेदरूप व्यवहार गौण हो जाता है किन्तु ज्ञानमें भेदकी [illegible] नहीं जाती। इस सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अधिकाधिक मनन करना चाहिये। इसप्रकार बारह गाथाओं तक सम्पूर्ण समयसारकी भूमिका हुई। जैसे वृक्षकी रक्षाके लिये उसके तनेके चारों ओर चबूतरा बनाया जाता है इसीप्रकार आत्माके सारको संक्षेपमें समझनेके लिये आचार्यदेवने भूमिकारूपी चबूतरा बांधा है। विशेषरूपसे, विविध पहलुओंसे दृढ़ता पूर्वक समझानेका अधिकार इसके बाद कहा जायेगा।

शंकाः—समयसारमें तो मुनियोंके लिये उपदेश है, बहुत उच्च भूमिकाकी बात है।

समाधानः—ऐसा नहीं है, किन्तु प्रथम धर्मके प्रारम्भकी ही बात है, यह तो वीतराग मार्गकी सबसे पहली इकाई है।

अब आचार्यदेव शुद्धनयको प्रधान करके निश्चयसम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं। जीव-अजीव आदिक नव तत्त्वकी श्रद्धाको व्यवहारसे सम्यक्त्व कहा है। नव तत्त्वके भेद-विकल्पसे रहित, एकरूप, अखण्ड, ज्ञानस्वरूप पूर्ण वस्तुको शुद्धदृष्टिके द्वारा जाननेसे विकल्प टूटकर अखण्डके लक्षसे सम्यग्दर्शन होता है, तथापि बीचमें नवतत्त्वके भेद करने वाले शुभ विकल्पका व्यवहार आता है, किन्तु वह कहीं सहायक नहीं होता। एकरूप यथार्थताका निश्चय करनेके लिये भेदरूप व्यवहारनय द्वारा शुभ विकल्पोंसे नव तत्त्वोंको जानना सो

व्यवहार-सम्यक्त्व कहा है। उन नव तत्त्वोंका स्वरूप यहाँ कहा जा रहा है:—

(१) जीवः—जीव = आत्मा। वह सदा ज्ञाता, परसे भिन्न और त्रिकालस्थायी है। (जब पर-निमित्तके शुभ अवलम्बनमें युक्त होता है तब शुभभाव (पुण्य) होता है और जब अशुभ अवलम्बनमें युक्त होता है तब अशुभभाव (पाप) होता है; और जब स्वावलम्बी होता है तब शुद्धभाव होता है।)

(२) अजीवः—जिनमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है ऐसे पाँच द्रव्य हैं। उनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त है।

अजीव वस्तुएँ आत्मासे भिन्न हैं तथा अनन्त आत्मा भी एक-दूसरेसे स्वतंत्र-भिन्न हैं। परसंयोगसे रहित एकाकी तत्त्व हो तो उसमें विकार नहीं होता। परोन्मुख होने पर जीवके पुण्य-पापकी, शुभाशुभ विकारकी भावना होती है। जब जीव रागादिक करता है तब जड़कर्मकी सूक्ष्म धूल जो क्षणिक संयोग-सम्बन्धसे है निमित्त होती है।

(३) पुण्यः—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादिके भाव जीवके होते हैं सो अरूपी विकारीभाव हैं, जो कि भावपुण्य है और उसके निमित्तसे जड़ परमाणुओंका समूह स्वयं (अपने कारणसे—स्वतः) एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्धसे जीवके साथ बंधता है सो द्रव्यपुण्य है।

(४) पापः—हिंसा, झूठ, चोरी, अव्रत इत्यादिके अशुभभाव भावपाप हैं और उसके निमित्तसे जड़की शक्तिसे परमाणुओंका जो समूह स्वयं बंधता है सो द्रव्यपाप है।

परमार्थसे पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है। आत्माके क्षणिक अवस्थामें परसम्बन्धसे विकार होता है, वह मेरा नहीं है।

(५) आस्रवः—विकारी शुभाशुभ भावरूप जो अरूपी अवस्था जीवमें होती है सो भावास्रव है; और नवीन कर्म-रजकणोंका आना (आत्माके साथ एक क्षेत्रमें रहना) सो द्रव्यास्रव है।

(६) संवरः—पुण्य-पापके विकारी भावों (आस्रव)को आत्माके शुद्ध भावोंसे रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार नवीन कर्म बँधनेसे रुक जायें सो द्रव्यसंवर है।

(७) निर्जराः—अखण्डानन्द शुद्ध आत्मस्वभावके बलसे स्वरूप-स्थिरताकी वृद्धिके द्वारा अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्थाका आंशिक नाश करना सो भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़कर्मका अंशतः खिर जाना सो द्रव्यनिर्जरा है।

(८) बन्धः—आत्माका राग-द्वेष पुण्य-पापके भावमें अटक जाना सो भावबन्ध है और उसके निमित्तसे पुद्गलका उसकी शक्तिसे कर्मरूप बँधना सो द्रव्यबन्ध है।

(९) मोक्षः—अशुद्ध अवस्थाका सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर पूर्ण निर्मल पवित्रदशाका प्रगट होना सो भावमोक्ष है।

इसप्रकार जैसा नवतत्त्वका स्वरूप कहा है वैसा शुभभावसे विचार करता है, उस शुद्धका लक्ष हो तो व्यवहार-सम्यक्त्व है। व्रतादिके शुभभावको संवर-निर्जरामें माने तो आस्रव तत्त्वकी श्रद्धामें भूल होती है। व्यवहारश्रद्धामें किसी भी ओरसे भूल न हो इसप्रकार नव भेदोंमेंसे *शुद्धनयके द्वारा एकरूप अखण्ड ज्ञायकस्वभावी आत्माको परख लेना सो परमार्थश्रद्धा-सम्यक्दर्शन है। धर्मके नाम पर लोगोंमें अपना माना हुआ सम्यक्त्व दूसरेको देते हैं या कहते हैं, किन्तु वैसा सम्यक्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि किसीका गुण तथा गुणकी पर्याय किसी दूसरेको नहीं दी जा सकती।

---

* वर्तमान अवस्थाके भेदको लक्षमें न लेकर (गौण करके) त्रिकाल एकरूप वीतराग स्वभावको अभेदरूपसे लक्षमें लेना सो शुद्धनय है।

प्रथम व्यवहारश्रद्धामें किसी भी ओरसे कोई विरोध न आये ऐसी समझ होनी चाहिये। जो मिथ्या देव-गुरु-शास्त्रसे अपना हित मानता है-शंकर, हनुमान और ऐसे ही अन्य देवी-देवताओंकी मनौती मनाता है, इनसे सन्तान प्राप्ति होगी, धन मिलेगा, रोग दूर होगा ऐसी विविध धारणाएँ बना लेता है उसके तीव्र तृष्णाका पाप होता है। बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलताका संयोग तो पूर्वकृत पुण्य-पापके अनुसार होता है, देवी-देवता किसी भी प्रकारकी अनुकूलता या प्रतिकूलता करनेमें समर्थ नहीं हैं। यदि ऐसा विश्वास अपनेमें लाये तो व्यवहारसे शुभभाव है, उससे पुण्यबन्ध होता है। वीतराग कथित सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और उनके स्वरूपको पहिचानकर माने तो जब शुद्धका लक्ष होता है तब वह व्यवहारसे सच्ची श्रद्धा कहलाती है, वह भी वास्तवमें निमित्तमात्र है।

शुभभावरूप नव तत्त्वोंकी श्रद्धासे निश्चयसम्यक्दर्शन नहीं होता, तथापि प्रथम निश्चयस्वरूपकी यथार्थताको जाननेके लिये शुभ विकल्प आते तो हैं किन्तु सम्यग्दर्शन और धर्म उससे भिन्न वस्तु है। जैसे किसी मंजिल पर जाते हुए बीचमें सीढ़ियाँ आती हैं किन्तु उनसे ऊपर नहीं चढ़ा जाता, किन्तु जब सीढ़ियोंको छोड़ते हैं (छोड़नेका अर्थ पैर रखते हैं) तब ऊपर पहुँचा जाता है; इसीप्रकार यथार्थ वस्तुका निर्णय करनेके लिये श्रवण-मननके द्वारा अनेक पहलुओंसे विचार करनेके लिये पहले शुभभाव आता है, तथा अशुभसे बचनेके लिये दया, दान, व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि शुभभाव आते हैं किन्तु वह कर्म-निमित्तक शुभ उपयोगका भेद है। नवतत्त्वके भेदोंका विचार करना भी मनके सम्बन्धसे होनेवाले शुभभावका विकल्प है, आत्माका स्वभाव नहीं है। नवतत्त्वके भेदसे-विकल्पसे आत्माका विचार करना तो पुण्यराग है, व्यवहार है, उसमें धर्म नहीं है।

वस्तु निश्चयसे ऐसी ही है। [illegible] किन्तु जिसे [illegible] होगा। पहले [illegible] अनुसार

व्यवहारके विकल्प जीवने किये हैं; भगवानके द्वारा कही गई व्यवहार-श्रद्धा अभव्य जीव भी करता है, किन्तु उस भेदसे लाभ नहीं होता।

जो अज्ञानी पहले समझना चाहता है उससे मात्र आत्मा अथवा "अखण्ड आत्मा" कह देनेसे नहीं समझ सकेगा, इसलिये उसे समझानेके लिये व्यवहारसे नवतत्त्वके भेद करके विकल्पके द्वारा अखण्डका लक्ष कराते हैं। मैं जीव हूँ, अजीव नहीं, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है इत्यादि प्रकार नवतत्त्वोंके शुभविकल्परूप श्रद्धाके भेदमेंसे आत्माको भिन्न करके एकत्व ग्रहण करके, त्रिकाल एकरूप स्थायी ज्ञायकरूपसे पूर्ण स्वभावको शुद्धनयसे श्रद्धामें लेना सो सम्यक्दर्शन है।

समझने वाला किसी प्रस्तुत वस्तुसे अथवा विकल्प करनेसे नहीं समझता किन्तु स्वतः समझता है। जो जानता है सो जीव है उसमें पररूप न होने वाले अनन्त गुणोंकी अनन्त शक्ति है, इसका विश्वास करने वालेके शुभभावकी प्रधानता नहीं है। तत्त्वका विचार करने पर जितने भेद होते हैं उनमेंसे अभेद वस्तुकी ओर झुककर अभेदत्वका निश्चय करता जाता है; वह परसे या मनके द्वारा निश्चय नहीं करता किन्तु स्वयं ज्ञाता होनेसे स्वयं निश्चय करता है। जब तक मनके सम्बन्धसे शुभविकल्पसे श्रद्धा करता है तबतक निश्चयसम्यक्दर्शन नहीं है, किन्तु जब विकल्पका श्रद्धामें अभाव करके, अखण्ड स्वभावके लक्षसे व्यवहारके भेदको गौण करके एकरूप स्व वस्तुमें एकाग्रता द्वारा अभेद स्वरूपका अनुभव करता है तब निश्चयसम्यक्दर्शन होता है।

शुभभाव राग है। रागके द्वारा आत्माको मानना सो पुण्यरूप व्यवहार है, धर्म नहीं। जीवादिक नव तत्त्वोंके लक्षसे श्रद्धा करना सो व्यवहारसम्यक्त्व है।

व्यवहारका अर्थ है एकका दूसरेमें उपचार। बिल्लीको सिंह कहना सो उपचार है। जिसने कभी सिंहको न देखा हो उसे समझानेके लिये बिल्लीमें सिंहका उपचार करके सिंहकी पहिचान कराई जाती

है, किन्तु बिल्ली वास्तवमें सिंह नहीं है। जिसे उपचारकी–व्यवहारकी प्रतीति नहीं है वह बिल्लीको ही वास्तविक सिंह मान लेता है; इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवानने अखण्ड आत्माकी पहिचान करानेके लिये उपचारसे–व्यवहारसे नवतत्त्वके भेद कहे हैं। यदि वह नवतत्त्वोंके विकल्प वाली श्रद्धाके भेदको ही यथार्थ आत्माका स्वरूप मान बैठे तो उसे व्यवहारकी ही खबर नहीं है। व्यवहार किसी परवस्तुमें या देहादिकी क्रियामें नहीं है। कोई जीव शरीरादिक परवस्तुकी क्रियाका या परवस्तुका व्यवहारसे भी कर्ता नहीं है। आत्मा त्रिकालमें भी न तो पररूप हो सकता है और न परकी पर्यायरूप हो सकता है। अज्ञानी जीव पुण्य–पापके विकारी शुभाशुभभावका कर्ता है। ज्ञानीके अखण्ड स्वभावकी प्रतीति होने पर भी वर्तमान पुरुषार्थकी अशक्तिसे राग होता है किन्तु वह उसका स्वामिभावसे कर्ता नहीं होता।

जो जीव यथार्थ तत्त्वोंका विचार करता है और यथार्थ स्वभावका निश्चय करना चाहता है उसे नवतत्त्वोंकी श्रद्धा निमित्तभूत होती है, किन्तु निर्विकल्प एकाकार ध्रुवरूपसे ज्ञायक वस्तुकी निर्मल श्रद्धा न करे तो शुभभावसे मात्र पुण्य होनेसे बाह्य फल देकर छूट जाता है। व्यवहारनयाश्रित निमित्त सम्बन्धी जो वृत्ति उद्भूत होती उसकी शुभराग पर्यन्त मर्यादा है, किन्तु भेदका निषेध करके शुद्ध अखण्ड वस्तुकी यथार्थ दृष्टिसे अन्तरंगमें स्थिर हो तो भेदका लक्ष गौण होकर एकाकार पूर्ण स्वभावके लक्षसे निर्मल श्रद्धा प्रगट होती है, वहाँ उपचारसे नवतत्त्वोंकी श्रद्धा व्यवहारसे निमित्त कहलाती है। जहाँ निश्चयश्रद्धा नहीं होती वहाँ शुभ-व्यवहाररूप श्रद्धाको निमित्त भी नहीं कहा जाता।

नवतत्त्वोंके भेदको जानने वाला आत्मा ज्ञायकरूपसे त्रिकाल अखण्ड है। शुभाशुभ विकल्पकी जो वृत्ति उत्पन्न होती है उसका ज्ञायक-स्वभावमें अभाव है। मैं अखण्ड एकरूप ज्ञायक हूँ, इसप्रकार निर्विकार निरावलम्बी निरपेक्ष स्वभावको एकरूपसे श्रद्धाका विषय बनावे तो

उसका अवलम्बन नहीं है। किसी मंजिल पर चढ़ते हुए जीनेकी सीढ़ियों पर पैर रखते हैं और दीवालका सहारा लेते हैं किन्तु वह छोड़नेके लिये ही होता है; इसीप्रकार यथार्थ स्वरूपके विरोधसे रहित निर्णय करनेके लिये शुभविकल्पमें लगना पड़ता है सो व्यवहार है, किन्तु खेद है कि निमित्ताश्रित भेदमें रुकना पड़ता है। परमार्थमें जाते हुए बीचमें तत्त्वके विकल्पका आँगन आता तो है किन्तु उसे लेकर आगे नहीं बढ़ा जाता। अपने बलसे जब स्वयं उसे लाँघ जाता है तब वहाँ जो विकल्पका अभाव है सो निमित्त कहलाता है। जब मंजिल पर चढ़ने वाला कूदकर अन्तिम सीढ़ीको छोड़ देता है तब यह कहा जाता है कि जो छूट गया है वह निमित्त था; इसीप्रकार अनादिकालसे पराश्रयरूप व्यवहारकी पकड़से राग-द्वेष, पुण्य-पाप, परका स्वामित्व-कर्तृत्व मान रहा था वहाँसे कुलांट खाकर अखण्ड अविकारी निरावलम्बी स्वभावके बलसे विकल्पका अंश टूटकर प्रारम्भके तीन गुणस्थानोंको लांघकर सीधा चौथे गुणस्थानमें पहुँचता है।

विकारका नाशक स्वभाव नित्य एकरूप ज्ञायक है, उसका ऐसा स्वरूप नहीं है कि विकारमें अटक जाये। आचार्यदेव कहते हैं कि जीवको परमार्थमें ही जाना है तथापि नवतत्त्वके और गुण–गुणीके भेदविचार और शुभविकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता, तथापि वह कोई प्रयोजनवान नहीं है। जैसे कोई माल-मिठाई लेते समय उसकी किस्म तय की जाती है, भाव तय किया जाता है और फिर तौल कराई जाती है; इसप्रकार लेते समय यह सब कुछ करना पड़ता है, किन्तु माल लेनेके बाद उसे खाते समय (स्वाद लेते समय) तराजू बाँट और भाव इत्यादि साथमें नहीं रखे जाते, इसीप्रकार परमार्थस्वरूप आत्माका निर्णय करनेके लिये पहले जीवादि नवतत्त्व क्या है यह जाननेका तथा विकल्परहित यथार्थ तत्त्व क्या है इसका माप करनेका विचार गुरुज्ञानसे यथावत् करना पड़ता है, किन्तु उसके एकरूप अनुभव-स्वादके लिये नवतत्त्व और माप लेनेका विकल्प आदि सब छोड़ देना पड़ता है, क्योंकि उस शुभ विकल्पसे आत्मानुभव प्रगट नहीं होता।

वास्तविक सम्यक्दर्शन ही धर्मका प्रथम प्रारम्भ है। यदि नवतत्त्वका यथार्थ ज्ञान न करे तो आत्माका पूर्ण स्वभाव ज्ञात नहीं होगा। जीवादिक नवतत्त्वोंको यथावत् शुद्धताके लक्षसे जानना सो व्यवहार है। अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव और बंध एकदम त्याज्य हैं, तथा शुद्ध, जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष व्यवहारसे आदर योग्य हैं। ऐसा व्यावहारिक यथार्थ विवेक करने पर शुभभाव होता है। नवतत्त्वोंको यथार्थतया जाने तो वह सम्यक्दर्शनके लिये हस्तावलम्बन—आधार कहलाता है। उस अवस्थाके आधारसे सम्यक्दर्शन नहीं होता किन्तु वह पुरुषार्थसे होता है। जो इतना नहीं समझता वह धर्मके निकट भी नहीं पहुँच पाया, ऐसा समझे बिना धर्म नहीं होता। धर्म तो मन और इन्द्रियोंसे परे (बिल्कुल भिन्न) मात्र अन्तरंग ज्ञानदृष्टिसे अनुभवगम्य है। उसकी प्रतीति करनेसे बाह्यदृष्टि एवं दशा बदल जाती है। प्रतीति करना सर्वप्रथम कर्तव्य है, वह चतुर्थ गुणस्थान सम्यक्दर्शन है, उसीसे धर्मका, आनन्दका प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् श्रावक और मुनिदशा होती है और अंशतः निर्मलता–स्वरूपस्थिरता होती है, जो कि बहुत ऊँची बात है।

विशेष ज्ञान करनेके लिये नवतत्त्वोंके विचारमें रुकना पड़ता है, इसका भी आचार्यको खेद है। किन्तु जिसे यही खबर नहीं है कि सच्चे देव-गुरु कौन हैं और मिथ्या कौन हैं उनकी तो यहां बात ही नहीं है। जो सच्चे देव-गुरुका विपरीत स्वरूप मानते हैं, पुण्यसे धर्म करते हैं, पापसे बचनेके लिये जो पूजा-भक्ति इत्यादिके शुभभाव होते हैं उस पुण्यबंधके कारणको (आस्रव तत्त्वको) गुणका कारण मानते हैं अथवा पापकी अशुभ भावनाको धर्म मानते हैं और आकुलतामें सुख मानते हैं उन अज्ञानियोंको तो व्यवहारसे भी नवतत्त्वोंकी खबर नहीं है।

देह पर दृष्टि रखकर क्रियाकाण्ड-तपस्या करे और यह माने कि मैंने कष्ट सहन किया है, तथा एक ओर तो उस कष्ट सहनेका खेद करे और दूसरी ओर उसमें धर्म माने कि अहो! धर्म बहुत कठिन है, लोहेके चने चबानेके समान है। और यह माने कि-मैंने बहुत कष्ट सहन किया है इसलिये बहुत धर्म हुआ है, किन्तु उसमें जो खेद होता है वह अशुभभाव है, आर्त्तध्यान है, पाप है। जीवकी अंतरंग महिमा ज्ञात नहीं हुई और यह मालूम नहीं हो सकता कि वास्तविक शुभ क्या है इसलिये समझे बिना तपस्या उपवास आदिमें लगा रहता है और तज्जन्य खेद-अरुचि-उपेक्षाको धर्म मानता है, आकुलता और अनाकुलताकी प्रतीतिके बिना हठ, कष्ट एवं अशुभभावसे किये गये क्रियाकाण्डमें धर्म मानता है और यह मानता है कि अधिक कष्ट होगा तो अधिक धर्म होगा; किन्तु धर्म तो आत्माका पूर्ण निराकुलस्वभाव है, उसमें दुःख हो नहीं सकता और जहाँ दुःख है वहाँ धर्म नही है। धर्म सुख-शान्ति देने वाला हो या दुःख देने वाला हो, वह निजमें हो या परमें हो इसकी जिसे खबर नहीं है वह परको देखता है और यह मानता है कि शरीर अधिक सूख गया है इसलिये धर्म बहुत हुआ है। इसप्रकार बाह्यमें दुःख पर खेद प्रगट करके उल्टा असातावेदनी कर्मकी उदीरणा करता है।

आत्माके जिस भावसे शुभाशुभ विकारका भाव रुकता है वह संवर है; पंच महाव्रतादिके शुभभाव आस्रव (नवीन कर्मबन्धका

कारण) है। जो उसे धर्म मानता है उसे व्यवहारसे भी नवतत्त्वोंका ज्ञान नहीं है। पापमें प्रवृत्त न होनेके लिये शुभभावका होना ठीक है, किन्तु यह बात त्रिकाल असत्य है कि शुभ विकारसे धीरे-धीरे सम्यक्दर्शन इत्यादि गुण प्रगट होते हैं।

जिसे यथार्थ आत्मस्वरूपका अनुभव–आत्मसाक्षात्कार करना है, निर्विकल्प श्रद्धाके विषयमें स्थिर होना है उसे पहले तो नवतत्त्वोंको और देव, शास्त्र, गुरुको यथार्थतया जानना होगा किन्तु उसी समय यह ध्यान रखना होगा कि उस विकल्पसे (भेदके लक्षसे) सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं होता। व्यवहाररूप भेद–अभेदका कारण नहीं होता। जिसे यथार्थ आत्महितकी खबर नहीं है और जिसे नवतत्त्वोंके नाम तक नहीं आते उसे आत्मस्वरूपकी प्रतीति अथवा आत्माका धर्म कहाँसे प्राप्त हो सकता है?

मनके सम्बन्धसे, विकल्पसे, नवतत्त्वोंका यथार्थ विचार करनेके बाद अवस्थाके भेदके लक्षको गौण करके पूर्णरूप शुद्धात्माकी ओर [illegible] होकर, मनसे भी किंचित् पृथक् होकर अखण्डकी श्रद्धाके विषयमें स्थिर हो और निरावलम्बी, असंग, अविकारी, ज्ञायकस्वरूपके [illegible] श्रद्धा लाये सो यथार्थ सम्यक्दर्शन है। [illegible] करनेका यह एक उपाय है। विपरीत ज्ञानको दूर करनेके [illegible] स्थिर न हुआ जा सके वहाँ तक अशुभसे बचनेके लिये [illegible] विशेष ज्ञानकी निर्मलता करनेके लिये [illegible] है, किन्तु ज्ञानी उस भेदका आदर करके [illegible] नहीं है। [illegible] कहा गया है कि मात्र नवतत्त्वकी भेदरूप [illegible] है। चिदानन्द पूर्ण स्वरूपकी यथार्थ प्रतीतिपूर्वक [illegible] होता है, किन्तु [illegible] है।

[illegible]

किन्तु उसके दुःखका तो पार नहीं होता और जिससे अविनाशी हित होता है उसकी वह चिन्ता नहीं करता।

आचार्यदेवने परम अद्भुत रहस्यको प्रगट कर दिया है। जिसे इस अपूर्व वस्तुका भान नहीं है वह उसका विचार कहाँसे करेगा? यदि सावधानीके साथ तत्त्वाभ्यास न करे तो फिर होनेका कहीं भी ठिकाना नहीं मिल सकता, वह तो मात्र परिभ्रमण ही करता रहेगा। गत अनन्तकालमें एक क्षणभरको भी यथार्थ सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हुआ। वस्तुका यथार्थ निर्णय करनेके लिये उसका अधिक समयका अभ्यास और यथार्थ श्रवण होना चाहिये। एकाधबार थोड़ा-बहुत सुनकर चले जानेसे दोनों अपेक्षाओंका मेल नहीं बैठता। यदि अपनी बुद्धिसे एक अपेक्षासे अर्धसत्यको पकड़ रखे तो यथार्थ रहस्य समझमें नहीं आ सकता। जैसे किसी महिलाने अपनी पड़ौसिनके बच्चेको जीने पर चढ़ते हुए देखकर कहा कि 'यदि गिरेगा तो मर जायेगा,' उस बालककी माँ ने इतना ही सुना कि 'मर जायेगा' और इस अधूरी बातको सुनकर वह अपनी पड़ौसिनसे लड़ने लगी कि तूने मेरे बालकसे मरनेकी बात क्यों कही? उत्तरमें उस महिलाने कहा कि तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी, मैंने तो यह कहा है कि यदि 'गिर जायगा तो मर जायेगा' और इसप्रकार मैंने तुम्हारे बालकसे मरनेकी नहीं किन्तु जीनेकी बात कही है, तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी इसमें तुम्हारी ही भूल है। इसीप्रकार पूर्वापर विरोधसे रहित सर्वज्ञ वीतरागके वचनोंमें क्या कथन है उसे भलीभाँति सम्पूर्ण सुनकर न्यायको संधिपूर्वक न समझे और एक ओरकी ही अपूर्ण एकान्त बातको पकड़ रखे तो विरोधका होना स्वाभाविक ही है।

जिसे व्यवहार तत्त्वकी भी कोई खबर नहीं है और पुण्य-पापरूप आस्रवको जो नहीं समझता वह उससे भिन्न संवर-निर्जरारूप धर्मको भी नहीं समझ सकता। जहाँ प्रथम व्यवहारमें ही भूल हो वहाँ परमार्थके आंगन तक कहाँसे आ सकता है? परमार्थसे तो शुभास्रवभाव भी त्याज्य हैं; नवतत्त्वके भेद-विकल्प भी परमार्थदृष्टिसे

त्याज्य हैं। नवतत्त्वोंकी श्रद्धाको परमार्थ नहीं कहा है तथापि बीचमें हस्तावलम्बनकी भाँति आ जानेसे उसमें रुक जानेका खेद है। सीधा ही परमार्थमें जा सकता हो तो व्यवहारमें रुकनेकी कोई बात नहीं है।

भावार्थः—आत्माकी निर्मल श्रद्धा होनेके बाद श्रद्धाके लिये नवतत्त्वोंके विकल्परूप व्यवहारका कोई प्रयोजन नहीं रहता। निश्चय-श्रद्धाके साथ आंशिक स्वरूपाचरण चारित्रके प्रगट होने पर फिर श्रद्धाके लिये अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं होता। व्यवहारसे नवतत्त्वोंको जानकर शुभभाव करे और उस शुभ व्यवहारमें लगा रहे तो उसे परमार्थसे कोई लाभ नहीं होता।

अब निश्चयसम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं:—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥ ६ ॥

[आचार्यदेवने सर्वज्ञ वीतरागके कथनका रहस्य प्रकाशित करके जगतके समक्ष प्रस्तुत किया है। किसीको यह बात जम सकती है अथवा नहीं भी जम सकती। सब अपने-अपने भावमें [illegible] करनेके लिये स्वतंत्र हैं। उसको स्वीकार या अस्वीकार करनेके लिये भी सब स्वतंत्र हैं। प्रभु! तेरी अशुद्धताकी विपरीतता भी [illegible] है। श्रीमद् राजचन्द्रने लिखा है कि—" भगवान परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न कहलाते हैं, तथापि उनमें भी कुछ कम अपलक्षण नहीं हैं" [illegible] आत्माको संबोधित करके पुरुषार्थ करनेको कहा है।]

कोई कर्मके संयोगमें रत होकर यह माने कि रागादिक मेरे हैं, करने योग्य हैं, और मैं परका कर्ता हूँ, तथा [illegible] स्वीकार करे तो उसे स्वीकार करानेके लिये कोई समर्थ नहीं है। कोई ऐसा लिखता है तो उसमें भी वह स्वतंत्र है। जैसे [illegible]

कोई वणिक अपनी दूकान लेकर जाता है तो उसे ऐसी शंका कदापि नहीं होती कि मैं इन सब अछूतोंके साथ एकमेक हो गया हूँ? उसके मनमें यह निःशंक निर्णय होता है कि मैं अग्रवाल अथवा श्रीमाली वणिक ही हूँ इसी प्रकार मैं आत्मा पुण्य-पापरूप विकारका नाशक, स्वरूपका रक्षक, अखंड अविकारी स्वभावका स्वामी हूँ, विकल्प-संयोगका स्वामी नहीं हूँ, मैं संयोगमें एकरूप नहीं हो जाता। ऐसी यथार्थ श्रद्धा होनेके बाद वर्तमान पुरुषार्थसे वीतरागी अबन्ध ही हूँ। आत्मा अछूत-हरिजन अथवा वणिक नहीं है, तथा आत्मा सधन अथवा निर्धन नहीं है, वह तो मात्र ज्ञायकस्वभाव ही है।

परसे भिन्नरूप सिद्ध-परमात्माके समान पूर्ण पवित्र आत्मामें परमार्थसे एकत्वका निर्णय करना सो उसे भगवानने सम्यक्दर्शन कहा है। जिसके अविकारी अखण्डके बलसे एकबार ही आंशिक निर्मलदशा प्रगट हो गई है वह बारम्बार निर्मल एकत्वस्वभावमें एकाग्रताके बलसे पूर्ण निर्मलदशा प्रगट करता है।

और यह परसे भिन्न आत्मा कैसा है? पूर्ण ज्ञानानंदघन है। उसमें विकल्प पुण्य-पापकी रज प्रवेश नहीं कर सकती। जैसे निहाई (एरन) में लोहेकी कील प्रवेश नहीं कर सकती उसीप्रकार निर्मल, एकरूप, ज्ञानघन आत्मामें पुण्य-पापकी क्षणिक वृत्ति प्रवेश नहीं कर सकती। विकल्पका उत्थान निमित्ताधीन अवस्थासे होता है, जो क्षणिक है। त्रिकाल एकरूप ध्रुवस्वभाव परमार्थमें विकारके प्रवेशको [illegible] मात्र अवकाश नहीं है।

प्रथम ज्ञानमें पूर्ण है, कृतकृत्य परमात्मा ही है, [illegible] उसमें कोई विकारकी प्रवृत्तिका स्वामित्व नहीं होने [illegible] पुरुषार्थकी असक्तिके कारण शुभाशुभ वृत्ति होती है, [illegible] शुभमें प्रवृत्त होता है किन्तु [illegible] है। [illegible] (परावलम्बन) [illegible] है। [illegible] है रक्षक नहीं और [illegible]

किन्तु उसका नाश करना है, इसीप्रकार मेरा अखण्ड ज्ञायकस्वभाव एक-रूप सतत ज्ञायकस्वरूप है, किसीमें अच्छा-बुरा मानकर रुकनेरूप नहीं है। ऐसे वीतरागी भावकी प्रतीतिके बलमें रागका स्वामित्व-कर्तृत्व नहीं है, तथापि पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण जो राग होता है उसे मात्र जानता है किन्तु करने योग्य नहीं मानता। विकल्पको तोड़कर स्थिर होना चाहता है, और यह मानता है कि अखण्डस्वभावके बलसे अन्तरोन्मुख होना ही उसका उपाय है, विशेष स्थिरता होने पर अशुभ-राग टूटकर सहज ही व्रतादिक आते हैं उसमें जितना राग दूर होता है उतना ही गुण मानता है और जो राग रहता है उसका किंचित्‌मात्र भी आदर नहीं करता।

सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कथित न्यायानुसार नव तत्त्वोंको जानकर परसे और विकारसे आत्मा भिन्न है, उसे शुद्धनयसे जानना सो सम्यक्-दर्शन है जो कि अनन्तकालमें जीवने कभी भी प्रगट नहीं किया। उससे रहित पुण्यभावमें मिथ्यादर्शनका महा-पाप बन्धता है। भक्ति, पूजा, दान, व्रत, तप, त्यागमें रागको कम करे तो पुण्यबन्ध होता है, जिसके फलसे कभी बड़ा राजा अथवा निम्नकोटिका देव होता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील इत्यादिके अशुभभाव करनेसे पाप-बन्ध होता है, जिसके फलसे तिर्यंच और नरक इत्यादि गतिमें परिभ्रमण करता है। पुण्य-पापकी उपाधिसे रहित अविकारी, असंग, एकरूप स्वभावकी श्रद्धा और स्व-परके भेदरूप ज्ञानके विना सच्चा चारित्र नहीं हो सकता और वीतराग चारित्रके विना केवलज्ञान या मोक्ष नहीं हो सकता।

जितना सम्यक्‌दर्शन है उतना ही आत्मा है। जितनेमें मिठास है उतनेमें मिश्री है, इसी प्रकार पूर्णरूप शुद्ध आत्माको लक्षमें लेनेवाला सम्यक्‌दर्शन उतना ही है जितना आत्मा है, क्योंकि वह (सम्यक्‌दर्शन) आत्मामें आत्माके आधारसे है, मन, वाणी, देह अथवा पुण्य-पापकी शुभाशुभ वृत्तिके आधार पर अवलंबित नहीं है। यदि कोई मात्र शास्त्रसे आत्माकी बातको मनमें धारण कर ले

तो वह भी सम्यक्दर्शन नहीं है। पूजा, भक्ति, व्रतादि तथा नवतत्त्वोंके शुभभावकी वृत्ति करे तो भी वह संयोगाधीन क्षणिकभाव है–कृत्रिम भाव है, वह शाश्वत, अकृत्रिम, अविकारी, एकरूप, ज्ञायकस्वभावका नहीं है। कुछ भी करने–धरनेकी हाँ या नाके रूपमें जितनी वृत्ति उत्पन्न होती है वह सब उपाधिभाव है, उस उपाधिभावके भेदसे रहित यथार्थ श्रद्धा सम्पूर्ण आत्माके स्वरूपमें फैली हुई है, आत्मासे भिन्न नहीं है। ऐसे निरुपाधिक शुद्ध पूर्ण स्वभावका जो निश्चय किया गया उसे सर्वज्ञभगवानने सम्यक्दर्शन कहा है।

आचार्यदेव प्रार्थना करते हैं कि "इस नवतत्त्वकी परिपाटीको छोड़कर, हमें यह एकमात्र आत्मा ही प्राप्त हो।" अन्यत्र रुक जाना हमें नहीं पुसाता। उसे नवतत्त्वके विचारमें मनके [illegible] विकल्प करनेमें रुक जाना भी ठीक नहीं है। आत्माका [illegible] नहीं है कि नवतत्त्वके विकल्पसे उसका पता पड़ सके। [illegible] अपनी कल्पनासे शास्त्र पढ़े अथवा चाहे जितने [illegible] किन्तु अन्तरंगका मार्ग गुरुज्ञानके बिना हाथ नहीं आता। [illegible] निःसंदेह ज्ञान जब स्वयं करे तब स्वतः होता है, [illegible] गुरुज्ञान होना आवश्यक है।

आत्मामें मात्र आनन्द भरा हुआ है। [illegible] सावधानीपूर्वक स्थिर होना सो निर्विकल्प [illegible] है। [illegible] आनन्द है। जो [illegible] धर्म मानता है [illegible] महापाप" [illegible] [illegible] कहता है कि [illegible] है। [illegible] [illegible]

और द्वेष भाव है, उससे धर्म नहीं होता, पुण्य भी नहीं होता।

प्रश्नः—[illegible] कर मरण करने पर भी धर्म नहीं हुआ?

उत्तरः—हे भाई! देहकी क्रियासे धर्म या क्या, किन्तु पुण्य पाप भी नहीं होता। मात्र अपने परिणामोंको सुधारे और कषायको सूक्ष्म करे उतना शुभभाव होता है, उस भावसे पुण्य होता है धर्म नहीं। पर सम्बन्धी विकल्पको छोड़कर स्वरूपमें स्थिर होना सो निराकुल स्थिरता है और उसीमें सुख है। परसे किसीको कष्ट नहीं होता किन्तु परके ऊपर जितना राग करता है उतना ही दुःख होता है।

प्रश्नः—तपस्या न की जाये तो क्या लड्डू खाकर मोक्ष जाया जा सकता है?

उत्तरः—कोई (आत्मा) लड्डू खा ही नहीं सकता। अज्ञानी जीव लड्डूके रागकी आकुलताको भोगता है और ज्ञानी निराकुल स्वभावके लक्षमें अपने परिणामका माप निकालता है। शरीरकी अनुकूलता या प्रतिकूलता पर लक्ष नहीं है। अखण्ड स्वभावकी रुचिके मंथनमें आहारकी इच्छा सहज टूट जाती है, इसप्रकार इच्छाका निरोध करके, स्वरूपमें लीन होना सो भगवानने तप कहा है वही तप मोक्षका कारण है। जो उसे कष्टदाता मानता है वह धर्मका-स्वभावका अनादर करता है, उसे वीतराग कथित नवतत्त्वोंकी व्यवहारसे भी श्रद्धा नहीं है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि यथार्थ नवतत्त्वोंकी परिपाटीकी पकड़में लग जाना नहीं पुसाता। जो परमार्थतत्त्वको समझनेके लिये तैयार होकर आया है उसे इतनी व्यवहार-श्रद्धाकी खबर तो होगी ही ऐसा मान लिया है। यहाँ तो व्यवहारके भेदको उलंघन कर जानेकी बात है। मात्र व्यवहारतत्त्वसे और पुण्यसे धर्म मनवाने वाली दुकानें बहुत-सी हैं। जैसे कालेज वाले यह समझ लेते हैं कि यहाँ पढ़नेको आने वाले पहली कक्षासे लेकर मैट्रिक तक तैयार होकर ही आये हैं, उसी प्रकार अनन्त जन्म-मरणको टालनेके लिये जो परमार्थतत्त्वके निकट आया है उसे नवतत्त्वोंके यथार्थ ज्ञानकी खबर तो

होनी ही चाहिये। यह धर्ममार्गकी सर्वप्रथम इकाईकी बात है। सर्व प्रथम वास्तविक इकाई निश्चयसम्यक्‌दर्शन है।

कितने लोग यह कहते हैं कि समयसारमें बहुत ही उच्चकक्षाकी बात है, उसे समझने या उसका परिचय प्राप्त करनेसे इन्कार करते हैं; किन्तु सर्वप्रथम धर्मका मूल्य परमार्थ सम्यक्त्व क्या है, यह पूर्वापर विरोध रहित समझना हो तो उसके लिये यह बात है।

अनन्तकालमें स्वरूपको पहिचाननेके अतिरिक्त आत्मा अन्य सब कुछ कर चुका है। "पहले जो कभी नहीं समझा था वह परमार्थ स्वरूप कैसा है" यही समझनेके लिये जो आये हैं उन्हें आचार्यदेव कहते हैं कि—यथार्थ नवतत्त्वोंके शुभ विकल्पकी प्रवृत्तिसे छूटकर इस ज्ञानानन्द अविकारी आत्माकी प्राप्ति करो। परसे भिन्न और निजसे अभिन्न स्वभावकी श्रद्धा-ज्ञान प्राप्त करो।

भावार्थः—सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप त्रैकालिक गुण-पर्यायके भेदोंमें व्याप्त यह आत्मा एकाकार ज्ञायकरूपसे शुद्धनयसे बतलाया है, उसे सर्व अन्य द्रव्योंसे तथा अन्य द्रव्यके निमित्तसे होने वाले विकारी भावोंसे भिन्न देखना और अनुभव सहित यथार्थरूपमें श्रद्धा करना सो नियमसे सम्यक्‌दर्शन है। भगवान आत्मा परसे निराला त्रिकाल स्वभावसे निर्मल ही है, वर्तमान प्रत्येक समयकी अवस्थामें वर्णित संयोगकृत अपेक्षासे अशुद्धताका अंश है उसे देखने-वाली व्यवहारदृष्टिको गौण करके त्रैकालिक एकाकार सामान्य ज्ञायक-स्वभावको शुद्धनयसे अपने एकत्वमें निश्चित किया गया है अर्थात् निःशंक श्रद्धा की गई है और यही जन्म मरणको दूर करनेका निश्चय उपायरूप प्रथम सूत्र है। (सूत्र = धागा)

सम्यक्त्वके जो विचार आते हैं उनके [illegible] अलग-अलग आचार्यों और [illegible] व्यवहारसे सम्यग्दर्शनके अनेक भेद-रूप कहा है, यहाँ [illegible] ([illegible]) जाना है, [illegible] नहीं

निवृत्ति नहीं है तो यह झूठा है। यदि सच पूछा जाय तो इसी समय सर्व सुयोग हैं, क्योंकि आत्मा वर्तमानमें अन्तरंगके सर्व साधनोंसे परिपूर्ण है। अन्तरंग साधनसे ही सब कुछ हो सकता है। देह, मन, वाणीकी प्रवृत्तिरूप आत्मा नहीं हो गया है, नरकमें भयंकर प्रतिकूलताओंके संयोगमें रहने पर भी आत्मामें कोई प्रतिकूलता नहीं आ गई है, ऐसी प्रतीति करके वहाँ भी प्रतिकूलताके संयोग होने पर भी आत्मा शांति भोग सकता है। अनन्त जन्म-मरणका नाश करने वाले यथार्थ सम्यक्दर्शनको प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका वास्तविक कर्तव्य है, यही मोक्षका बीज है।

शुद्धनय पूर्ण केवलज्ञान स्वरूपको परोक्ष दिखाता है। यदि पहले परोक्ष प्रतीति न करे तो प्रत्यक्ष प्रतीति भी न हो। जो यह कहता है कि जो कुछ अपनी आंखोंसे देखा जाय वही मानना चाहिये, तो यह नास्तिक है। अनुभवसे तो प्रत्यक्ष है ऐसा ज्ञानी कहते हैं; किन्तु जो यह कहता है कि मैं तो प्रत्यक्ष देखने पर ही मानूँगा तो वह नास्तिक ही है, क्योंकि पूर्ण प्रत्यक्ष होनेके बाद माननेको क्या शेष रह जाता है।

इस समयसार शास्त्रमें किसी वस्तुका स्वभाव शेष नहीं है। "ग्रन्थाधिराज तुझमें हैं भाव ब्रह्माण्डके भरे"। विश्वकी जितनी विपरीत मान्यताएँ हैं वे सब और स्वभावकी ओरकी अनुकूल मान्यताएँ एवं तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रश्नोंका स्पष्टीकरण इस महान ग्रन्थमें है। धैर्यपूर्वक अपूर्व पात्रताके द्वारा सुने, क्रमशः श्रवण-मननकी पद्धतिसे अभ्यास करे तो कुछ कठिन नहीं है। इस समय तो लोगोंने बाह्य क्रियामें और पुण्य-पापकी प्रवृत्तिमें धर्म मानकर और मनवाकर [illegible] शास्त्रको छिन्न-भिन्न कर डाला है, और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सम्यग्दर्शन सम्बन्धी कहीं है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करना चाहिये।

जाने। जैसा सर्वज्ञ भगवानका पूर्ण स्वभाव है वैसा ही परमार्थसे प्रत्येक आत्माका स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा शुद्धनयके आश्रयसे होती है। यह बात चौथे श्लोकमें टीकाकार आचार्यने कही है:—

> अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
> नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् शुद्धनयाधीन जो सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, पर-निमित्तके विकारी भावोंसे भिन्न तथा मनके विकल्पोंसे परे ऐसी चैतन्य-चमत्कार मात्र आत्मज्योति है सो प्रगट होती है, क्योंकि वर्तमान अवस्थामें नवतत्त्वोंके विकल्पोंमें व्यवहारसे अटकने पर अनेक प्रकारसे दिखाई देती है, तथापि शुद्धनयसे देखने पर अपने एकरूप ध्रुवस्वभावको नहीं छोड़ती। इसप्रकार आत्माको परिपूर्ण माने और न्यायसे बराबर जानकर शुद्धनयके द्वारा पूर्णस्वभावकी श्रद्धा करे तो विकारका नाश, निर्मल अवस्थाकी उत्पत्ति और अल्पकालमें मोक्षको प्रगट करनेका सच्चा कारणभूत निश्चय-सम्यक्दर्शन प्रगट होता है।